

संस्थापक : दूधनाथ सिंह : 1975



प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

अंक : 13

जुलाई, 2012

संपादक

विनोद तिवारी

सहायक संपादक

तेजभान

अक्षर संयोजन

कॉम्पैक्ट प्रिन्टर्स

ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आवरण : तैल चित्र : दाउ एण्ड दाउ (तू ही तू)/ हेमराज (कुमार अनुपम के सौजन्य से)

मूल्य

एक प्रति : 50 रुपये

सदस्यता

चार अंकों के लिए : 200 रुपये

संस्थाओं के लिए : 300 रुपये

पंचवार्षिक : 500 रुपये

दस वार्षिक : 1000 रुपये

आजीवन : 2500 रुपये

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक विनोद तिवारी, बी-2, तीसरी मंजिल, महेन्द्रू एन्क्लेव, स्टेडियम रोड, दिल्ली-110033 के लिए दिव्या ऑफसेट प्रिन्टर्स, बी-1422, न्यू अशोक नगर, मयूर विहार, दिल्ली-96 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

सम्पर्क

बी-2, तीसरी मंजिल, महेन्द्रू एन्क्लेव

स्टेडियम रोड, दिल्ली-110033

फ़ोन : 011-27240496

मो. : 09560236569

ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com

PAKSHDHAR

A Literary bi-annual Magazine

Editor : Vinod Tiwari

Language : Hindi

ISSN : 2231-1173

अनुक्रम

सम्पादकीय	
साहित्यिक पत्रकारिता का वर्तमान	5
एक कवि : एक राग	
राजेश जोशी की कविताएँ	9
व्याख्यान	
उदार लोकतन्त्र : कुछ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य/ हरबंस मुखिया	20
विशेष	
दो कहानियाँ/ चन्दन पाण्डेय	29
धरोहर	
विष्णु प्रभाकर के पत्र/ रामशंकर द्विवेदी	35
कहानी	
ब्लेड/ श्रीकांत दूबे	51
मुक्ति दंश/ ज्योति कुमारी	56
स्मृति-शेष	
कविता एक प्रति संसार की रचना करती है/ भगवत रावत से आशीष त्रिपाठी की बातचीत	65
आलेख	
मार्क्सवाद का प्रेत : निवारण के उपाय/ याक दरीदा	97
भारत में भाषायी अस्मिता का आरम्भ और विकास/ बसंत त्रिपाठी	121
मार्क्सवाद और हिन्दी दलित आत्मकथाएँ/ जितेन्द्र विसारिया	133
किस्से-कहानियों में हैं जिनके घर/ अतुल कुमार सिंह	140

कविता

छः कविताएँ/ मनोज कुमार झा	151
दो लम्बी कविताएँ/ कुमार अनुपम	154
तीन कविताएँ/ बंदना शर्मा	169
तीन कविताएँ/ अशोक गुप्ता	173

साहित्य का नोबेल

कल्पना और यथार्थ के अप्रतिम कथाकार मो येन/ अनिल राय	180
---	-----

पुनर्पाठ

अप्रकट करुणा के पक्ष में : ही भी किन्तु परन्तु रंगनाथ/ हिमांशु पंड्या	185
---	-----

पुस्तक समीक्षा

भुवनेश्वर समग्र : एक बेचैन जीनियस.../ विवेक श्रीवास्तव	199
भूमंडलीकरण बनाम राष्ट्र-राज्य का यथार्थ/ अरुणेश शुक्ल	204
फरेबी इश्क की दास्तान : चन्दन पांडेय की कहानियाँ/ प्रेमशंकर सिंह	213
स्त्री मुक्ति का पक्ष : इस उस मोड़ पर/ समीर कुमार पाठक	217
गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद/ जय कौशल	221

साहित्यिक पत्रकारिता का वर्तमान

कहा जाता है कि साहित्य के निर्माण और विकास में साहित्यिक-वातावरण का एक विशेष महत्व होता है। साहित्यिक-वातावरण जैसा होगा उस समय का साहित्य भी वैसा ही होगा। किसी भी देश और समाज में साहित्यिक-वातावरण का निर्माण करने वाले कारकों में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका निस्संदेह नेतृत्वकारी होती है। एक ओर पत्र-पत्रिकाएँ जहाँ साहित्यिक-वातावरण को बनाने और प्रचारित-प्रसारित करने का काम करती रही हैं तो दूसरी ओर उसे अनुशासित भी करती रही हैं। शुरू से ही साहित्यिक पत्रकारिता यह दोहरी भूमिका निभाती रही है। पर, इस समय यह सवाल है कि वर्तमान साहित्यिक पत्रकारिता कौन-सी भूमिका में है? साहित्यिक पत्रकारिता का वर्तमान क्या है? नवजागरण के दौर में साहित्यिक पत्रकारिता एक मिशन की तरह काम कर रही थी। आजादी के बाद शीत-युद्ध के जमाने में साहित्यिक-वातावरण साफ-साफ दो खेमों में बँटा हुआ था। साहित्यिक पत्रकारिता के मोर्चे दोनों खेमों की ओर से खुले हुए थे। बहस-मुबाहिसे, वाद-विवाद, सहमति-असहमति को एक चुनौती की तरह लिया जाता था। साहित्यिक और क्रियाशील दौर था। उसके बाद आपातकाल का दौर आता है जो कि निस्संदेह एक दृष्टि से पत्रकारिता के लिए निर्भीक साहसिकता का दौर था तो दूसरी दृष्टि से एक स्याह और संदेहकारी दौर। लघु-पत्रिका आंदोलन ने साहित्यिक पत्रकारिता के लिए नए तरह के अवसर पैदा किए। सांस्थानिक वर्चस्व और फायदे-नुकसान वाली पत्रकारिता से अलग एक जनतांत्रिक-स्व और रुझान के साथ सामूहिक सहकार के जज्बे वाली पहलकदमी। पर धीरे-धीरे यह दौरा-दौर खत्म हुआ। जो साहित्यिक बहस-मुबाहिसे का वातावरण बना था वह वातावरण कहाँ गया? सहमति-असहमति के जो सामानांतर मंच थे वे मंच कहाँ चले गए? कहीं ऐसा तो नहीं कि सहमति-असहमति का झगड़ा ही खत्म हो गया। तुम सहमत हो तो हम भी तुमसे सहमत हैं, तुम असहमत हो ठेंगे से। तुम अपने घर दाल-रोटी खाओ हम अपने घर। आज साहित्यिक पत्रकारिता की दिशा क्या है? उसका लक्ष्य क्या है? इस पर कुछ कहना

और बातचीत करना एक गैर जरूरी बहस लग सकती है ठीक वैसे ही जैसे आजकल अन्य मुद्दों और मसलों पर बातचीत करना गैर जरूरी मान लिया गया है। जो बहस करता भी है उसे अपरिपक्व मान कर यह कहा जाता है कि अभी उसके अंदर समझदारी विकसित नहीं हुई। दरअसल, ऐसी बहसें ऐसे मुद्दों पर बातचीत अब स्वयं को व्यावहारिक और परिपक्व कहने-मानने वाले लोगों के प्रतिकूल पड़ती हैं। इसका कारण है कि अब उन्होंने अपने अनुभव से यह जान लिया है कि समझदारी क्या है। इसलिए वे सबकुछ को टालते-छोड़ते जाने की सुरक्षित रणनीति अपनाते हैं। मूँदहु आँखि कतहुँ कछु नाहीं।

जिस तरह से साहित्यिक वातावरण के निर्माण में साहित्यिक पत्रकारिता की भूमिका निर्विवाद है उसी तरह साहित्यिक पत्रकारिता के लिए साहित्यिक वातावरण जिम्मेदार है। दोनों में अन्वोन्याश्रित सम्बन्ध है। अधीरता, अराजकता, घाल-मेल, छद्म महानता की निरर्थक आत्मगुधता, व्यक्तिवादी मैकेनिज्म, लोभ-लाभ की छिछोरी क्षुद्रताएँ, एक कातर और दयनीय समर्पण, सामूहिक-सहकार का न होना आज के साहित्यिक वातावरण का स्वभाव बन गया है। इसके लिए कोई एक कारक तत्व नहीं है बल्कि अनगिनत तत्व इसके कारक हैं। इन सबका प्रभाव जहाँ एक ओर साहित्यिक पत्रकारिता पर पड़ना लाजिमी है वहीं दूसरी तरफ उक्त वातावरण के निर्माण में साहित्यिक पत्रकारिता की भूमिका की भी पड़ताल होनी चाहिए। आज मोटे तौर पर साहित्यिक पत्रकारिता की चार तरह की कोटियाँ बनाई जा सकती हैं :

1. पहली कोटि उन पत्रिकाओं की है जो यथास्थिति को बरकार रखते हुए चलते चले जाने की निरंतरता में विश्वास रखती हैं।
2. दूसरी कोटि की पत्रिकाएँ वे हैं जो एक तरह का साहित्यिक-सांस्कृतिक धुंध फैला कर घालमेल करती हैं।
3. तीसरी तरह की पत्रिकाएँ वे हैं जो हिट होने के लिए तरह-तरह के बाजारू नुस्खे अपनाती हैं और सेंसेशन फैलाती रहती हैं।
4. चौथी कोटि उन पत्रिकाओं की है जो अपने को सर्वोच्च मानकर व्यक्तिवादी साहित्यिक अहंवाद के चलते एक खास तरह के मैनेरिज्म का शिकार हो जाती हैं।

पहली श्रेणी में अधिकांश वे संस्थानिक पत्रिकाएँ हैं जो सांस्थानिक और सांगठनिक हैं और जो संस्थान व संगठन की नीतियों और मानदंडों पर निकलते चले जाने के लिए अभिशप्त हैं। जहाँ से जिससे जैसा भी जो मिले सबको परोसते रहना। दूसरी श्रेणी की पत्रिकाओं का लक्ष्य होता है घालमेल करना। राष्ट्र, राष्ट्रीय साहित्य, कला-विमर्श, दर्शन और अध्यात्म इत्यादि को एजेंडे पर रखते हुए वे एक ऐसा साहित्यिक-सांस्कृतिक धुंध निर्मित करती हैं जिसमें वर्तमान और तात्कालिक मुद्दे ओझल बने रहें। जो तीसरी श्रेणी है उसमें सांस्थानिक और यदा-कदा झलक मारने वाली पत्रिकाएँ हैं। ये पत्रिकाएँ हिट होने के लिए कुछ भी करने को तैयार होती हैं। इधर सुना है कि एक पत्रिका ने ठेके पर लेखन कार्य शुरू कराया है। पत्रिका के संपादक के घर रात्रिभोज में लेखक और संपादक में साहित्यिक वर्तमान को लेकर चर्चा चलते-चलते खुद एक दूसरे की चर्चा-परिचर्चा पर केंद्रित हो जाती है। लेखक संपादक से कहता है कि तुमसे तो अब कहानी छूट गई। संपादक का पलट जवाब होता है कि छूटी तो वह तुमसे भी है, कौन-सा वह तुम्हीं से सध रही है। लेखक फनफना कर कहता है नहीं-नहीं, मैं तो अभी चाहूँ तो दर्जन भर कहानियाँ तुम्हारे मुँह पर मार सकता हूँ। संपादक इस अवसर को तुरंत पकड़ता है जाने नहीं देता। अगर ऐसी बात है तो लगी शर्त, तुम मुझे दर्जन भर कहानियाँ दो, मैं उन्हें हर महीने छापूँगा। बस बात पक्की। अब हर महीने कॉलम की तरह कहानी छप

रही है। किसको फिक्र है कि पाठक के ऊपर क्या बीत रही है। जो चौथी कोटि है पत्रिकाओं की वह अपनी सर्वोच्चता के व्यक्तिवादी अहम् में स्वयं के सम्मोहन से मुक्त नहीं हो पाती हैं। व्यवहार ऐसा अलोकतांत्रिक की पूछिए मत। ऐसी पत्रिकाओं के संपादक तरह-तरह के प्रपंच रचते छद्म बुर्जुआजी का खेल खेलते रहते हैं। वे एक खास तरह की 'टेरेटरी' बनाते हैं जिसमें धीरे-धीरे पत्रिका खुद एक तरह के मैनेरिज्म का शिकार हो जाती है। इस प्रकार अपना ही सत्य अपने ही विरोधी सत्य में दम तोड़ देता है।

इस बीच यह सुखद सूचना है कि 'पहल' का प्रकाशन फिर से हो रहा है। जब 'पहल' के बंद होने की घोषणा हुई थी तो खूब रोदन-मोदन हुआ था। मैं उन दिनों बनारस में था। मैंने अपने एक वरिष्ठ मित्र से पूछा था, "क्या आपको लगता है कि ज्ञान जी बिना 'पहल' के जी सकेंगे?" जैसा कि उनकी आदत है वह प्रश्न का जवाब प्रश्न में ही देते हैं। कहा था, "आपको क्या लगता है कि 'पहल' हमेशा के लिए बंद हो जाएगी?" "मैं भी तो यही जानना चाहता हूँ," मैंने कहा। "तो जो आप जानते हैं उसको मुझसे क्यों कहलवाना चाहते हैं।" उनका जवाब था। दरअसल, उन मित्र से मैंने उसी समय कहा था कि ज्ञान जी न तो 'पहल' को बंद कर पाएँगे और न ही उसे लंबे समय तक स्थगित रख पाएँगे। किसी दूसरे के हाथों तो सुपुर्द करने का सवाल ही नहीं उठता। वे एक थकान के बाद उसे पुनः शुरू करेंगे। थकान भी कैसी यह कह पाना मुश्किल है। हाँ, चलते-चलते उन मित्र ने एक बात कही—“थकान की बात तो मैं नहीं जानता पर ज्ञान जी इस समय पत्रिका को लेकर एक खास तरह की मेलानकोलिया के शिकार हो गए हैं। उससे जब उबरेंगे पत्रिका फिर से निकलने लगेगी।” उस समय तत्काल मैं उनकी बात समझ नहीं पाया था। वह कहा जाता है न कि “राजा की जान कहाँ बसती है, तो सुगों में।” 'पहल' और ज्ञान जी का कुछ ऐसा ही रिश्ता है। हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता और पाठकों के लिए निस्संदेह यह एक मुबारक सूचना है। हम 'पहल' के पुनः प्रकाशन का स्वागत करते हैं। परन्तु अचानक बंद करने और एक छोटे से अंतराल के बाद पुनः शुरू करने के पीछे कौन-सी मनःस्थिति थी/ है यह सवाल 'पहल' के पाठकों और उसको चाहने वाले लोगों के मन में अपनी जगह कायम है। क्योंकि हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में पहल ने जो मकाम कायम किया था यह सुनकर लोगों को तेज झटका लगा था कि 'पहल' पत्रिका अब बंद हो रही है।

मुझे याद है, नई सहस्राब्दि शुरू होने पर 'आलोचना' को पुनः शुरू किया गया, पुनर्नवा अंक निकला। नामवर जी ने बड़ी ही ऐतिहासिक जिम्मेदारी के साथ रणनीतिक ढंग से एक नए ढंग के उभरते फासीवादी वातावरण पर चोट करते हुए सम्पादकीय लिखा। नामवर जी से जब 'आलोचना' की इस नई पारी के सम्बन्ध पर पूछा गया था तो उन्होंने जो जवाब दिया वह काफी आश्चर्य से भरा स्पष्ट जवाब था, "अब अपने मुँह से कहना ठीक नहीं है, लेकिन मुख्य रूप से भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में राजग की सरकार जिस तरह से बनी और उसके बनने के बाद जिस तरह अमेरिकी साम्राज्यवाद से इस सरकार का गठजोड़ हुआ और जो नई आर्थिक नीतियाँ चलीं और उसके साथ-साथ शिक्षा, संस्कृति के क्षेत्र में सीधे हस्तक्षेप करते हुए उसे हिंदुत्व के रंग में रंगने की कोशिश हुई उसके फलस्वरूप मैंने देखा कि साहित्यकारों, संस्कृतिकर्मियों और बुद्धिजीवियों का वही तबका जो कुछ वर्षों से बिलकुल दबा हुआ था खुलकर सामने नहीं आ रहा था, आक्रामक मुद्रा में आ गया है। पहले वो सुरक्षात्मक लड़ाई लड़ रहे थे अब आक्रामक और कुछ उत्सव मनाने की मुद्रा में हैं कि हमारा जमाना आ गया है। यही नहीं बल्कि इस तरह कि पत्रिकाओं की संख्या बढ़ गई है। कुल मिलाकर लग रहा है कि लगभग

एक तरह से उसी की आवृत्ति हो रही है जो जर्मनी और इटली में 30 के दशक में हुई थी। तब पूरे यूरोप में फासिज्म की लहर आई हुई थी। तो मुझे कुछ-कुछ महसूस हुआ कि उसी की पुनरावृत्ति यहाँ नए वातावरण में हो रही है। यह महसूस तो इतिहास और राजनीति विज्ञान के लोग भी कर रहे थे लेकिन साहित्य में कोई नहीं कह रहा था कि फासिज्म है। आज भी बहुत लोग यह मानने को तैयार नहीं हैं कि जिस फासीवाद के विरुद्ध हमने यह अंक निकाला वह वजूद में है कि नहीं। इस पर भी लोग प्रश्नचिन्ह लगा रहे हैं। तो मैंने सोचा कि कम से कम यह सवाल तो उठाया ही जाना चाहिए कि यह खतरा है और दूर नहीं है बल्कि हमारे सामने है। मैं तो मानकर चलता हूँ कि 'आलोचना' के एजेंडा पर यह मुख्य मुद्दा है और जब तक 'आलोचना' निकलेगी हर अंक में इस पर कुछ न कुछ हम देते रहेंगे। मेरे सामने यही एक ही मुद्दा है और कोई मुद्दा नहीं है। साहित्य, संस्कृति की सारी समस्याएँ इसी के तहत हैं यह मैं मानकर चलता हूँ। यह संघर्ष तो लंबा है और चलेगा। एक दिन में खत्म होने वाला नहीं है। मुझे खासतौर से इसलिए लगा कि जो अन्य पत्रिकाएँ हैं जैसे उदाहरण के लिए 'सोशल साइंटिस्ट' में इस पर लगातार लिखा जा रहा है। देखकर आश्चर्य होता है कि 'सोशल साइंटिस्ट' में तो हो रहा है, 'फ्रंटलाइन' लगातार यह काम कर रही है लेकिन जो भाषाई पत्रकारिता है और साहित्यिक पत्रकारिता है उस मोर्चे पर जितना तीव्र संघर्ष होना चाहिए नहीं हो रहा। जहाँ तक वामपंथ और उसकी पार्टियों का प्रश्न है उनके सामने और भी बड़े मुद्दे हैं। मैं नहीं मानता कि वो साहित्य और संस्कृति को गौण समझते हैं। लेकिन यह है कि और भी मुद्दे हैं, दूसरे फोरम हैं, पार्लियामेंट है। जनता के बीच, जन संगठनों के बीच काम करने के लिए उनकी अपनी लड़ाइयाँ हैं और वे लड़ेंगे। लेकिन साहित्य संस्कृति में जो काम करने वाले लोग हैं उन्हें एक मंच पर लाकर इसके विरुद्ध और केवल नारे के रूप में नहीं बल्कि तथ्यों को सामने ले आना, उन तथ्यों का विश्लेषण करना और इस बीच जो साहित्य लिखा जा रहा है उसकी समीक्षा के माध्यम से बताना कि कहाँ-कहाँ यह प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, 'आलोचना' का काम होगा।"

निश्चित ही इस घोषणापत्र को एक सार्थक पारी का, सपने का घोषणापत्र माना जा सकता है। पर वही नामवर जी 'हंस' के सिल्वर जुबिली जलसे में बोलते हुए 'हंस' के साथ-साथ 'आलोचना' के क्षय को बयॉ कर चुके हैं। उस गोष्ठी में, जैसा कि नामवर जी का अंदाजे-बयॉ होता है, उन्होंने खरामा-खरामा वह सब कहा जो किसी बहाने से वे कहना चाहते थे। जो उनके अंदाज को समझते हैं, वह खूब समझते हैं। राजेन्द्र जी भी खूब समझ रहे थे- 'धोए गए हम ऐसे कि बस पाक हो गए।'

क्षमा किया जाय पर लब्बो-लुवाब यही है और यही साहित्यिक पत्रकारिता का वर्तमान है जो निश्चित ही निराशाजनक है। नए प्रश्नों, नए विचारों, नए आन्दोलनों, नई प्रवृत्तियों के नेतृत्वकारी उत्तरदायी भूमिका की दृष्टि से यह साहित्यिक पत्रकारिता का शून्य-काल है। कई मायनों में एक तरह का अवसाद-काल।

विनोद तिवारी

राजेश जोशी की कविताएँ

डायरी लिखना

डायरी लिखना एक कवि के लिए सबसे मुश्किल काम है।

कवि जब भी अपने समय के बारे में डायरी लिखना शुरू करता है
अरबी कवि समीह-अल-कासिम की तरह लिखने लगता है
कि मेरा सारा शहर नेस्तनाबूद हो गया
लेकिन घड़ी अब भी दीवाल पर मौजूद है।

सारी सच्चाई किसी न किसी रूपक में बदल जाती है
कहना मुश्किल है कि यह कवि की दिक्कत है या उसके समय की
जो इतना उलझा हुआ, अबूझ और अँधेरा समय है
कि एक सीधा सादा वाक्य भी साँप की तरह बलखाने लगता है।
वह अर्ध विराम और पूर्ण विराम के साथ एक पूरा वाक्य लिखना चाहता है
वह हर बार अहद करता है कि किसी रूपक या बिम्ब का
सहारा नहीं लेगा
संकेतों की भाषा के करीब भी नहीं फटकेगा।
लेकिन वह जब जब कोशिश करता है
उसकी कलम सफ़े पर इतने धब्बे छोड़ जाती है

कि सारी इबारत दागदार हो जाती है।
हालाँकि वह जानता है कि डायरी को डायरी की तरह लिखते हुए भी
हर व्यक्ति कुछ न कुछ छिपा ही जाता है
इतनी चतुराई से वह कुछ बातों को छिपाता है
कि पता लगाना मुश्किल है कि वह क्या छिपा रहा है
कवि फ़क़त दूसरों से ही नहीं,
अपने आप से भी कुछ न कुछ छिपा रहा होता है
जैसे वह अपनी ही परछाई में छिप रहा हो।

एक कवि के लिए डायरी लिखना सबसे मुश्किल काम है।
भाषा को बरतने की उसकी आदतें उसका पीछा कभी नहीं छोड़तीं
वह खीज कर कलम रख देता है और डायरी को बंद करके
एक तरफ़ सरका देता है।

एक दिन लेकिन जब वह अपनी पुरानी डायरी को खोलता है
तो पाता है कि समय की दीमक ने डायरी के पन्नों पर
ना समझ में आने वाली ऐसी कुछ इबारत लिख डाली है
जैसे वही कवि के समय के बारे में
लिखा गया सबसे मुकम्मिल वाक्य हो।

संग्रहालय

वहाँ बहुत सारी चीजें थीं करीने से सजी हुई
जिन्हें गुजरे वक्त के लोगों ने कभी इस्तेमाल किया था।

दीवारों पर सुनहरी फ्रेम में मढ़े हुए उन शासकों के विशाल चित्र थे
जिनके नीचे उनका नाम और समय भी लिखा था
जिन्होंने उन चीजों का उपयोग किया था
लेकिन उन चीजों को बनाने वालों का कोई चित्र वहाँ नहीं था
न कहीं उनका कोई नाम था।

अचकनें थीं, पगड़ियाँ थीं, तरह तरह के जूते और हुक्के थे।
लेकिन उन दर्जियों, रंगरेजों, मोचियों और
हुक्का भरने वालों का कोई जिक्र नहीं था।
खाना खाने की नक्काशीदार रकाबियाँ थीं,
कटोरियाँ और कटोरदान थे,
गिलास और उगालदान थे।
खाना पकाने के बड़े बड़े देग और खाना परोसने के करछुल थे
पर खाना पकाने वाले बावर्चियों के नामों का उल्लेख
कहीं नहीं था।
खाना पकाने की भट्टियाँ और बड़ी बड़ी सिगड़ियाँ थीं
पर उन सिगड़ियों में आग नहीं थी।

आग की सिर्फ कहानियाँ थीं
लेकिन आग नहीं थी।

आग का संग्रह करना संभव नहीं था।

सिर्फ आग थी
जो आज को बीते हुए समय से अलग करती थी।

ज़िद

निराशा मुझे माफ़ करो आज मैं नहीं निकाल पाऊँगा तुम्हारे लिए समय
आज मुझे एक ज़रूरी मीटिंग में जाना है

मुझे मालूम है तुम भी वही सब कहोगी
जो दूसरे भी अक्सर ही कहते रहते हैं उन लोगों के बारे में
कि गिनती के उन थोड़े से लोगों की बिसात ही क्या है
कि समाज में कौन सुनता है उनकी बात?
कि उनके कुछ करने से क्या बदल जाएगा इस दुनिया में?
हालाँकि कई बार उन्हें भी निरर्थक लगती हैं अपनी सारी कोशिशें
फिर भी एक ज़िद है कि लगे ही रहते हैं वे अपने काम में
कहीं घटी हो कोई घटना
दुनिया के किसी भी कोने में हुआ हो कोई अन्याय
कोई अत्याचार कोई दंगा या कोई दुर्घटना
वे हरकत में आ जाते हैं तत्काल
सूचित करने निकल पड़ते हैं सभी जान पहचान के लोगों को
और अक्सर मुफ्त या सस्ते में उपलब्ध किसी साधारण सी जगह पर
किसी दोस्त के घर में या किसी सार्वजनिक उद्यान में
आहूत करते हैं वे एक मीटिंग
घंटों पूरी घटना पर गम्भीरता से बहस करते हैं
उसके विरुद्ध या पक्ष में पारित करते हैं एक प्रस्ताव

अपनी मीटिंग की वे खुद ही तत्काल खबर बनाते हैं
खुद ही उसे अखबारों में लगाने जाते हैं
प्रतिरोध की इस बहुत छोटी सी कार्यवाही की खबर
कभी कभी कुछ अखबार सिंगल कॉलम में छाप देते हैं
अक्सर तो बिना छपी ही रह जाती हैं उनकी खबरें

कई बार उदासी उन्हें भी घेर लेती है
उन्हें भी लगता है कि उनकी कोई आवाज़ नहीं इस समाज में

निराशा!
मैंने कई कई बार तुम्हें उनके इर्द गिर्द मँडराते

और फिर हाथ मलते हुए लौटते देखा है
मैंने देखा है तुम्हारे झाँसे में ज्यादा देर तक नहीं रहते
वे लोग

कभी कभी किसी बड़े मुद्दे पर वे रैलियाँ निकालते हैं

2.

खुद की ही जेबों को निचोड़ कर
खुद ही रात रात जाग कर तैयार करते हैं
मशालें पोस्टर और प्ले कार्ड
अगर रैली में जुट जाते हैं सौ सवा सौ लोग भी
तो दुगने उत्साह से भर जाते हैं वे

दुनियादार लोग अक्सर उनका मज़ाक उड़ाते हैं
असफलताओं का मखौल बनाना ही
व्यवहारिकता की सबसे बड़ी अक्लमन्दी है
कभी कभी छेड़ने को और कभी कभी गुस्से में
पूछते हैं दुनियादार लोग
क्या होगा आपके इस छोटे से विरोध से?

पर वे किसी से पलट कर नहीं पूछते कभी
कि तुम्हारे चुप रहने ने ही
कौन-सा बड़ा कमाल कर दिया है
इस दुनिया में?
पलट कर उन्होंने नहीं कहा कभी किसी से
कि दुनियादार लोगो! तुम्हारी चुप्पियों ने ही बढ़ाई है
अपराधों और अपराधियों की संख्या हर बार
कि शरीफजादो! तुम्हारी निस्संगता ने ही बढ़ाए हैं
अन्यायियों के हौसले
कि मक्कार चुप्पियों ने नहीं छोटी छोटी आवाजों ने ही
बदली है अत्याचारी सल्तनतें

वे दुनियादार लोगों की सीमाएँ जानते हैं
उनके सिर पर भी हैं घर गृहस्थी और बाल बच्चों की
जिम्मेदारियाँ
भरसक कोशिश करते हैं कि दोनों कामों में संतुलन बना रहे

पर ऐसा अक्सर हो नहीं पाता
घर में भी अक्सर झिड़कियाँ सुननी पड़ती हैं उन्हें
सब उनसे एक ही सवाल पूछते हैं
कि दुनिया भर की फिक्र
वे ही क्यों अपने सिर पर लिए घूमते रहते हैं
कि उनके करने से क्या बदल जाएगा इस समाज में?

वे जो दुनिया की हर घटना के बारे में बोलते हैं
इस सवाल पर अक्सर चुप रह जाते हैं!!

दृश्य ही ऐसा है

मुझे सारा दृश्य कुछ धुँधला धुँधला नज़र आ रहा था।

मैं आँखों के डॉक्टर के पास गया
तो उसने अलग अलग मशीनों से
अलग अलग कोण से देर तक मेरी आँखों की जाँच की
और बोला—
नहीं नहीं, आपके चश्मे का नम्बर तो
बिल्कुल नहीं बदला है।

मैंने कहा लेकिन डॉक्टर
मुझे तो सारा दृश्य धुँधला धुँधला नज़र आ रहा है!

नेत्र चिकित्सक ने एक बार फिर जाँच की
और कहा आपकी आँखों में
कोई अन्य खराबी भी नज़र नहीं आती
आपकी आँखें तो एकदम ठीकठाक हैं

लेकिन डॉक्टर, मैंने एक बार फिर अपना वाक्य दोहराया
मुझे तो सारा दृश्य धुँधला धुँधला नज़र आ रहा है।

नेत्र चिकित्सक भी कुछ पल को चक्कर में पड़ गया
वह समझ नहीं पा रहा था कि माजरा क्या है
लेकिन जैसे ही उसने बाहर की ओर देखा
उसे अचानक कुछ याद आ गया
पल भर को वह रुका और बोला
मैं खुद भी अपनी आँखों को लेकर कई दिनों से
इसी संदेह में घिरा हुआ हूँ
समझ नहीं पा रहा हूँ कि जब आँखें एकदम ठीकठाक हैं
तो दृश्य इतना धुँधला क्यों नज़र आता है

पता नहीं आँखों में ही कोई ऐसा दोष है
जो पकड़ नहीं आ रहा है
या दृश्य में!

कुछ सोचता सा वह अपनी कुर्सी से उठा
और हाथों से कुछ टटोलता हुआ
दरवाजा खोलकर बाहर निकल गया ।

अक्कल दाढ़

(दाँतों के डॉक्टर से एक संवाद)

डॉक्टर यह मेरा मित्र है, इसकी दाढ़ में
कुछ दिनों से बहुत तकलीफ़ है।
डॉक्टर ने एक नज़र अपने मरीज़ को देखा, एक पर्चा उठाया और पूछा :
नाम?

मैंने कहा, जनतन्त्र कुमार।

डॉक्टर को लगा जैसे मैं कोई बेहूदा मज़ाक कर रहा हूँ
उसने थोड़े गुस्से और संदेह से मेरी तरफ़ देखा।

मैंने कहा, यकीन कीजिए डॉक्टर यह इसका नाम है, कोई रूपक नहीं!
यह 26 जनवरी, 1952 को पैदा हुआ था इसलिए
इसके माता पिता ने इसका यह नाम रख दिया होगा।

दाँत के डॉक्टर ने अपनी पेन्सिल टॉर्च उठाई और
मित्र के खुले मुँह में रोशनी डालकर
मुआयना किया और बोला :
इनकी अक्कल दाढ़ निकल रही है।

मैंने मित्र को थोड़ा गुदगुदाते हुए कहा
यानी डॉक्टर मेरा मित्र अब वयस्क हो रहा है?

तुर्की ब तुर्की मेरे ही अंदाज में डॉक्टर ने भी कहा
लगता तो है लेकिन एक दिक्कत भी है
इनकी अक्कल दाढ़ तिरछी हो गई है
इसीलिए बार बार तकलीफ़ दे रही है।

क्या आपको लगता है डॉक्टर कि दाढ़ के तिरछा होने
और हमारे समय के बीच कोई खास सम्बन्ध है?
ओह मिस्टर जोशी...डॉक्टर का माथा ठनका
और वह तत्काल सतर्क हो गया, बोला
इनकी आड़ लेकर कहीं आप मुझसे
कोई राजनीतिक सवाल तो नहीं पूछ रहे हैं?
मुझे कवियों और पत्रकारों से बहुत डर लगता है

सीधे सादे दिखते वाक्यों के पीछे भी
उनके कई मंतव्य छिपे रहते हैं।

मैं जो समझ रहा हूँ अगर वही आपका मतलब है
तो मैं कहूँगा कि ऐसे सवाल आपको
अपने वित्त मंत्री से पूछने चाहिए
या संभव हो तो प्रधान मंत्री से।
वैसे मैं तो कहूँगा कि आप भी वक्त की नज़ाकत को समझिए
और मजाक में भी दो अर्थ वाले वाक्यों से बचिए
मैं एक सीधा सादा डॉक्टर हूँ श्रीमान
और मैं ऐसा कोई खतरा मोल लेना नहीं चाहता।

ओह, नहीं नहीं डॉक्टर मेरा ऐसा कोई मतलब नहीं है
मैं तो बस इतना कह रहा था
कि तिरछी ही सही लेकिन अक्कल दाढ़ निकल रही है
उससे कुछ उम्मीद करना क्या वाजिब नहीं होगा?
नहीं, महोदय, डॉक्टर ने समझाया
तिरछी निकलेगी तो समझ लीजिए वह दूसरे दाँतों को नुकसान पहुँचाएगी।

लेकिन डॉक्टर! अब तो
आड़े तिरछे दाँतों को सीधा करने की तकनीक भी आ चुकी है
तो क्या अक्कल दाढ़ को सीधा नहीं किया जा सकता?

क्या आपको सचमुच लगता है मिस्टर जोशी कि इस समय
किसी की भी अक्कल दाढ़ को सीधा किया जा सकना संभव है?
डॉक्टर ने सँभलते हुए पूछा फिर बोला
मेरी सलाह मानिए इसे निकलवा डालिए
यही सबसे सुरक्षित तरीका है।

हालाँकि यह भी इतना आसान नहीं है
तिरछी अक्कल दाढ़ को निकलवाने के खतरे भी कम नहीं हैं
हो सकता है कि दाढ़ को निकालते समय वह टूट जाए
और कोई बारीक सा टुकड़ा अंदर ही फँसा रहे।
अंदर छूट गया बारीक सा टुकड़ा रह रह कर बहुत तकलीफ देता है
फिर ऑपरेशन के सिवा कोई विकल्प नहीं बचता।

बहुत देर से चुपचाप मेरी और दाँत के डॉक्टर की
बातें सुन रहे मेरे मित्र ने

आखिरकार मुँह खोला और पूछा
कि डॉक्टर बचपन से मेरे तो सारे दाँत और दाढ़ें सीधी ही उगी थीं
फिर इस उम्र में आकर क्या हुआ
कि मेरी अक्कल दाढ़ तिरछी हो गई?

पता नहीं के अंदाज़ में डॉक्टर ने अपनी दोनों हथेलियों को फैलाया
और बिना कुछ बोले बाहर निकल गया।

उदार लोकतन्त्र : कुछ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

हरबंस मुखिया

मैं अपने मित्र डॉ. सूर्य नारायण सिंह का अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे अपने गुरु प्रोफ़ेसर सत्य प्रकाश मिश्र की स्मृति में उनकी पुण्यतिथि के अवसर पर यह व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया। ये मेरे लिए अत्यन्त गर्व का विषय है कि प्रोफ़ेसर मिश्र जैसे शीर्ष विद्वान के साथ अपना नाम भी संलग्न कर सकूँ यद्यपि प्रोफ़ेसर मिश्र और मेरा सम्बन्ध अध्ययन के अलग-अलग विषय-वर्गों से है। इसलिए यही उचित है कि मैं इस व्याख्यान को अपने ही विषय-वर्ग की सीमाओं के अन्दर रखूँ।

जिसे आज हम उदार लोकतन्त्र (liberal democracy) की संज्ञा देते हैं उसकी मूल उत्पत्ति और उसके सीमित, संक्षिप्त इतिहास का सम्बन्ध बज़ाहिर पश्चिम के साथ है। व्यक्ति के निजी, पेशेवर या राजनैतिक निर्णय ले पाने की स्वतन्त्र क्षमता उसका एक प्रमुख आधार है। इस आधार में व्यक्ति की इस क्षमता पर किसी प्रकार के पारिवारिक, सांस्थानिक अथवा सामाजिक बाह्य अंकुश का विरोध निहित है। इसका संक्षिप्त एवं क्षेत्रीय इतिहास न केवल इसके अपने क्षेत्र के तवील और बहुआयामी मध्ययुगी इतिहास के विरोध में आ खड़ा होता है बल्कि विश्व के दूसरे भागों के और भी तवील इतिहास के बरक्स स्थापित हो जाता है।

उदार लोकतन्त्र की स्वतः निर्मित छवियों में से एक प्रमुख छवि यह है कि इसने मध्यकालीन 'अंधकार युग'—जिसका मुख्य अभिलक्षण विवेकहीनता और अन्धविश्वास था जिसे 'आधुनिक' युग में धर्म या किसी भी प्रकार की धार्मिकता का पर्याय समझा गया—से ग्रस्त एवं त्रस्त जनसमूह या अवाम को निजात दिलाई। प्रबोधन (enlightenment) ने अन्धविश्वास से, विवेक ने विवेकहीनता से और नव-विकसित आर्थिक और सामाजिक संगठन ने एक संकुचित वर्ग के विशाल जनसमूह पर स्थापित वर्चस्व से निजात दिलाई। जिन बन्धनों में व्यक्ति की ऊर्जा क़ैद थी उनसे निजात दिलाई। इस निजात में असीम गतिशीलता निहित थी जिसमें सामाजिक और

सम्पर्क : बी-86, सन सिटी, गुड़गांव। फोन : 0124-4145103

भौगोलिक सीमाओं को लाँघने की क्षमता थी; इसमें एक दिन समग्र विश्व के जन समुदाय को मुक्ति प्रदान करने की अबाध क्षमता थी। इसमें इतिहास को वांछित मोड़ देने की, यहाँ तक कि इतिहास के 'उन्मूलन' करने की क्षमता थी। 11 अगस्त, 1789 को फ्रांसीसी क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में, पेरिस में फ्रांसीसी संसद (Assemblée Nationale) ने एक हुक्म जारी करते हुए यह ऐलान किया कि 'फ्यूडलिज् . म को आज से अस्थापित किया जाता है'। लगभग यही ऐलान रूस में 7 नवम्बर, 1917 की क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में पूँजीवाद के विस्थापन के लिए हुआ। यह अलग बात है कि फ्यूडलिज्म या पूँजीवाद की स्थापना एवं विस्थापन एक दीर्घ प्रक्रिया होती है न कि किसी घोषणा का परिणाम।

अपनी विवेक शक्ति की विगत 'अंधकार युग' की तुलना में श्रेष्ठता की जो अवधारणा उत्तर-प्रबोधन (Post-enlightenment) ने स्थापित की थी, और यह धारणा कि अपनी अन्तर्गत शक्ति से यह अन्त में विश्व-विजयी होगी—इसे पश्चिम में दो या ढाई शताब्दियों में विकसित (और विश्व के अन्य भागों में प्रचलित) निश्चयात्मकता (Positivism) से और तर्कवियत हासिल हुई। निश्चयात्मकता ने वस्तुपरक यथार्थ (Objective Reality) और व्यक्तिपरक समझ (subjective preception) के दरम्यान द्विभाजन स्थापित किया। वस्तुपरक यथार्थ प्रदत्त एवं निर्धारित है, अपरिवर्तनीय है और मानवीय हस्तक्षेप से अभेद्य है। दूसरी ओर व्यक्ति परक समझ प्रदत्त यथार्थ तक बढ़ते हुए ज्ञान से आहिस्ता-आहिस्ता पहुँच सकती है, मानव जाति के लिए इस समझ का उपयोग भी कर सकती है, किन्तु यथार्थ में कोई भी परिवर्तन ला पाने में असमर्थ है। इसे हम रोज़मर्रा जीवन के कुछ दृष्टान्त लेकर स्पष्ट कर सकते हैं : एक समय था जब यह माना जाता था कि ज़मीन चपटी है और सूर्य उसके इर्द-गिर्द घूमता है। बढ़ते हुए वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण ज्ञान से हमें यह बोध हो चुका है कि ज़मीन दरअसल गोल है या लगभग गोल है और यह अपनी धुरी पर और सूर्य के इर्द-गिर्द घूमती है। यहाँ हम चलते-चलते इस बात को भी नोट कर लें कि जब सोलहवीं शताब्दी में कॉपर्निकस और गलायलियो—जो इटली में खगोलविद्या के प्रोफ़ेसर थे—ने इस सिद्धान्त को प्रकाशित किया तो पोप को और यूरोप के कैथोलिक जनसमूह की धार्मिक भावनाओं को बहुत ठेस लगी और पोप ने गलायलियो को चर्च से बहिष्कृत कर दिया। गलायलियो ने सार्वजनिक रूप से अपने सिद्धान्त का खंडन किया और चर्च से क्षमा माँगी, यद्यपि अपने अन्तिम क्षणों में उन्होंने फिर घोषित किया कि सच तो वही है जिसे उन्होंने प्रकाशित किया था। दिलचस्प बात तो यह है कि इस सच को चर्च ने 1990 के दशक में आकर स्वीकार किया है और गलायलियो को माफ़ किया। धार्मिक भावनाओं के ठेस से सँभलने में और सत्य को स्वीकार करने में चर्च को लगभग 450 वर्ष लग गए।

बहरहाल पृथ्वी के रूप के उस ज्ञान का प्रयोग आवागमन, यात्रा और दूसरे उद्देश्यों के लिए तो किया जा सकता है पर पृथ्वी का रूप बदलने के लिए, पृथ्वी को चपटा कर देने के लिए नहीं किया जा सकता। पृथ्वी के इस वस्तुपरक यथार्थ के समक्ष वह सब अवधारणाएँ बिखर जाती हैं जो विवेकहीनता की देन थीं। विवेकशीलता के चरित्र में दो अभिलक्षण प्रमुख हैं : एक, इसकी वैधता (Validity) सार्वभौमिक है और दो, इसकी प्रामाणिकता या असमानता का सार्वजनिक प्रदर्शन अनिवार्य है। अन्य धर्म जैसे, अप्रामाणिक स्रोतों से प्राप्त समझ या ज्ञान इन अभिलक्षणों के विपरीत हैं। विवेकशीलता के इस चरित्र में विज्ञान-पूर्व, विवेक-पूर्व समझ पर अन्तिम एवं सार्वभौमिक विजय निहित और निश्चित है।

विवेक के सार्वभौमिक और अपरिवर्तनीय विजय के आधार पर आधुनिक विज्ञान, तकनीक, उद्योग, पूँजीवाद और व्यक्तिवाद का उदय हुआ। फ्रांसीसी क्रान्ति न केवल फ्रांस के इतिहास

में एक महान घटना थी, बल्कि इसकी प्रतिध्वनि की गूँज समग्र मानव जाति में विस्तृत हो गई, विशेषकर इसके तीन विशाल सिद्धान्तों की गूँज : (व्यक्ति की) स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व की गूँज। यह विश्व इतिहास में एक आमूल परिवर्तन कालीय घटना थी। इसमें मानव जाति का भविष्य निहित था।

सार्वभौमिक मान्यता और इसकी अन्तिम विजय की अवधारणा में उसके अपने पूर्व इतिहास से—जिसे अंधकार युग करार देकर खारिज कर दिया जाने लगा—सम्पूर्ण विरोध इसका केन्द्रीय चरित्र था। फिर भी, जिसका उसने इतना उपहास किया उसका यह सहभागी भी था।

अब्वल तो यह संकल्पना कि हर विवेकशील ज्ञान सार्वभौमिक उद्बोधन का एक भाग है और इसका सम्प्रयोग भी सार्वभौमिक है और अन्ततः यह विश्व विजयी होगा—इसका मूलरूप हमें मध्य युगी ईसाई अध्यात्म विद्या (medieval christian theology) तक ले जाता है जहाँ हर ज्ञान-विद्या, विशेषकर इतिहास-ज्ञान की परिकल्पना, ईश्वर की इच्छाशक्ति के विस्तार के रूप में की गई थी और इसलिए इतिहास को सार्वभौमिक सम्पूर्ण इकाई (universal whole) के रूप में मानकता प्राप्त हुई। पूर्वकाल में जो कुछ भी घटा, आज जो कुछ घट रहा है, भविष्य में जो कुछ घटेगा वह सब हमें भले ही एकांकी, अनियमित घटनाओं का समूह नज़र आए किन्तु ईश्वर की इच्छा में ये एक विशाल, एकीकृत साँचे के भाग होते हैं, जो समय के साथ प्रकट होते हैं। ईश्वर के अन्तिम सत्य की, जिसका प्रकटीकरण ईश्वर-पुत्र ईसर के माध्यम से ईसाई धर्म के रूप में हुआ, समय के अन्त तक विश्व-विजय दैवीय शक्ति द्वारा निर्धारित है। इसके पश्चात् इस्लाम की भी यही स्थापना रही।

उत्तर-प्रबोधन विवेकशीलता का सबसे महत्वपूर्ण फल पूँजीवाद के विकास में उभर कर आया जिसके साथ ही हुआ व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विस्तार और उस पर से सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न स्वरूपों का हास। इसमें व्यक्ति और अन्य सामाजिक इकाइयों, जैसे परिवार, समुदाय, धार्मिक संस्थान आदि के बीच द्विभाजन निहित था और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को लोकतन्त्र की बुनियाद ही मान लिया गया। व्यक्तियों की समानता लोकतन्त्र की शर्त बन गई हालाँकि उदार लोकतन्त्र के कुछ विचारक गरीब और अनपढ़ अवाम और अभिजात वर्ग के व्यक्तियों की असमानता से अति प्रसन्न नहीं थे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का यह संक्षिप्त इतिहास यूरोप में ही समानता और लोकतन्त्र के दूसरे ऐतिहासिक अनुभवों के विमुख स्थापित हो जाता है और विश्व के दूसरे क्षेत्रों के और भी तवील इतिहास के विरोध में खड़ा हो जाता है।

विश्व के विभिन्न समाजों के इतिहास मानवीय समानता की आकांक्षा की धार्मिक अथवा धर्म निरपेक्ष अभिव्यक्तियों से परिपूर्ण हैं। बौद्ध मत, ईसाई धर्म, इस्लाम, सिक्ख धर्म और मार्क्सवादी समाजवाद सभी का प्रेरणा-स्रोत यही आकांक्षा है और प्रत्येक ने समाज का व्यापक परिवर्तन किया है। यह सही है कि कोई समानतावादी विचारधारा, चाहे वह धार्मिक हो अथवा धर्मनिरपेक्ष, या उनसे प्रेरित आन्दोलन, कहीं भी वास्तव में सामाजिक समानता का निर्माण नहीं कर पाए हैं, किन्तु वे समाज व्यवस्था में निचले वर्गों के लिए कुछ सीढ़ियाँ ऊपर उठने की सम्भावना अवश्य स्थापित कर पाए। सामाजिक समानता की जुस्तजू के यह स्वरूप व्यक्ति और अन्य सामाजिक इकाइयों, जैसे परिवार, समुदाय आदि के दरम्यान द्विभाजन पर आधारित नहीं है; इस जुस्तजू में व्यक्ति को धार्मिक/सामाजिक समुदाय के वशीभूत माना गया है। हिमालय की वादियों में ईसा पूर्व 6वीं शताब्दी में उदित बौद्ध मत को ब्राह्मणवादी मानदंड—जिनके अनुसार सामाजिक असमानता दैवीय कृति है के प्रतिरोध के रूप में सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त हुई है। बौद्ध संघ में सम्मिलित सभी भिक्षुओं को उनकी पूर्व स्थिति का विचार किए बिना समान माना

गया, यद्यपि इनमें स्त्रियों को सम्मिलित न करके इसमें लैंगिक समानता के सिद्धान्त को स्वीकृति न मिल पाई। ईसाई, इस्लाम व सिक्ख मत जैसे अन्य एकेश्वरवादी मतों की चेतना भी दलितजनों के लिए समानता की आकांक्षा से परिपूर्ण थी। बल्कि अपने मत के अनुयाइयों को उनका यह प्रबोधन कि एकेश्वरवाद उनकी अन्दरूनी जन्म, धन, स्थिति, जाति आदि की खाइयों को पाट कर सबको केवल एकमत के सम्बन्ध में जोड़ता है। ईसाई मत की यह अवधारणा कि गरीब ही धरती के वारिस होंगे इस आकांक्षा की अभिव्यक्ति है और अभिजात वर्ग के विरुद्ध प्रतिरोध है। इस्लाम के सामाजिक समानता के आह्वान से जन्मे विल्लव की ऊर्जा शीघ्र ही इतिहास के प्रयाण में खो गई जब मुसलमानों ने बड़े-बड़े क्षेत्रों को विजित कर उन पर साम्राज्य स्थापित किए और असंख्य जनमानस का धर्म परिवर्तन हुआ। फिर भी, इस क्षय का प्रतिरोध भी हुआ। इस्लाम के भीतर से इस प्रतिरोध का एक महत्वपूर्ण स्वरूप तसव्वुफ़ था। क्योंकि राज्य के प्रादुर्भाव और विकास को इस्लाम की पाकीज़गी—जिसे मुहम्मद और प्रथम चार खलीफ़ाओं के समय में विशेष चरित्र के रूप में मान्यता मिली—में आई त्रुटियों का स्रोत माना गया जिससे समाज में विशेषाधिकार एवं विशिष्टता का उदय हुआ और सामाजिक विषमताओं की उत्पत्ति हुई इसलिए सूफ़ी प्रतिरोध का कम से कम आरम्भ में राज्य ही लक्ष्य बना, यद्यपि आहिस्ता-आहिस्ता राज्य के साथ सूफ़ियों का समझौता भी अक्सर दृष्टिगोचर होने लगा। सिक्खों में सामुदायिक कीर्तन और उससे भी महत्वपूर्ण, सामुदायिक लंगर जिसमें सब लोग एक साथ एक ही स्थान पर बैठ कर सामुदायिक रसोई में तैयार शुदा भोजन खाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति भोजन परोसने की सेवा करता है—इसमें विषमताओं के दरम्यान समानता के प्रतीक की घोषणा निहित है।

यह महत्वपूर्ण बात है कि समानता की ललक केवल वंचित वर्गों तक ही सीमित नहीं होती। इतिहास साक्षी है कि कुछ अभिजात वर्गीय व्यक्ति समग्र सुविधाओं एवं विशेषाधिकारों का त्याग कर, धन-सम्पत्ति के स्थान पर दीनता, बल के स्थान पर विनम्रता एवं दमन के स्थान पर प्रेम की तलाश में निकल जाते हैं। हर धर्म में परित्याग को शक्ति, उच्चाधिकार, धन-बल एवं आर्थिक, सांस्कृतिक किंवा आध्यात्मिक संसाधनों तक विषय प्रवेश के खिलाफ़ एक सशक्त प्रतिरोध का साधन माना गया है। समानता की घोषणा के रूप में परित्याग की भूमिका को आँकना भी आवश्यक है क्योंकि यह परित्याग धन और बल से वंचित वर्गों द्वारा नहीं बल्कि उनके द्वारा किया जाता है जिनके पास इनका बाहुल्य होता है। समानता की तलाश इस तरह एक मानवीय प्रक्रिया है जिसका आकर्षण उतना ही समाज के उच्च वर्गों के लिए हो सकता है जितना समाज के दलित वर्गों के लिए। गौतम राजकुमार थे जब वे राजमहल छोड़कर प्रबोधन की खोज में निकले और बुद्ध बन गए। राज्य के विरुद्ध सूफ़ी प्रतिरोध नियामक स्तर पर उससे किसी भी प्रकार के सम्बन्ध विच्छेद का रूप अख्तियार करता है और इस प्रकार किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार के विपरीत आ खड़ा होता है। सिद्धान्त के रूप में सुल्तान/दरवेश द्विभाजन तसव्वुफ़ के केन्द्र में स्थित है। किसी धार्मिक अथवा अन्य समुदाय की सदस्यता दूसरे विभाजकों को दोनों छोरों पर धुँधला देती है। सदस्यता के इस सम्बन्धों से पीड़ित वर्गों को सामाजिक स्तर पर कुछ ऊपर उठने का अवसर मिलता है और उच्च स्तर के व्यक्तियों को उस उत्कृष्ट भावना की अनुभूति होती है जो जीवन को दूसरों के लिए अर्पित करने में निहित होती है। उदास समालोचकों को यह देख कर अत्यंत आश्चर्य होता है जब बहुत उच्च शिक्षित, सफल पेशेवर व्यक्ति कभी धार्मिक जोश में आकर, या फिर हिंसक क्रान्ति द्वारा समाज-परिवर्तन के उत्साह में आतंकवादी आन्दोलनों के भागीदार हो जाते हैं। कभी ये आन्दोलन 9/11 का रूप लेते हैं, कभी फ़िदेल कास्त्रो व चे ग्वेरा जैसे क्रान्तिकारी आदर्श व्यक्तियों के

रूप में प्रकट होते हैं। ये व्यक्ति उदार गणतन्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों के विपरीत जाते हैं जिनमें व्यक्ति की प्रधानता केन्द्रीय है और अन्य प्रतिबद्धताएँ गौण हैं। इन 'आतंकवादियों' के लिए अन्य प्रतिबद्धताएँ उनकी आस्था के अनुसार लोकतन्त्र स्थापना का माध्यम हैं जिनमें व्यक्ति के, स्वयं उनके विशेषाधिकार प्रतिबंधित हैं। क्या उदार लोकतन्त्र इस तनाव का समाधान पाने में समर्थ है सिवाय इससे सामने से टकराव में आने के, जैसा कि विश्व के कई भागों में आज हो रहा है और जिसमें इसकी विश्व में अन्तिम विजय की पूर्वधारणा निहित है? इसकी विश्व-विजय की पूर्वधारणा का स्रोत इसकी स्वयं कृत समरूपता की छवि है जो मानव जाति द्वारा लोकतन्त्र की विविध अनुभूतियों को नकारती है। इस समरूप छवि में सब विविधताओं को मिटाकर पूरे विश्व पर हावी होने की आक्रामकता भी छिपी हुई है।

उदार लोकतन्त्र के प्रचलन की एक प्रमुख, लगभग निवारक कसौटी है—निर्धारित समय पर बहुदलीय सन्दर्भ में निर्वाचन होना। सभी वयस्क नागरिकों को मत देने का अधिकार, जिसका संसार के सबसे विकसित देशों में भी आठ-नौ दशकों का संक्षिप्त इतिहास है, उनकी समानता स्थापित करने का माध्यम है। क्या यह वास्तव में सही और वैध कसौटी है? क्या वास्तव में किसी निर्वाचन में एक दल को प्राप्त 51 प्रतिशत मत किसी दूसरे दल की तुलना में, जिसे 49 प्रतिशत मत मिला हो, निर्णायक वैधता प्रदान कर देता है? फिर, यह 51 प्रतिशत मत भी लगभग सभी उदार लोकतन्त्रीय देशों में एक स्वप्न ही बन कर रह जाता है। अपवाद के तौर पर दक्षिण अफ्रीका जैसे प्रजा लोकतन्त्र की गणना की जा सकती है जहाँ वयस्क मत के अधिकार का इतिहास 20 वर्ष से भी कम है, या फ्रांस जहाँ उसके पाँचवे संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को 50 प्रतिशत से अधिक मत हासिल करना लाज़मी है, यद्यपि यह शर्त किसी और निर्वाचित अधिकारी या प्रतिनिधि पर लागू नहीं होती। भारत में आज़ादी के पश्चात् पहले लगभग चालीस वर्षों तक कांग्रेस को बहुमत मिलता रहा; आज किसी भी दल को 40 प्रतिशत मत मस्ती में झूमने की अवस्था में ले जाता है। अधिकतर लोकतन्त्रीय देशों में शासक दल (या दल-समूह) अल्पमत द्वारा ही शासन की बागडोर संभालता है यद्यपि उसे दूसरे दल (या दल-समूह) से एक लघु-सा अंश ही अधिक मत प्राप्त होता है। हम याद करें कि अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज डब्लू बुश को उनके पहले शासन काल में उनके विपक्षी अल-गोर की तुलना में लगभग 5.5 लाख कम जनता ने मत दिया था किन्तु यह अल्पमत उन्हें उस देश में राष्ट्रपति बनने से नहीं रोक सका जो स्वयं को लोकतन्त्र का सार्वभौमिक आदर्श मानता है और फ़ौजी ताक़त के सहित या उसके बग़ैर सारे विश्व पर लोकतन्त्र के अपने आदर्श को लादता फिरता है।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात : उदार लोकतन्त्र का सहगामी उदार अर्थशास्त्र भी है; इसका सम्बन्ध बाज़ार के अर्थतन्त्र और पूँजीवाद के साथ अटूट है। बाज़ार की प्रमुखता और पूँजीवाद का वर्चस्व उदार लोकतन्त्र के लगभग आत्म-स्वरूप (after ego) हैं और इनमें भी अन्तिम विश्व-विजय की पूर्व धारणा निहित है। यह मान्यता कि बाज़ार आर्थिक समानता की स्थापना का माध्यम है केवल चन्द ही समाजशास्त्रियों अथवा अर्थशास्त्रियों को स्वीकार होगी; इतिहास, विशेषकर गत दो-तीन शताब्दियों का इतिहास इसकी विपरीत दिशा में इशारा करता है जब बाज़ार समाजों के भीतर और अन्तर्देशीय स्तर पर आर्थिक विभेदन (differentiation) और आधिपत्य-स्थापना (hegemonisation) का माध्यम बना है। इससे लोकतन्त्र और समानता का विकास नहीं, हास हुआ है; इससे असीम असमानता का निर्माण हुआ है। यह दूसरे विश्व-युद्ध से पूर्व लगभग दो सौ वर्षों तक साम्राज्य और उपनिवेशवाद का प्रेरक बल रहा है। यह वह क्षेत्र है जहाँ राज्य ने निश्चयात्मक हस्तक्षेप भी किया और अपने व अन्य देशों में बाज़ार के विस्तार के लिए प्रशासनिक व फ़ौजी शक्ति का प्रयोग भी किया है। अभी

हाल में ही हमें बाज़ार को स्वयं उसके अपने विनाशकारी दुष्कर्मों से बचाने के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति और कांग्रेस ने पहले 700 अरब डॉलर और उसके बाद कई सौ अरब और डॉलर बाज़ार को समर्पित किए। यूरोप में यह प्रक्रिया अब भी जारी है; कुछ सीमा तक भारत सरकार ने भी इस दिशा में क्रम उठाए। आज़ाद बाज़ार को आज़ादी से स्वयं को नष्ट नहीं करने दिया गया, यद्यपि बाज़ार का बुनियादी सिद्धान्त ही है राज्य का कम से कम हस्तक्षेप।

‘स्वतन्त्र मंडी’ की सार्वभौमिक प्रक्रिया की खातिर राज्य का हस्तक्षेप उदार लोकतन्त्र की परिकल्पना और उसके अलमबरदार राष्ट्रों का व्यवहार एक विचित्र विरोधाभास को जन्म देता है। एक ओर इसकी सार्वभौमिक आकांक्षाओं के तहत विश्व के हर क्षेत्र में लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना का स्वागत किया जाना चाहिए, दूसरी ओर इस प्रकार की व्यवस्था का बल प्रयोग द्वारा समाप्त किया जाना और उनके स्थान पर उदार लोकतन्त्र के अमेरिका और ब्रिटेन जैसे सबसे अग्रणी राष्ट्रों द्वारा निरंकुश शासनों को स्थापित करना अथवा निरंकुश शासकों को समर्थन देना निरन्तर इस विरोधाभास की याद ताज़ा करता रहता है। जब 1950 के दशक में ईरान के मोसदिक ने अपने देश के तेल का राष्ट्रीयकरण किया था तो अमेरिका और ब्रिटेन ने ईरान पर आक्रमण कर मोसदिक के शासन को समाप्त कर दिया। अब फिर ये देश ईरान पर आक्रमण की तैयारी कर रहे हैं।¹ चिली और इंडोनेशिया के लोकतन्त्र द्वारा निर्वाचित सरकारों को पश्चिम की सम्पूर्ण सहायता से उखाड़ फेंका गया और उनकी जगह जनरल पिनोशे और जनरल सुहार्तो जैसे तानाशाहों को अधिष्ठापित किया गया क्योंकि वहाँ की सरकारें कहीं पूर्ण पूँजीवाद और पूर्ण समाजवाद के दरम्यान का रास्ता अपनाने की ख्वाहिशमन्द थीं। एक इराक से तुलनात्मक धर्म निरपेक्ष शासन को फ़ौजी ताक़त द्वारा उन राष्ट्रों ने समाप्त कर दिया जो सऊदी अरब जैसे धर्मतन्त्रीय शासन के समर्थक हैं, जहाँ महिलाएँ मतदान तो क्या स्वयं गाड़ी भी नहीं चला सकतीं क्योंकि इससे 4 जून, 2009 को दिए गए वहाँ के उलेमा के वक्तव्य के अनुसार इस्लाम की अवहेलना होती है। यह भी सर्वविदित है कि अफगानिस्तान में अलकायदा की संरचना CIA ने ही की थी सोवियत संघ से विरोध में ऊर्जा पैदा करने के लिए।

यहाँ हमारा मक़सद स्थिति की विडम्बना से उल्लास उठाना नहीं है बल्कि एक बुनियादी प्रश्न करना है : उदार लोकतन्त्र की सार्वभौमिक आकांक्षा का वह कौन-सा भाग है जिसमें विश्व के कुछ क्षेत्रों में लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं को उखाड़ कर उनके स्थान पर निरंकुश शासन-व्यवस्थाओं की संस्थापना को वैध करार दिया जाता है? इसका एक सीधा-सा उत्तर तो अमेरिका जैसे विश्व पर हावी शक्तियों के ‘राष्ट्रीय हित’ के स्वरूप में मिल जाता है। किन्तु जब समग्र विश्व के हित में अविभाजनीय उदार लोकतन्त्र और ‘राष्ट्रीय हित’ के दरम्यान तकरार, संघर्ष की स्थिति में उदार लोकतन्त्र की संकल्पना में वह कौन से दोष हैं जो उसे इतना कमज़ोर बना देते हैं? और इसके कौन से गुण हैं जो इसे सार्वभौमिक मूल्यों की खातिर क्षेत्रीय हितों पर अंकुश लगाने की क्षमता प्रदान करते हैं?

स्पष्ट है कि हमें निश्चयात्मकता (Positivism) पर और केवल एक ही परिकल्पना की सार्वभौमिकता एवं असीमितता पर, जिसमें विश्व-विजय की भावना निहित है जो उदार लोकतन्त्र की नींव में स्थित है, गम्भीर पुनर्विचार की आवश्यकता है और विचारों की विविधता और उसके प्रति धैर्य की मानसिकता के विस्तार की आवश्यकता है जहाँ मानव जाति के प्रत्येक सरगोशी के तजुर्बों को विश्व के सम्मिलित किन्तु विविधतापूर्ण भविष्य का अटूट भाग बनाया जा सके। हमें आवश्यकता है अपना लोकतान्त्रिक आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अनेक एवं विविध सांस्थानिक व्यवस्थाओं की जिनमें निर्वाचन-आधारित लोकतन्त्र केवल एक व्यवस्था हो।

यह कहना भी सही होगा कि लोकतन्त्र का यह एकांकी रूप अक्सर प्रशासन के प्रयोजनों

एवं उदार लोकतंत्र के सार्वजनिक मुद्दों के बीच तनाव का स्रोत बन जाता है। लोकतान्त्रिक ढंग से निर्वाचित हुकूमतें अक्सर लोकतान्त्रिक अधिकारों, विशेषकर भाषण एवं प्रतिरोध के अधिकार, सूचना के अधिकार पर अंकुश लगाने की चेष्टा करती रहती हैं, यदि ये अधिकार उनके अपने व्यवहार के विरोध में प्रयोग किए जा रहे हों। उदार लोकतन्त्र के इस एकांकी रूप में 'लोकतान्त्रिक अधिकारों' के अत्यधिक अनुदार प्रयोग की भी सम्भावनाएँ निहित हैं। कई इस्लामी देशों में स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनावों में ऐसे दलों और आन्दोलनों ने पूर्ण अथवा लगभग पूर्ण जीत हासिल की है जिनका आधार ही उदार लोकतन्त्र-विरोधी रहा है और उन्हें ज़बरदस्ती हुकूमत बनाने से वंचित रखा गया है। अल्जीरिया और तुर्की के हाल में यही अनुभव रहे हैं। भारत में स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनावों में भाजपा एवं उनके सहयोगी संगठन जिनकी विचारधारा उग्रवादी हिन्दुत्व से प्रेरित है और जिसमें 'दूसरों' की (यहाँ मुस्लिम एवं ईसाई समुदायों की) राक्षस की तरह छवि बनाकर स्थाई अदावत पर आधारित है, जिसमें नात्सी विचारों की छाप छिपी हुई नहीं है—इनका प्रभावशाली स्थान निर्मित हो चुका है। फ्रांस, नीदरलैंड आदि विकसित गणराज्यों में लोकतान्त्रिक अधिकारों को सीमित करने के इच्छुक दक्षिणपंथी दलों की लोकप्रियता बढ़ती नजर आ रही है। स्पष्ट है कि निर्वाचन उन उत्कृष्ट उद्देश्यों तक पहुँचने में हमें बहुत दूर नहीं ले जाते जिनको उदार लोकतन्त्र के विशेष गुणों का दर्जा दिया गया है। उदार लोकतन्त्र के शास्त्रीय सिद्धान्तों से विकसित होते-होते आज नव-उदारवाद (neo-liberalism) के काल में, उदार लोकतन्त्र का सार राज्यों के मानवीय अधिकारों से सम्बन्धों में संयोजित है और यही वह क्षेत्र है जिसमें इनमें तीव्र तनाव अक्सर प्रत्यक्ष रूप धारण करता है।

अभी तक उदार लोकतन्त्र और उसके सहगामी स्वतन्त्र मण्डीतन्त्र को सिद्धान्त एवं व्यवहार के स्तर पर सबसे गम्भीर चुनौती मार्क्सवादी समाजवाद की विचारधारा से मिली है। एक ओर तो मार्क्सवाद ने निश्चयात्मकता के विचारों को बड़ी हद तक अपनाया, विशेषकर वस्तुपरक यथार्थ एवं व्यक्तिपरक समझ के द्विभाजन को; मार्क्सवाद ने निश्चयात्मकता की सार्वभौमिक वैधता की दृष्टि एवं विश्व-विजय की अन्तिमता को भी ग्रहण किया। दूसरी ओर मार्क्सवाद ने निश्चयात्मकता को सिर के बल खड़ा कर दिया जब उसने ऐतिहासिक तथ्यों के स्थान पर वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को प्राथमिकता प्रदान की। 1848 में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो में घोषणा की कि 'अभी तक स्थित समाज का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।' मार्क्स की मृत्यु के 5 वर्ष बाद एंगेल्स ने 1888 में इसका एक संक्षिप्त संशोधन किया और अब यह अभिघोषणा इस प्रकार हो गई : 'अभी तक के स्थित समाज का सम्पूर्ण लिखित इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।'³ मार्क्स के चिन्तन में आर्थिक नियतिवाद (economic determinism) पूर्ण रूप से पैठा हुआ था जिसका जीवन मार्क्स के जीवन से तवील था। इस चिन्तन में (base) नींव और भवन (Superstructure) का विभेद लगभग केन्द्रीय था और यह धारणा कि समाज के समस्त पहलू, जैसे वैचारिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक तन्त्र उसकी आर्थिक नींव के ही प्रतिबिम्ब थे, कभी संशोधित नहीं हुई। इससे यह निष्कर्ष तो लगभग अपरिहार्य था कि जब तक नींव में परिवर्तन आएँगे, इन तन्त्रों में, उस भवन में, अनिवार्यतः उनके अनुरूप परिवर्तन स्वतः ही आएँगे। अपनी पुस्तक, *The Critique of Political Economy*³ की सुप्रसिद्ध भूमिका में उन्होंने बार-बार नींव और भवन की अनुरूपता पर जोर दिया। जैसे-जैसे आर्थिक ढाँचे में बदलाव आएगा और वह एक ऐतिहासिक अवस्था से रेखीय विकास करते हुए प्रारम्भिक साम्यवाद (Primitive Communism) दासता, फ़्यूडलिज़्म से पूँजीवाद की ओर गतिशील होगा, वैसे-वैसे उसके राजनैतिक, सामाजिक, दार्शनिक तन्त्रों में आर्थिक ढाँचे के अनुरूप परिवर्तन आते रहेंगे। मार्क्स ने *Capital, I*, में घोषित किया था :

‘धर्म का संसार वास्तविक संसार का एक प्रतिबिम्ब है।’⁴ यहाँ दो संसारों का निर्माण हो रहा था—एक वास्तविक अर्थात् आर्थिक क्षेत्र का संसार और दूसरा जो केवल उसका प्रतिबिम्ब था, अर्थात् धर्म और संस्कृति का संसार। यदि वास्तविक संसार का अस्तित्व यथार्थ था, तो उसका ‘प्रतिबिम्ब’ इस प्रकार का कोई दावा नहीं कर सकता था और अनिवार्य था कि वह ‘वास्तविक संसार’ के साथ राज्य बदलता रहे। मार्क्स की मृत्यु के बाद एंगेल्स ने जोसेफ़ ब्लाख को 1890 में एक प्रश्न के उत्तर में पत्र लिखा था जिससे उनके दर्शन में आर्थिक नियतिवाद की धारणा को परिमित करने की बजाय और तकवियत मिलती है। जोसेफ़ ब्लाख ने यह पूछा था कि क्या मार्क्स और उन्होंने मानव जाति के आचरण की व्याख्या में आर्थिक नियतिवाद पर जोर देकर राजनीति एवं विचारों आदि तलों को नज़रअन्दाज़ नहीं किया था? उत्तर में एंगेल्स ने इनकी भूमिका का कुछ अस्तित्व मानना स्वीकार किया लेकिन इस पर दृढ़ रहे कि ‘यद्यपि हम अपने इतिहास का स्वयं निर्माण करते हैं लेकिन, प्रथमतः निश्चित परिधियों और परिस्थितियों में रहकर। इनमें आर्थिक परिस्थितियाँ अन्तिमतः निर्णायक होती हैं। किन्तु राजनैतिक तत्व आदि, यहाँ तक कि परम्पराओं जो कि मानवीय विचार शक्ति को त्रस्त करती हैं, की भी भूमिका रहती है पर कभी निर्णायक नहीं होती।’⁵ इसमें आर्थिक नींव की अन्तिमतः निर्णायक भूमिका का अचल परमकारणवाद (teleslogy) लाजिमी तौर से स्थापित हो जाता है। इसमें मानव आचरण की असाधारण जटिलता का लगभग असम्भव सरलीकरण निहित है।

बल्कि यह कहना गलत न होगा कि मानव आचरण की बहुस्वरता एवं जटिलता का किसी भी प्रकार की सर्वव्याख्यावादी टीका (totalising explanation) का नियतिवादी बुनियाद पर किया गया स्पष्टीकरण बहुत असन्तोषजनक होगा। मुझे किसी ऐसी सर्वव्याख्यावादी टीका पर कोई आपत्ति नहीं है जो नियतिवाद की नींव पर आधारित न हो। यह तभी सम्भव है जब हम किसी ‘अन्तिम निर्णायकता’ की तलाश में न निकले हों, यदि हम इतिहास की अथवा समाज की व्याख्या के कारणों का एक स्थाई, स्तरीकृत ढाँचा न खड़ा कर दें।

फ्रांस में विकसित अनाल इतिहास लेखन की विद्या, जिसे मार्क ब्लाख और उनके मित्र लूसियें फ्रेन्न ने 1929 में स्थापित किया था, ने एक स्थाई, स्तरीकृत ढाँचा-रहित सम्पूर्ण इतिहास के विश्लेषण और व्याख्या की ओर एक महत्वपूर्ण क़दम उठाया था। उसी प्रकार की अन्य विधाओं की भी अनेक सम्भावनाएँ हैं।

लेकिन अपनी अनेक खामियों के बावजूद मार्क्सवाद मानव जाति की बौद्धिक विरासत का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह अकेली विचारधारा है जिसने मानव के आर्थिक परिक्रम में केवल निजी लाभ, या निजी स्वार्थ की लालसा और आर्थिक उत्पादन एवं वितरण के एकमात्र माध्यम, स्वतन्त्र मंडी, के विकल्प की तलाश की। यह मान्य है कि हाल के समाजवादी समाज एवं राजतन्त्रों ने इस वैकल्पिक विचारधारा को अमल में लाने के जो प्रयोग किए उनके विनाशकारी परिणाम निकले। लेकिन इन विनाशकारी परिणामों के बावजूद भी हमें इस विकल्प का मूल्य आँकने की ज़रूरत है। मार्क्स ने इतिहास के अन्त, अर्थात् वर्ग संघर्ष के अन्त की परिकल्पना की थी जब मानव जाति को तकनीकी विकास के चलते उत्पादन प्रक्रिया में अपना श्रम व्यय नहीं करना पड़ेगा; यह पूर्ण साम्यवाद की अवस्था होगी। यह वह स्थिति होगी जब न तो उत्पादन के साधनों पर, न ही श्रम की प्रक्रिया पर निजी स्वामित्व का अधिकार होगा; तब वर्ग व्यवस्था का अन्त होगा और वास्तविक इतिहास का प्रारम्भ। इस अवस्था में मनुष्य अपनी समग्र आन्तरिक क्षमताओं को पूर्णतः विकसित कर पाएगा। मार्क्स और एंगेल्स ने इस सम्भावना का German ideology में बड़ा भावपूर्ण वर्णन किया है : ‘साम्यवादी समाज में कोई भी किसी एक प्रक्रिया से बँधा नहीं होगा, बल्कि हर व्यक्ति प्रक्रिया की किसी भी शाखा में इच्छानुसार परिपूर्णता

हासिल कर सकेगा। समाज सामान्य उत्पादन को संयोजित करेगा और इस प्रकार यह सम्भावित कर सकेगा कि मैं आज एक काम करूँ, कल दूसरा, सुबह शिकार करूँ, दोपहर को मछलियाँ पकड़ूँ, शाम को जानवर चराऊँ, रात को भोजन के बाद आलोचना करूँ। जैसा मैं चाहूँ बगैर कभी भी शिकारी, मछुआरा, गड़रिया या आलोचक बने।⁶

यह सही है कि यह एक स्वप्निल दृश्य था और मध्य कालीन यूरोपीय पादरी सन्त ऑगस्टीन की स्वर्ग की परिकल्पना के बहुत निकट था, यद्यपि यह मार्क्स और एंगेल्स के विचार क्रम के अपने तर्क का ही निष्कर्ष था। किन्तु, हालाँकि हम उस स्वप्निल दृश्य से अभी बहुत दूर हैं, फिर भी हम तकनीकी विकास एवं मशीनों द्वारा मानवीय श्रम के विस्थापन का क्रम अत्यन्त धीमी गति से ही सही, दिन ब दिन देख रहे हैं। शायद हम मार्क्स के तर्क की सहायता से, प्रगति की इस धीमी गति की व्याख्या उन सामाजिक सम्बन्धों के माध्यम से कर सकते हैं, जो इसे तीव्र गति से वंचित कर रहे हैं।

क्या वह विनाशकारी प्रयोग, जो हाल में कुछ देशों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए समाजवादी तन्त्रों ने किए थे, आर्थिक उत्पादन एवं वितरण के पूँजीवाद के विकल्प की तलाश को सदा के लिए समाप्त करने के पर्याप्त कारण हैं? क्या हमें सिर झुका कर पूँजीवाद, स्वतन्त्र मंडी, निजी स्वार्थ एवं धन के निजी संचय को उदार लोकतन्त्र के अन्तरंग सहगामी मानते हुए उसकी अन्तिम विश्व-विजय को स्वीकार कर लेना अनिवार्य है? क्या हम मानव जाति के अन्य ऐतिहासिक अनुभवों की अन्तिम क्रिया करने को बाध्य हो चुके हैं? विश्व के अलग-अलग क्षेत्रों में विभिन्न लोकतन्त्रों के विभिन्न अनुभवों का इतिहास है और अनेकता एवं उसके प्रति सहिष्णुता इन इतिहासों का प्रमुख रूप रहा है। शायद मानव जाति के लिए इन इतिहासों की और उनकी अनेकता के प्रति सहिष्णुता की पुनर्प्राप्ति अत्यन्त मूल्यवान साबित हो। शायद मानव जाति के लिए अपनी सफलताओं की तरह ही अपनी असफलताओं को संजोना भी मूल्यवान साबित हो—यह एक पाठ है जो पूँजीवाद को क्रतई नागवार है।

(सत्यप्रकाश मिश्र साहित्य संस्थान की ओर से प्रति वर्ष होने वाले 'सत्यप्रकाश मिश्र स्मृति व्याख्यानमाला' का पाँचवाँ व्याख्यान, 27 मार्च, 2012)

सन्दर्भ

1. Michel vovelle, La chute de monarchie, 1789-92, Paris, Editions du Seuil, 1972, p.173.
2. दिलचस्प बात यह है कि राष्ट्रपति ओबामा पहले पश्चिमी नेता हैं जिन्होंने इस बात को काहिरा विश्वविद्यालय में अपने अत्यन्त प्रभावशाली भाषण में स्वीकार किया। वही राष्ट्रपति अब फिर से ईरान पर आक्रमण करने के लिए उत्सुक है।
3. पुस्तक के 1888 में प्रकाशित अंग्रेजी संस्करण में संलग्न एंगेल्स का नोट, David Fernbach, ed., Karl Marx; the Revolutions of 1848, Political Writings, Vol. I, Penguin Books, Harmondsworth, 1973, Fr. 13, pp. 67-8.
4. 'Religious word is a refle of the real word'. Kark Mark, Capital, vol. I, Progress Publishers, Moscow, 1854, P.79.
5. Karl Masx and Frederich rangexs, Selected Works in three volumes, vol. III, Progress Publishers, Moscow, 1970, pp. 487-89. 'अन्तिम निर्णायकता' के लिए एंगेल्स कई अन्य पर्याय भी प्रयोग करते हैं जैसे 'अन्तिम निर्णायक तत्व', 'अन्तिमतः अनिवार्य' 'अन्तिम युक्ति' आदि।
6. Karl Mark and Fredricyh Engels, The Grerman Ideology in Marx and Engels, Collected Works, vol. 5, Progress Publishers, Moxow, 1976, p.47

समय के दो भाई

चन्दन पाण्डेय

न मालूम कौन से समय की बात है कि उसके दो भाई थे। पहले का पुकार नाम बड़े था और दूसरे का बहुत बड़े। दोनों अमीरजादे, ख्याली, शराबी और आलसी थे। इसलिए चिंतक भी। ये दोनों भाई शराब की ही नींद उठते थे। सुबह का कुल्ला बीयर से और निबटान आदि का काम सस्ती शराब से करते। स्नान करते हुए शराब की बाल्टी में दो बूँद डेटॉल डालना कभी जो भूले हों। किसी स्त्री को चूमते, हालाँकि ऐसे मौके जाहिलों की जिन्दगी में कम ही आते हैं, तो उसके होठों या अन्य जगहों पर शराब की धार फोड़ कर ही चूमते थे। पढ़ना-लिखना इसलिए नहीं सीखा क्योंकि स्याही शराब नहीं थी।

दोनों के बोलते ख्यालों से संघातियों, पड़ोसियों के कान घायल हो चुके थे। पीने की कामना सँजोए लोग आते, पीते और इनकी खाम ख्यालियों से चोटिल होते। पहला घूँट अन्दर जाते ही बहुत बड़े की आँखें मुँद जातीं और 'बड़े' कागज, कलम, इंचटेप, रंगीन पेंसिल लेकर बैठ जाता। इनके पैसे से पीने वाले चापलूस इनकी मटमैली करतूत देखते।

इन दोनों लखेरों को बिरसे में इतनी जमीन मिली हुई थी कि हर दिन पीने के बाद नए-नए कारखाने और उद्योग धन्धे लगाते। योजनाओं की लकीर खींचने में माहिर हो चुके थे। पिनक में 'बहुत बड़े' कारोबार सुझाता और बड़े उसका नक्शा खींच कर दिखा देता। कारखाना लगाने के बाद मजदूरों के लिए घर बनाता। उन घरों को सस्ते ब्याज पर अपने ही मजदूरों को बेचता। बाद के दिनों में कारखाने से नजदीक ही बड़े-बड़े फ्लैट भी बनाए। उनके आजू-बाजू जो तरणताल बनाए उसमें हंस, बत्तख और दुनिया की सभी रंगीन मछलियाँ भी रख आए। इससे जो मुनाफा हुआ उससे उन्होंने खूब सारी शराब खरीदी। वो शराब उन साथियों को पिलाई जो वहाँ बैठे उनका ख्यालनामा सुन रहे थे।

शराब की लत तो धर्म जैसी ही बुरी होती है।

धीरे-धीरे शराब ने अपना रंग दिखाया। इनके लिए वो कम पड़नी शुरू हुई। पीने का आलम यह था कि अपना पैमाना भर लेने के बाद दूसरे पैमानों पर नजर रखते। जैसे ही कोई अंजान या दुखियारा अपनी ग्लास नीचे रखता, दोनों भाई उसे गटक जाते। दुखियारा अपना-सा मुँह भी नहीं रख पाता था।

वो हर सुबह सोचते, किसी तीसरे पियाक को आमंत्रित नहीं करेंगे। तैयारी करते, आज से सारा काम खुद ही करना है। शाम होते न होते दोनों कुछ घूंट से गला खंगाल कर सोचते, सलाह कौन काटेगा? चखना कौन बनाएगा? और सबसे महत्वपूर्ण यह कि किसिम-किसिम के पैग कौन बनाएगा? इसलिए, शराब कम पड़ जाने की कीमत पर भी लालची शराबियों को जमा कर लेते और फिर शराब और ख्याली पुलावों का दौर शुरू होता।

जब से उनकी शराब कम पड़नी शुरू हुई उन्होंने हर बार शराब के कारखाने सँजोए। नक्शा अलग होता और उससे बनने वाली शराब भी। बीच-बीच में मजे लेने के लिए साथी पियक्कड़ भी दो चार राय उड़ेल देते। दीवाल शराब के रंग की होनी चाहिए। शराब की टंकियाँ अलमुनियम के नल से जुड़ी हों तो कितना अच्छा रहे। या ऐसी ही कोई सलाह। दोनों भाई साथियों के सलाह तब तक मन से सुनते जब तक शराब बची रहती।

ऐसा ही कोई अनगढ़ दिन रहा होगा कि इनके शराबी साथियों के साथ एक नया आदमी चला आया था। नौउम्र ही था और इनकी कारस्तानियों से नावाकिफ था। दौर शुरू हुआ। पहले या दूसरे पैग के बाद जहाँ दोनों भाइयों ने शराब का कारखाना लगाना शुरू किया वह इस नए आदमी की बस्ती से सटे हुए मैदान पर था। उसे यह सारा जतन अजूबा लगा। शराब के कारखाने की बात से उसे आश्चर्य कम हँसी अधिक आ रही थी। चूँकि नया-नया था इसलिए दोनों भाइयों की बातों के चक्कर में उसे सारा कुछ सच में तब्दील होता लगा। लगा कि शराब के कारखाने से उसकी बस्ती न उजड़े तो बाकी चीजें बर्दास्त की जा सकती हैं। इन ख्यालों में खोने से पीने की उसकी गति कम हो गई थी।

इधर दोनों भाइयों ने शराब का कारखाना लगा तो लिया था पर वहाँ तक पहुँचने के रास्ते में बस्ती आ रही थी। गटागट पीते हुए बहुत बड़े ने सुझाया, अगर बस्ती वालों को कारखाने की मजदूरी दे दें तो वो शायद जमीन छोड़ दें। यह सलाह सबको पसन्द आई, सबने इशारे से हुँकारी भर दी। मुँह किसी ने नहीं खोला। वजह? पीने का क्रम रुक जाता। घूंट रोककर बोलना पड़ता और इतनी देर में मौजूद पियाक लोग सारी शराब खाली कर देते। नए साथी के साथ यह दिक्कत नहीं थी। उसने कुछ कहने के लिए ग्लास नीचे रखा तब तक बहुत बड़े ने व्यंग्य बाण छेड़ दिए, क्यों साहब, जो पीने में इतना धीरे हो वो जीवन में कितना होगा?

अपमानित नया साथी बोल पड़ा, जी, मैं पीकर आया हूँ। इस जवाब से चकित हो सबने एक स्वर में पूछा, कहाँ? कहाँ पी आए? नए साथी ने अपना समय लिया, घूंट भरकर बड़े की ओर इशारा करते हुए कहा, इनकी फैक्ट्री से। बहुत बड़े को इस जवाब पर यकीन नहीं हुआ। अपने को होश में लाने के लिए शराब से मुँह धोया और उसके ही छींटे मारे, पूछा, कब? नया आदमी का जवाब, शाम ही को तो।

उस रात दोनों भाइयों की नींद कहीं बह गई थी। बेचैन। करवट-करवट। आधी रात के वक्त बहुत बड़े ने कहा, अब? बड़े गुमसुम था। दो चार पहर बाद जो कुछ बोला उसे सुन कर बहुत बड़े जान गया कि यह उसके ही सवाल का जवाब था। बड़े ने कहा था, इधर हम प्यासे रहते आए और हमारे ही कारखाने से शराब चोरी होती रही। बहुत बड़े ने फिर

पूछा, तब? तब क्या? दोनों ने एक साथ जवाब सोचा, इस तरह तो ये बस्ती वाले एक दिन सारी शराब पी जाएंगे।

दोनों आलसी भाइयों में जाने कहाँ से उर्जा भर गई थी। उन्होंने पुलिस वालों को किराए पर उठाया और बस्ती को आग के हवाले कर दिया। बस्ती वाले नींद के सताए हुए थे, आग की मार कहाँ झेल पाते। भगदड़-भगदड़। पल भर में आठों दिशाएँ लोगों से भर गईं और बाकी बची दो दिशाएँ उनके शोर से। अगलगी के मुहाने से बाहर निकलते ही उन पर पुलिस की लाठियाँ पड़ रही थीं। बड़े और बहुत बड़े ने भी मोर्चा सँभाल रखा था। लोगों को पीट-पीट कर पूछ रहे थे : और पियोगे शराब? चोर सब। और शराब पियो, सालों। पैर तो रखो कारखाने में, काट दिया जाएगा।

किसी ने अपने अंतर्मन में इस घटना या इन दो बदमाशों 'बेचारों' का समर्थन नहीं किया। सैकड़ों लोग जले थे। गरीबों के जीवन में बमुश्किल जुटे संसाधनों का भयानक नुकसान हुआ था। मीडिया के भले लाचार गुस्से में आकंठ डूबे हुए थे। वो तो दुनियादारी के तकाजे थे वरना सभी अखबार और मीडिया वालों ने इनकी इस जली हुई करतूत के खिलाफ मोर्चा कस लिया होता। इसलिए इस खबर को लिखने के बाद शहर का सबसे नामी पत्रकार दो मिनट अपने झूठ पर उदास हुआ, फिर यह सोच कर खुश हुआ कि जब वह इतना सफेद झूठ बोल सकता है तब वह अपनी किस्मत साहित्य में क्यों नहीं आजमाता। उसने खबर यह बनाई थी : दैवीय चमत्कार, काल्पनिक शराब फैक्ट्री में लगी आग से बस्ती स्वाहा।

सुनने में आया, कोतवाल साहब उन दोनों पर सख्त नाराज हैं और उन्हें बन्द करना चाहते हैं पर वो क्या करें। बेचारे वचन से बँधे हुए हैं। वो दोनों बच्चे कोतवाल को मामा कह कर पुकारते हैं। हकीकत यह है, कोतवालिन ने बहुत बड़े की निगाहों में छुपे चोर का जिक्र नहीं किया कि जब वो कोतवालिन को मामी कहता है तो उसके ऐंठे हुए शब्दों से और निगाहों से कैसी दुर्गन्ध उठती है।

न्यायाधीश के गुस्से का भी पारावार नहीं था और वह खरा गुस्सा था। वो तो जैसे सचमुच उसी आग में जल आए थे। आज कहने वाले जो भी कहें पर न्यायाधीश साहब जानते हैं कि उनके मन में जल चुके लोगों के लिए क्षोभ और दया का भाव था। वो उन लोगों के लिए कुछ करना चाहते थे पर नहीं कर सके। जान पहिचान का दुःख उन्हें साल रहा था, काश वो सारे अमीर उमरा अपरिचित होते तो सजा सुनाई जा सकती थी।

वीराने का कोतवाल

चन्दन पाण्डेय

किसी झूठे जमाने की बात है। चोरी के पारम्परिक तरीके जानलेवा और नुकसानदेह हो चुके थे। सेंध लगाने वाले स्मृतियों से अलग कहीं भी सेंध खोद पाने में नाकाबिल थे। पॉकेटमार असबाब कम, बेकाबू भीड़ की सेवा अधिक पाते थे। जहरखुरानी के रंचमात्र शिकार मजदूर बचे थे जो चाह कर भी इतनी धन दौलत बचा ही नहीं पाते थे कि जहरखुरानों का जीवनयापन हो। दूसरे, चोरी की नई चौसठ कलाएँ इतनी सशक्त थीं कि ये पुराने चोर अपने शागिर्द ढूँढने में अकथ मुश्किल से दो चार हो रहे थे।

धीरे-धीरे चोर ठप्प पड़ने लगे। किसी ने साइकिल पंचर लगाने की दुकान लगा ली, कोई सब्जी मंडी में कुली लग गया। जिसने अंडे का ठेला लगाना शुरू किया आज उसके पास खपरैल का ही है पर अपना घर है। उसकी बेटी रूपा कक्षा चार की छात्रा है और उड़िया बोलती है।

यह नगर परिचय के पहाड़े पर टिका हुआ था। मिसाल के तौर पर 'अ' को 'ब' बखूबी जानते हैं और 'ब' से जो 'स' का नाता है वह बेहद ढीला-ढाला है। पर इसी नाते 'स' को यह भरोसा है और गुमान भी कि वह 'अ' को जानता है। 'अ' चूँकि ओहदेदार है, तो वो किसी को जानने की जहमत नहीं उठाता।

'द' का कोई कीमती सामान गुम हो गया था। और यहीं स्पष्ट कर दूँ कि उन्हें वह सामान मिला नहीं पर 'द' ने कोशिशें बहुत की। सामान नहीं मिला पर इस पूरी प्रक्रिया में 'द' को जो अभिमान हुआ कि क्या कहिए। उनका सीना हर वक्त इतना फूला रहने लगा था, जितना कि सेना में भर्ती के इच्छुक रंगरूट मौके पर भी नहीं फुला पाते। हुआ यह कि नगर के सभी आला नामों ने इनकी पैरवी कोतवाल से की। इसमें भी मध्यमार्गी बहुत काम

आए। 'घ' इन्हें 'च' के पास ले गया। 'च' 'ण' के पास ले जा रहा था पर रास्ते में 'थ' मिल गया।

उसी फलते-फूलते नगर में एक कोतवाल रहते थे। उनकी कोतवालिन भी थीं। अपूर्व सुन्दरी। उनके अरूप रूप का अमल यह था कि नवयौवनाएँ उन्हें जहर देकर मार देना चाहती थीं। क्या जवान, क्या बूढ़े और क्या कोंपल की फूट से बाहर निकल रहे किशोर, सब के सब भारती उर्फ कनकलता के दिव्य रूप के दरस पाते ही निढाल और मलिन हो जाते थे। उनका साहस जवाब दे जाता। उन्हें घर तक पहुँचाने की कवायद भारी होती थी।

हुआ यह भी था, वक्ष भार से जरा झुकी उनकी आकृति निहार कर कइयों ने जीने की इच्छा ही छोड़ दी थी। मसलन, इनके होने के आभास मात्र से लोग मृत्यु के दर्शन की चर्चा छेड़ देते। कमर के नीचे के आयतन से वो पानी पर मंथर बहती हुई नाव दीख पड़ती थी। जानने वाले जानते थे कि मल्लाह खुद कोतवाल है जिसने नाव पानी पर छोड़ रखी है। जबकि पानी अपनी धार की शुष्क और तीव्र चोट से नाव पर गहरे निशान बना रहा है, इसका पता अभी न मल्लाह को था ना ही जीने की इच्छा छोड़ चुके आशिकों को। और यह भी कि कनक का झुकना स्तनों के भार से नहीं, चंचलायमान स्मृतियों की 'मूवी' से था।

जमाने पर ही अँधेरा छा रहा था इसलिए आकृति स्पष्ट नहीं हुई कि वह न्यायाधीश था या पत्रकार या फिर कम निगाही का मरीज राजनीतिज्ञ, पर इन्हीं किन्हीं साथी से मिलकर कनकलता लौट रही थीं। सब्जी मंडी का भीड़-भड़क्का देख कर मैडम ने गाड़ीवान को रोका। खुद, उतर आई। मंडी में इससे पहले इतनी खूबसूरत और नाजुक कोई चीज नहीं आई थी, सो क्या खरीददार और क्या विक्रेता, सब के सब काम ठप्प कर बैठ गए। यहाँ होना यह था कि मैडम कुछ खरीद-फरोख्त करतीं और कितनों के सीने से दिल निकाल वहीं के वहीं मरोड़ कर चल देतीं। पर यह नहीं हुआ।

शाश्वत से लगते सन्नाटे में मैडम की निगाह अपनी उँगली पर गई। बाएँ हाथ की बड़े-बड़े पोरों वाली लम्बी और पतली उंगली से अँगूठी गायब थी। जिसने जाना, वे अपनी ही जगह पर बुत बन गया। शहर कोतवाल की बीवी की अँगूठी उनके हाथ से गायब! मैडम ने तुरत-फुरत अपना मोबाइल फोन निकाला और साहब को फोन लगा दिया।

यह खबर और इससे उपजा भय धुएँ की तरह शहर पर पसर गया। कोतवाल ने सभी थाने और पुलिस चौकी पर फोन घुमा दिया। शहर के दरोगाओं के लिए आज इम्तिहान था। अबोला कफ़्यू अगर कुछ होता है तो वही शहर पर छा रहा था। मैडम अपनी लरज सँभालते हुए घर आई। आई और बिखर गई।

कोतवाल ने तमाम तरीके से मनाने की कोशिशें की। अँगूठी तो अँगूठी, सुनारों को ही घर पर बुला लिया। वे मूँगा, मोती, हीरे और सोने की खदान तक साथ में लाए पर कोतवालिन के सलौने मुखड़े पर लालिमा गर्दिश की तरह फैली हुई थी, वह जा ही नहीं रही थी। सबका कहना यही था कि शहर कोतवाल की बीवी जिस शहर में सुरक्षित नहीं, वहाँ की आम अमरुद जनता जाए तो कहाँ जाए। ऐन उसी पल सभी थानेदारों के फोन आने शुरू हुए : कुल चालीस चोर पकड़े गए हैं।

इन चालीस में इक्कीस वे थे जिन पर वस्तु चोरी के आरोप फ़्रेम की तरह मढ़े हुए थे। साइकिल पंचर लगाने वाला, सब्जी मंडी का कुली, अंडे बेचने वाला सभी के सभी शामिल

थे। ग्यारह जनों की शक्तें पिछली पीढ़ी के नामी चोरों से मिलती थीं। बाकी बचे आठ लोगों पर उनके जमानों में दिल चुराने का आरोप लगा था इसलिए उन्हें भी बुला लिया गया था।

कोतवाल ने शहर में जो आदेश दिए हों पर घर में पत्नी का चेहरा उससे देखा नहीं जा रहा था। उसने कोतवालिन को ओढ़कर मनाया, बिछा कर मनाया, आड़ी तिरछी सारी कलाएँ आजमा लीं पर कोतवालिन का मलिन चेहरा उनके पूरे व्यक्तित्व को लेकर लाइलाज डूबे जा रहा था।

पर हुआ यह कि एक खबर ने कोतवाल के चेहरे पर रौनकें बिखेर दीं।

पहर दो पहर बाद की बात है। थक कर चूर, सभी थानेदारों ने मिलकर यह खबर दी : चालीस के चालीस, सभी चोरों ने अपना-अपना गुनाह कबूल लिया है। कोतवाल ने कहा : 'गुड', 'वेलडन', वे अँगूठियाँ कब तक लौटा रहे हैं? इस तरह थानेदारों ने सभी चोरों को एक दिन की मुहलत दी और अगले दिन कोतवालिन के पैरों पर एक-एक तोले वाली सोने की चालीस अँगूठियाँ पड़ी हुई थीं। सबकी नक्काशी हू-ब-हू वैसी ही थी जैसी मैडम की खोई अँगूठी। किसी में न एक सूत कम की बनावट, ना एक सूत अधिक का खिंचाव।

मैडम की उदासी चालीस तोले सोने के साथ गई या समय के साथ, ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। जो हो सकता था, वही हुआ और वह यह कि चालीस अँगूठियाँ एक साथ पहनना कहाँ सम्भव था। इस खातिर सुनार बुलाए गए। उन सबने मिलकर चालीस अँगूठियों को गलाकर, नए नुकूश वाला एक करधनी बना डाला।

करधनी के लिए कोतवालिन ने अपनी सुडौल कमर का माप एक हरे धागे पर लिया था। पहले गुलाबी धागे के सहारे माप लिया जा रहा था पर धागे और शरीर के उस बेचौन हिस्से के रंग इस तरह यकसाँ थे कि धागा उनके शरीर में गुम बहुत गुम हो जा रहा था। अगर करधनी की कहानी बतानी न होती तो मैं उस धागे का किस्सा जरूर बताता जो कनकलता के शरीर का स्पर्श अपने में सँजोये था और जिसे छूते ही सुनार की हड्डियों में छुपा ज्वर बाहर निकल आता।

करधन तैयार हुआ और यह खबर सुगन्ध की तरह उड़ी कि वैसी करधनी नगर के इतिहास में नहीं बनी थी। सारा शहर करधनी देखने के लिए बावला हुआ जा रहा था। करधन की सुघड़ नक्काशी को लेकर जो सूचनाएँ या अफवाहें आ रही थीं उनमें से तीनों की तीनों का एक दूसरे में कोई मेल न था। राजनीतिज्ञ और विचारक खेमे से खबर यह उड़ी थी कि करधन की एक सौ आठ लड़ियों में समूची राम कथा पिरोई हुई है। दूसरी तरफ, पत्रकार और बुद्धिजीवी खेमे की आवाज में सुना यह जा रहा था कि करधन की बारीक झालरें प्राचीन गुफाओं की याद दिला रही हैं। कारीगर ने कमाल कर दिखाया है।

इनसे अलग न्यायाधीश और न्यायविद के खेमे का सुर था। उनके अनुसार, हो न हो, लड़ियों की कुल संख्या उतनी ही है जितनी संविधान में मौजूद, इधर-उधर बहती हुई धाराएँ। उन झालरों पर जो चित्र हैं वे हरेक धारा को नीति कथा में बदल कर दिखाते हैं। यह जनता के लिए सीखने और नैतिक होते जाने का भला मार्ग प्रशस्त करता है। न्यायाधीश का जो कुछ अनुभव था वह धूसर रोशनी का दिया था।

तीनों की नींद हवा हो चुकी थी। कोतवालिन के मन में क्या था इसे तो कोई थाह नहीं पाया पर ये लोग कोतवालिन से बेइन्तिहा इश्क रखते थे। तीनों ने तीन अलग-अलग मौकों पर और तीन अलग-अलग रोशनियों में इस करधन को देखा था पर तीनों के मन में एक बराबर उत्पात मचा था।

विष्णु प्रभाकर के पत्र

रामशंकर द्विवेदी

विष्णु प्रभाकर (1912-2009) से मेरा पत्र-व्यवहार कब कैसे शुरू हुआ आज यह याद करना एक विस्मयकारी घटना है। सम्भवतः मुझमें उनमें एक ही प्रवृत्तिगत समानता थी और वह थी उनकी बाङ्ला कथाकार शरत् चन्द्र के प्रति भक्ति। कोरी भक्ति ही नहीं एक उपन्यास जैसे शरत् चन्द्र के रहस्यमय जीवन की खोज जिसका परिणाम 'आवारा मसीहा' जैसी कालजयी कृति की रचना में घटित हुआ। मैंने जिन कारणों से बाङ्ला सीखी उनमें शरत् को मूल में पढ़ना भी रहा है। तब 'आवारा मसीहा' लिखा नहीं गया था, हॉ, इसके लिए विष्णु प्रभाकर जी माल-मशाला एकत्र कर रहे थे। शरत् की एक प्रामाणिक जीवनी लिखने का प्रस्ताव हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर के मालिक नाथूराम प्रेमी का था। प्रेमी जी तब तक शरत् साहित्य का हिन्दी में प्रमाणिक अनुवाद प्रकाशित करा चुके थे और हिन्दी में उसकी बिक्री भी खूब हुई थी। शरत् साहित्य के साथ वे शरत् जैसे कथाकार की एक अच्छी जीवनी भी छापना चाहते थे। विष्णु प्रभाकर जी ने 'आवारा मसीहा' की भूमिका में लिखा है: हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई के स्वामी श्री नाथूराम प्रेमी ने शरत्-साहित्य का प्रमाणिक अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित किया है। उनकी इच्छा थी कि इसी माला में शरत् चन्द्र की एक जीवनी भी प्रकाशित की जाए। उन्होंने इसकी चर्चा श्री यशपाल जैन से की और न जाने कैसे लेखक के रूप में मेरा नाम सामने आ गया। यशपाल जी के आग्रह पर मैंने एकदम ही यह काम अपने हाथ में ले लिया हो, ऐसा नहीं था, लेकिन अन्ततः लेना पड़ा, यह सच है। इसका मुख्य कारण था शरत् चन्द्र के प्रति मेरी अनुरक्ति (भूमिका, पृष्ठ 7)

विष्णु प्रभाकर एक मसिजीवी लेखक थे। इसलिए शरत् के बारे में उन्होंने हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में फुटकर लेख लिखने शुरू किए थे। इन्हें पढ़कर हिन्दी के पाठकों में शरत् के प्रति विशेष उत्सुकता जाग गई थी। शायद इसीलिए मैंने उनसे पत्र-व्यवहार करना प्रारम्भ किया हो। लेकिन मेरे और उनके बीच हुए पत्राचार के मूल में मेरा बाङ्ला भाषा के प्रति प्रेम था। मैंने यह धारणा बना ली थी कि जब वे शरत् पर काम कर रहे हैं तब बाङ्ला भाषा के भी विद्वान होंगे और बाङ्ला भाषा सीखने में मुझे उनसे मदद मिल सकेगी। वैसे बाङ्ला भाषा मैं 1955 ईस्वी से ही जानता था और मजे में कामचलाऊ बाङ्ला की पुस्तकें पढ़ भी लेता था। पर, गहराई से उस भाषा के साहित्य को नहीं समझ पाता था।

सम्पर्क : 1260, नया रामनगर, पाठक का बागीचा, उरई-285001, मो. 09839617349

यह तो तब घटित हुआ जब मैंने रवीन्द्रनाथ के काव्य पर अपना शोध कार्य प्रारम्भ किया और मुझे बाङ्ला के किसी अच्छे शब्दकोश की आवश्यकता महसूस हुई। इसलिए मुझे लिखे उनके पहले पत्र में 'आवारा मसीहा' सम्बन्धी काम का उल्लेख है और दूसरे में बाङ्ला के शब्द कोशों का :

'आपका पत्र मिला। आभारी हूँ। शरत् चन्द्र के सम्बन्ध में मेरी पुस्तक अभी तैयार नहीं हुई है। काम पूरा हो चुका है। बस उसे अब तो लिपिबद्ध करना ही शेष है (23.5.66 का पत्र)।

दूसरा पत्र 5.6.66 का है : प्रिय भाई, पत्र मिला। मेरे पास दो कोश हैं : 1. चलन्तिका 2. संसद बंगला अभिधान। पहला कोश बहुत प्रसिद्ध है। नया संस्करण लें। इनके अतिरिक्त और भी कई कोश हैं।

इसके बाद ये कोश कहीं से मिल सकते हैं उन प्रकाशकों के उन्होंने पते दिए थे। दिल्ली की जिस फर्म का उन्होंने पता दिया था उसने कई पत्र लिखने के बाद भी जब कोश नहीं भेजे तब प्रभाकर जी ने स्वयं खरीदकर कोश भिजवाया जिसका मूल्य, पैकिंग तथा डाक व्यय मैंने एम.ओ. से भेज दिया था। फिर मेरा उनका यह पत्र-व्यवहार आत्मीयता में बदल गया। मैं दिल्ली जाकर दो-तीन बार उनके यहाँ ठहरा और उनके स्नेहपूर्ण आतिथ्य का लाभ लिया। एक बार उनके साथ शाम को उनके मुख्य अड्डे दिल्ली के कॉफी हाउस भी गया था। उन्होंने मुझे पहला पत्र 23.05.66 को लिखा था और अन्तिम पत्र 4.03.08 को। अन्तिम वर्षों में अशक्त होने के कारण उन्होंने खुद पत्र लिखने बन्द कर दिए थे और किसी से बोलकर पत्र लिखवाने लगे थे लेकिन पत्र के अन्त में अपने हस्ताक्षर वे स्वयं करते थे।

मुझे लिखे 132 पत्रों में विष्णु प्रभाकर जी के जीवन और कार्य के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण तथ्य मिलते हैं। इनमें उनके कार्य करने की पद्धति, मनः स्थिति, दृष्टि और आस्था के सम्बन्ध में कई तथ्य उजागर हुए हैं। उनके मन की पीड़ा भी व्यक्त हुई है एक पत्र में जब उन्होंने लिखा कि हिन्दी के कई दिग्गज तो मुझे लेखक ही नहीं मानते हैं। उनके 'आवारा मसीहा' जैसे ग्रन्थ पर साहित्य अकादमी को अपना कृति पुरस्कार देना चाहिए था। बाद में उनके 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास को पुरस्कृत करके उसने अपनी यह भूल सुधारी। प्रभाकर जी ने एक पत्र में लिखा था कि मैंने पुरस्कारों को ध्यान में रखकर कभी नहीं लिखा।

एक पत्र में (7.9.82) उन्होंने कथाकार बलभद्र ठाकुर का जिक्र किया है जिन्होंने यात्रा के दौरान मेरे जालौन वाले घर में तीन दिन रहकर 'आवारा मसीहा' बड़े भाव-विह्वल होकर पढ़ा था और अन्तिम अध्याय पढ़ते-पढ़ते बुरी तरह भाव-गदगद होकर प्रभाकर जी की सराहना करने लगे थे। इसी पत्र में लेखक स्वामी वाहिद काज़िमी का भी उल्लेख है जिन्होंने 'आवारा मसीहा' तीन दिन तक सब काम छोड़ फल खाकर पढ़ा था।

ऐसे ही कई महत्वपूर्ण प्रसंगों से युक्त विष्णु प्रभाकर के ये पत्र यहाँ प्रस्तुत हैं।

(1)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6

दिनांक : 23.05.66

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। आभारी हूँ। शरत् चन्द्र के सम्बन्ध में मेरी पुस्तक अभी तैयार नहीं हुई है। काम पूरा हो चुका है। बस उसे अब तो लिपिबद्ध करना शेष है।

काका साहब की जीवनी कहीं बम्बई में मिल सकती है। पता करके लिखूँगा। काका साहब का स्थाई पता—गाँधी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, सन्निधि राजघाट, जवाहरलाल नेहरू रोड,

नई दिल्ली-6 है। इसी पते पर आप लिखें तो उनको पत्र मिल जाएगा। मैं एक हफ्ते से बाहर गया हुआ था। कल ही लौटा हूँ। और कुछ जानना हो तो निस्संकोच लिखिए।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(2)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक 05.06.66

प्रिय भाई,

पत्र मिला। मेरे पास दो कोश हैं—1. चलन्तिका, 2. संसद बंगला अभिधान। पहला कोश बहुत प्रसिद्ध है। नया संस्करण लें। दिल्ली में B.N Sur & Co., 90/8 अंसारी रोड को लिखेंगे तो वे मंगा देंगे। वैसे दूसरे कोश के प्रकाशक “साहित्य संसद, 32 ए, अपर सरकुलर रोड, कलकत्ता-9 है” इनके अतिरिक्त और भी बड़े कोश हैं। कलकत्ता वाले सचमुच उत्तर नहीं देते। दिल्ली लिखें।

श्री दिलीप कुमार राय ने जो संस्मरण लिखे हैं वे पहले पत्रिका में छपे थे उसके कटिंग्स मेरे पास हैं। पुस्तक नहीं है। उन्हीं का संग्रह होगा।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(3)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक -16.06.66

प्रिय भाई,

पत्र मिला। महादेवी वर्मा पर वह कौन-सी पुस्तक पढ़ी है जिसमें शरत् की चर्चा है। ‘स्मृति चारण’ की आवश्यकता होने पर लिखूँगा।

बंगला कोश अब भी मिलने में कोई कठिनाई हो तो लिखें। मैं कलकत्ता का एक पता दूँगा। उन्हें स्वयं भी लिख दूँगा। जो भी बंगला पुस्तक चाहेंगे वे भेज देंगे।

मैं तो भाई अब स्वतन्त्र वृत्ति के सहारे ही हूँ। दायित्व बहुत है, विशेष इन तीन-चार वर्षों के भीतर बच्चे बड़े हैं और शिक्षा का खर्च एक समस्या है पर सब ठीक है।

संदर्भ ग्रन्थ हिन्दी में कहाँ? समय लगेगा। शेष शुभ।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(4)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक 22.11.66

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। मैंने आपके सभी पहले पत्रों का उत्तर दिया है। मैं नहीं जानता आपको क्यों नहीं मिले। जो प्रश्न भेजे थे उनका भी उत्तर दिया था। 'संस्कृति के परिव्राजक' के बारे में भी लिखा था। पुस्तक बुरी नहीं है। सुर एण्ड कम्पनी से कोई काम कराना बड़ा मुश्किल है। रवीन्द्र ग्रन्थावली जो बंगाल सरकार ने निकाली थी, वह आपको यहाँ कहीं नहीं मिल सकती। कलकत्ता लिखिएगा। मैं आपको एक पता देता हूँ उस पर लिखेंगे तो वे वी. पी. से भिजवा देंगे। पता—श्री जानकी नाथ गुहा राय, न्यू एज पब्लिशर्स प्राइवेट लि., 12 बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता-12।

इनके पास सब कुछ मिल सकता है। व्याकरण शीघ्र भिजवाने का प्रबन्ध करूँगा। पिछले महीने पिताजी का देहांत हो जाने के कारण मैं बहुत व्यस्त रहा। अस्वस्थ भी हूँ।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(5)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक-06.12.66

प्रिय भाई,

पत्र मिला। प्रश्नों के उत्तर तो न मिलेंगे पर आप फिर से प्रश्न लिखें तो उत्तर भी मिल जाएँगे।

कलकत्ता पत्र अंग्रेजी में लिखें।

श्री दिलीप राय के संस्मरण पत्रिका में जो छपे थे मेरे पास हैं। 'निर्वासितेर' आत्मकथा नहीं पढ़ी। आपके पास है क्या?

परिव्राजक (काका कालेलकर) वाली पुस्तक भिजवा दूँगा। व्याकरण मिले तो वह भी भेज दूँगा। जिन भाई से कहा था वे अभी नहीं आए। तुम्हारे कुछ पैसे शेष हैं।

पढ़ने की मेरी कोई विधि नहीं है। यात्रा में या अस्वस्थ होने पर अधूरा पढ़ लेता हूँ। यूँ जब भी लिखने का मन न हो तब ही पढ़ता हूँ।

और सब सानंद हैं। एक बार इधर हो जाओ। सब काम हो जाएँगे।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(6)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक : 15.01.67

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। मुझे बहुत खुशी है कि 'संस्कृति के परिव्राजक' का आपने अनुशीलन किया। मतभेद तो रहता ही है और रहना भी चाहिए। काका साहब आजकल यहाँ नहीं हैं। बम्बई में उनकी आँख का ऑपरेशन हुआ है। अब उनके लिए पत्रों का उत्तर देना कठिन है। 82 वर्ष की आयु है।

महादेव भाई देसाई की डायरी मण्डल नहीं निकाल रहा। सम्भवतः नवजीवन प्रेस अहमदाबाद से ही वह निकली है। मण्डल आजकल अपना भवन बनवा रहा है। आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। फिर काका कालेलकर की किताबें कई स्थानों से निकली हैं। यह काका साहब को ही निश्चय करना है कि उनकी किताब कहाँ से छपे।

पुस्तक के दाम आपको बहुत लगे यह जानकर आश्चर्य हुआ। आजकल कागज, छपाई का मूल्य कितना बढ़ गया है वह शायद आप नहीं जानते। बंगला व्याकरण यहाँ नहीं मिला। कोई और किताब बता दीजिए, भेज दूँगा। आपके प्रश्नों का उत्तर भी नहीं दे सका। शीघ्र ही लिखने का प्रयत्न करूँगा।

स्वस्थ और प्रसन्न होंगे।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(7)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक - 01.02.67

प्रिय भाई,

पत्र मिला। मुझे लगता है कि अब आपसे ईर्ष्या करनी होगी। भारत सावित्री के दोनों खण्ड आपको भेज देने का ऑर्डर कर दिया है। 4-5 फरवरी तक मिल जाएँगे।

काका साहब की जीवनी आपको मिल गई अच्छा है। आप उन पर लिख सकें तो अच्छा ही होगा।

और सब ठीक-ठाक है।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(8)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट
दिल्ली-6
दिनांक : 26.12.68

प्रिय भाई,

पत्र मिला। 'माध्यम' में किसी ने क्या लिखा कुछ पता नहीं, किस पुस्तक के बारे में है? सभी पत्रों में प्रायः सभी व्यक्ति कटु आलोचना करते हैं। उसकी मुझे विशेष चिन्ता नहीं है, क्षणिक सुख-दुख भले ही हो ये बातें मेरी प्रगति में बाधक नहीं हैं।

परेशानियाँ पारिवारिक भी नहीं हैं मात्र आर्थिक हैं और आज के युग में अर्थ ही एक मात्र मित्र, सखा और सहायक है। वह बिना झुके नहीं मिलता यही ठीक है।

शेष शुभ। नववर्ष की शुभकामनाएँ।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(9)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक : 14.03.70

प्रिय भाई,

पत्र पाकर खुशी हुई।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी अभिनन्दन ग्रंथ कई दृष्टियों से अच्छा बन पड़ा है। ब्रज की संस्कृति के सम्बन्ध में उसमें काफी सामग्री है। पत्रकारिता पर कुछ लेख हैं। असंख्य पत्रों में से कुछ पत्र भी आप देख सकेंगे। स्वयं चतुर्वेदी जी ने अपने बारे में, अपने परिवार के बारे में काफी लिखा है। मूल्य 40 रु.। आपकी रुचि हो मंगवा सकते हैं।

गांधी जी के पत्र तो प्रायः अनुवाद ही होते हैं। अंग्रेजी व गुजराती में वे बहुत लिखते थे। हिन्दी में भी काफी लिखे हैं। जमनालाल जी के पत्र तो अधिकतर हिन्दी में ही हैं। वैसे अनुवाद भी हैं। 'उग्र' या 'मुक्तिबोध' के पत्रों के बारे में मुझे पता नहीं। मेरे पास बहुत तो नहीं कुछ पत्र हैं। वे समय-समय पर छपे भी हैं। कुछ तो औपचारिक मात्र हैं।

बुन्देलखण्ड के सम्बन्ध में मित्र जी का ग्रंथ आपने देखा ही है। उसमें साहित्य की चर्चा है। यूँ श्री चतुर्वेदी जी ने 'मधुकर' में सामग्री दी थी। यशपाल जी ने प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ में भी कुछ दिया है। आप भी मित्र जी को लिख कर और जानकारी ले सकते हैं।

साहित्यकारों के उल्लेखनीय पत्रों का संग्रह कर सकें तो अच्छा है। बहुत श्रम है। और स्वस्थ होंगे।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(10)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक : 22.03.73

प्रिय भाई,

पत्र मिला। पुस्तक पूरी हो गई है पर अभी कलकत्ता गया था। 16 को ही लौटा हूँ। कुछ नई बात मालूम हुई। सो 20 पृष्ठ फिर से टाइप करवाने हैं। प्रकाशक तो पहले पाण्डुलिपि मांग रहे थे सोमवार तक दे दूँगा। सो अभी 4-5 माह तो लगेंगे ही।
और सब ठीक ही है। स्वस्थ हैं न? होली की शुभकामनाएँ लें।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(11)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट
दिल्ली-6
दिनांक : 17.1.1974

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। बड़ी खुशी हुई कि आपका थीसिस पूरा हो गया है।
'आवारा मसीहा' अभी भी प्रेस में है दो हफ्ते में पूरा हो जाना चाहिए। प्रकाशित होने पर आपको सूचना दूँगा।
इधर 'मृच्छकटिकम्' के आधार पर एक उपन्यास लिख रहा हूँ। घर में विवाह होने के कारण 5-7 दिन और व्यस्त रहूँगा। कमला जी का थीसिस भी पूरा हो गया है। आप दोनों ही साथ-साथ डाक्टर बन जाएँगे। उनका पत्र भी आया था। सचमुच आजकल साहित्यिक जीवन बिताना सूली पर चढ़ने जैसा है। मैं इस समय बहुत परेशानियाँ अनुभव कर रहा हूँ। लेकिन जो मार्ग चुना है उसकी परेशानियों को स्वीकार करना ही होगा।
आशा है स्वस्थ व प्रसन्न होंगे।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(12)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक-18.3.74

प्रिय भाई,

आपको यह सूचना देते हुए मुझे बहुत हर्ष हो रहा है कि आखिर मेरी पुस्तक 'आवारा मसीहा' प्रकाशित हो गई है। 15 वर्ष का परिश्रम सफल हुआ। पुस्तक में 500 पृष्ठ डिमाई साइज के और 50 ब्लाक हैं। अनलेड मैटर है। इसलिए मूल्य 45 रु. रखा गया है। महंगाई के इस युग में इससे कम सम्भव नहीं था। बहरहाल यह काम पूरा हो गया। अब चाहे इसका कैसा भी स्वागत हो। कमला बहन से भेंट हो तो उनको सूचना दे दीजिएगा। और सब ठीक है।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(13)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक : 11.4.75

प्रिय भाई,

पत्र मिला। आभारी हूँ कि आप याद रखते हैं। पुस्तक प्रेस में गई। मेरी इच्छा है कि 15 सितम्बर को प्रकाशित हो। वह शरत् बाबू की जन्मतिथि है।

आपको अवश्य भेज दूँगा। रोज एक न एक पत्र आता ही रहता है। अचरज है अब भी शरत् में लोगों की इतनी रुचि है। एवार्ड, पारितोषक इन सबकी मुझे सचमुच चिन्ता नहीं। मैं तो एक छोटा-सा लेखक हूँ अपने आप में ही तृप्ति अनुभव कर लेता हूँ। वही सबसे बड़ा एवार्ड है।

रत्नाकर के पास अब सभी खण्ड मिल सकते हैं। मेरा तो अब उनसे झगड़ा हो गया है। आप दिल्ली या बम्बई लिख सकते हैं।

कमला जी प्रसन्न होंगी। मेरा नमस्कार कहें। मैं इधर न आ सका इसका दुख हो रहा है। बीच में फिर बात हुई थी पर झाँसी वालों ने ही प्रोग्राम स्थगित कर दिया इसलिए आपको नहीं लिखा।

शेष शुभ,

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(14)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक : 25.3.76

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। यात्रा पर विराम तो लगा। बरौनी नहीं गया। पर अभी बम्बई का कार्यक्रम शेष है। तिथि निश्चित नहीं है। शीघ्र ही होने को है।

स.सा. मण्डल की स्वर्ण जयन्ती की सूचना मुझे परसों ही मिली है। हो सकता है एक लेख लिख सकूँ। 'अमृत' का विशेषांक मैं नहीं देख पाया। क्या पता है! देखूँ अब मिल सके तो।

श्री तुषार घोष से कई बार भेंट हुई। प्रशंसा-निन्दा एवं साक्षेप शब्द है। बिहार के मुख्य मंत्री ने भी प्रशंसा की थी। हरियाणा के गवर्नर श्री चक्रवर्ती ने भी की। उतने ही निन्दा करने वाले भी हैं। चर्चा है यही उसकी सफलता है।

और प्रसन्न हैं न?

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(15)

नागपुर-440018
दिनांक : 07.9.82

प्रिय भाई,

एक युग के बाद आपका पत्र पाकर बहुत खुशी हुई। मेरा हार्दिक आभार लें। पत्नी के जाने के बाद मैं प्रायः घूमता ही रहता हूँ। 11 अगस्त को दिल्ली से निकला था। भोपाल, इन्दौर, माण्डू, महेश्वर, देवास होता यहाँ आया। यहाँ से भिलाई गया। अब कल अहमदाबाद जाऊँगा। वहाँ से बड़ौदा होता 19 सितम्बर तक दिल्ली लौटूँगा।

सुशीला जी नहीं हैं पर उनका चित्र उसी कमरे में लगा है, जो हर आने वाले से यही कहता है—मैं गई कहाँ हूँ, यहीं तो हूँ। इसलिए घूम-फिर कर यहीं पहुँच जाता हूँ। आपके पत्र ने द्रवित कर दिया।

बन्धुवर बलभद्र ठाकुर ने 'आवारा मसीहा' को जो सम्मान दिया उससे मुझे बहुत सुख मिला। आपके पत्र के साथ एक और पत्र मिला है स्वामी वाहिद काज़मी का। तीन दिन तक सब कार्यों को छोड़कर एक बार फल खाकर पढ़ते रहे। 'भाव विह्वल चन्द सतरें ही लिख सके हैं। कैसे पवित्र भाव से पढ़ा उन्होंने।

मैं तो भाई! मात्र निमित्त बना हूँ। वह व्यक्ति ही ऐसा था। सब श्रेय उसी को है।

नवनीत वाले लेख एक पुस्तक में आ गए हैं। मित्रों के 30-40 लेख हैं। उनके अपने 5-6 लेख हैं। पुस्तक का नाम है 'शुचि स्मिता'। सम्पादक प्रकाशक है जवाहर चौधरी, शब्दकार,

गली दुकोतान, तुर्कमान गेट, दिल्ली-110006 है। 200 से अधिक पृष्ठ हैं। मूल्य है—25 रु.।
यूँ उसे बेचने तथा लाभ पाने का विचार नहीं पर प्रकाशक की लागत निकल आवे इसलिए
20 रु. में देते हैं। वह भी आग्रह नहीं है।

श्री बलभद्र ठाकुर को मेरे प्रणाम पहुँचा दें। कहाँ हैं आजकल। चित्र दिल्ली जाकर भेज
सकूँगा। लिखना याद दिलाने को।

मेरा स्वास्थ्य ठीक है। जैसा हो सकता है। यूँ मन का खालीपन परेशान करता है। बड़े
भाई थे वे मेरे गाइड जैसे थे प्रचारक भी। वे भी पत्नी के एक माह बाद चल बसे। दाएँ-बाएँ
दोनों सहारे टूट गए। अकेले खड़े रहना कठिन हो रहा है। पर होना तो है ही। लेटकर पड़ना
नहीं चाहता। बाकी नियति क्या चाहती है कौन जाने, लिखता रहता हूँ।

और सब ठीक है। आप प्रसन्न हैं न? वे उरई वाली बहन कहाँ हैं।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(16)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक : 21.9.82

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। आपने ठीक लिखा है पर फिर भी 'आवारा मसीहा' का जो पात्र
है वह तो लीजैण्डरी चरित्र बन गया है। नाटककार और कथाकार होने के कारण मैं उसका
उपयोग कर सका।

पाठकों ने उसे बेहद पसन्द किया पर हिन्दी के स्वनामधन्य महा प्रभुओं ने उसे नकार
दिया। उन्होंने मुझे ही नकार दिया है और मैं स्वयं मानता हूँ कि मैं महान लेखक नहीं हूँ।
कालजयी लेखक विरले होते हैं, खैर हम उसकी चिन्ता क्यों करें।

इस पुस्तक को लिखते समय मैंने सदा आनन्द का अनुभव किया। शरत् को मैंने प्यार
किया है। आँसू तो पवित्र करते हैं। लिखूँगा कभी उनकी भी कहानी।

'शुचि स्मिता' मिल गई होगी। मेरी शक्ति का स्रोत उसी पुस्तक में है।

और सब ठीक है।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(17)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक : 28.7.83

प्रिय बन्धु,

पत्र मिला। मैं इधर काफी अस्वस्थ रहा। कार्य भी बहुत है।

शरत् साहित्य का सर्वोत्तम अनुवाद तो वही था जो प्रेमी जी ने छापा था। इधर जो छपे हैं मैंने नहीं पढ़े। हंस कुमार तिवारी ने कुछ उपन्यासों का किया था।

मैं इधर कुछ नहीं लिख सकूँगा। शरत् के शिल्प पर बंगला में पुस्तकें हैं। हिन्दी में शोध ग्रंथ हैं पर छपा शायद एक ही है। आपने जो पुस्तक की सूची दी है उनमें से मेरे पास 6-7 हैं पर उन्हें भेज पाना मेरे लिए सम्भव न होगा। अकेला हूँ। क्या कोई दिल्ली आकर उन्हें नहीं देख सकता। ले जाना चाहे तो ले जा सकता है। मैं 6 ता. तक यहाँ हूँ फिर सितम्बर के प्रथम सप्ताह में मिलूँगा। उसके बाद अक्टूबर के दूसरे सप्ताह में।

और सब ठीक है। आप सानन्द होंगे।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(18)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक : 23.6.89

प्रिय बंधु,

आपका पत्र मिला। आपने जो काम मुझे सौंपना चाहा है, उसे कर पाना मेरे लिए संभव नहीं दीखता।

दिल्ली में सब लोग दूर-दूर रहते हैं। मिलने के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है। इस काम के लिए आपको दिल्ली आना होगा, और कुछ समय लेकर आना होगा।

समीक्षाएँ जो मेरे पास हैं, वे मैं अवश्य उपलब्ध करा सकता हूँ। पत्रों की तो कोई सीमा नहीं। आप देख लीजिएगा। पुस्तकें भी मिल जाएँगी।

मैं 30 तारीख को यहाँ से निकल रहा हूँ। 17-18 जुलाई तक लौट सकता हूँ, लेकिन फिर मुझे बाहर जाना है। अगस्त में ही आपसे भेंट हो सकेगी।

इन दिनों मैं बहुत ही परेशान हूँ। आशा है, सितंबर तक मेरी कुछ समस्याएँ सुलझ जाएँगी। और सब ठीक है।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(19)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक : 6.11.91

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। आपने अपनी परेशानी का उस दिन जरा भी जिक्र नहीं किया। लेकिन मैं समझ नहीं पाया कि आपके साथ यह कैसे हुआ। खैर अच्छा अनुभव हुआ।

डॉ. अग्निहोत्री के पत्र की प्रतिलिपि आपको भिजवा दी थी। आशा है अब तक मिल गई होगी। न मिली हो तो लिखें फिर भिजवा दूँगा। बाकी सब वैसा ही चल रहा है जैसा आप देख गए थे। तबियत बहुत ठीक नहीं रहती और काम का भी बहुत जोर है।

सबको मेरा स्नेह स्मरण। दीपावली की शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

(20)

818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट,
दिल्ली-6
दिनांक : 28.10.92

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला।

‘वीणा’ में आपने ‘आवारा मसीहा’ की कहानी पढ़ी। पूरी कहानी तो मैं उसमें लिख नहीं सकता था अगर मैं अपने पूरे अनुभव लिखूँ तो वह एक सौ-डेढ़ सौ पेज की पूरी पुस्तक बन जाएगी बल्कि कुछ अधिक ही। लेकिन न तो अब समय रहा न स्वास्थ्य ही। आँखें बहुत खराब हो गई हैं, रक्तचाप भी परेशान कर रहा है इसलिए अब सब काम छोड़ दिए हैं, सभा, सोसायटी बाहर आना-जाना सभी। जीवन के शेष वर्ष अपने काम को समेटते हुए बिताना चाहता हूँ। मन से लिखने की इच्छा होगी तो लिखूँगा भी। अभी सौ-सवा सौ पृष्ठ का उपन्यास लिखा है। इसके लिए किसी न किसी सहयोगी की सहायता की आवश्यकता होती है। इस समय तो वह सहायता उपलब्ध है और काम सुचारु रूप से चल रहा है। आप मेरा उपन्यास खरीद लाए ठीक है, पढ़िए। ग्रंथावली के नौ खण्ड निकल गए हैं और तीन प्रेस में हैं। तीन में तैयार कर रहा हूँ जिनमें दो देश-विदेश की यात्राओं के होंगे और एक में होंगे मेरे लघु उपन्यास। अन्त में कहानियों के खंड होंगे, चार तो हो ही जाएँगे। यह एक रूपरेखा है, कैसे पूरी होगी, देखा जाएगा। अभी तो कुछ न कुछ करता ही रहता हूँ। यादों का मूल्य अवश्य होता है भले ही अपना स्वार्थ क्यों न हो। खैर, आप सब स्वस्थ और प्रसन्न हैं, दीपावली की हार्दिक शुभकामनाओं के साथ।

स्नेही,
विष्णु प्रभाकर

संदर्भात्मक टिप्पणियाँ

पत्र क्रमांक-1

1. शरत् चन्द्र के सम्बन्ध में मेरी पुस्तक यहाँ 'आवारा मसीहा' की ओर संकेत है। उन दिनों इस पुस्तक का लेखन-कार्य चल रहा था।
2. काका साहब की जीवनी— आचार्य काकासाहेब कालेलकर एक गाँधीवादी साहित्यकार। Gandhian Patriarch नाम से बम्बई से इनकी जीवनी निकली थी।

पत्र क्रमांक-2

1. चलन्तिका—बाङ्ला का प्रसिद्ध कोश जिसे राजशेखर वसु (1880-1960) ने तैयार किया था। ये परशुराम नाम से बाङ्ला में हास्य-व्यंगपूर्ण कहानियाँ लिखा करते थे। यही प्रफुल्लचन्द्र राय की बंगाल केमिकल कम्पनी के मैनेजर भी थे। इन्होंने 1937 में अपना प्रसिद्ध कोश 'चलन्तिका' संकलित किया था। इसके अलावा 'भारत की खनिज सम्पदा', 'भारत के कुटीर उद्योग-धन्धे' तथा 'वाल्मीकि रामायण', 'महाभारत', 'मेघदूत' और 'हितोपदेश' की कहानियों का अनुवाद भी किया था। इन्हें रवीन्द्र और साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला था।
2. संसद बंगला अभिधान— इसका सही नाम संसद बांग्ला अभिधान है। इसे शैलेन्द्र विश्वास (1918-1972) ने 1957 में संकलित किया था। बाद में इसके कई संशोधित व परिवर्धित संस्करण निकले जिनके संशोधन और संकलन में क्रमशः शशिभूषण दास गुप्त, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य और सुभाष भट्टाचार्य ने प्रभूत परिश्रम किया। इसका दूसरा संशोधित संस्करण 19 नवम्बर, 2000 ईस्वी में निकला था। इसका पंचम मुद्रण 2003 में हुआ। आजकल यही चल रहा है।

पत्र क्रमांक-3

1. महादेवी वर्मा— दरअसल महादेवी वर्मा के बारे में शिवचन्द्र नागर ने एक पुस्तक लिखी है। यह पुस्तक पत्र रूप में है। इसमें विश्वम्भर 'मानव' और शिवचन्द्र नागर के बीच महादेवी वर्मा के बारे में पत्र-व्यवहार है। इस पत्र में उसी का सन्दर्भ है।
2. स्मृतिचारण— श्री अरविन्द के पट्ट शिष्य और बंगाल के विख्यात संगीतज्ञ, साहित्यकार श्री दिलीप कुमार राय ने 'स्मृतिचारण' शीर्षक से दो खंडों में अपने संस्मरण लिखे हैं। यह उनकी आत्मकथा भी है। इनके दूसरे खण्ड में शरत् चन्द्र की विस्तार से चर्चा है और शरत् के कई पत्रों का सन्दर्भ भी है। अपने एक पत्र में मैंने इसी सम्बन्ध में लिखा था कि यदि आपको जरूरत हो तो मैं यह पुस्तक आपको भेज दूँ।

पत्र क्रमांक-4

1. संस्कृति के परिव्राजक— सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित काकासाहेब कालेलकर का अभिनन्दन ग्रन्थ। इसमें उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर महत्वपूर्ण लेख दिए गए हैं। इसे मैंने विष्णु प्रभाकर जी के माध्यम से मँगवाया था।

पत्र क्रमांक-6

1. महादेव भाई देसाई की डायरी— महादेव भाई देसाई गाँधी जी के सचिव थे। ये प्रतिदिन अपनी डायरी में महात्मा गाँधी के कार्यकलापों के साथ अपने बारे में भी लिखा करते थे। बाद में यह डायरी बनारस से 20 खण्डों में निकाली गई थी। मैं इसका अग्रिम ग्राहक बन गया था। यहाँ उसी का सन्दर्भ है।

पत्र क्रमांक-7

1. भारत सावित्री— श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'भारत सावित्री' शीर्षक से तीन खण्डों में महाभारत पर एक पुस्तक लिखी थी जिसे सस्ता साहित्य मण्डल ने छापा था। इस पत्र में इसके दो खण्डों का जिक्र है क्योंकि उस समय इसके दो ही खण्ड छपे थे।

पत्र क्रमांक-8

1. माध्यम में— सम्मेलन की 'माध्यम' पत्रिका में विष्णु प्रभाकर जी की किसी पुस्तक की समीक्षा निकली थी। अपने पत्र में मैंने उसी की चर्चा की थी। विष्णु प्रभाकर जी ने समीक्षकों को कभी महत्व नहीं दिया। वे निन्दा-स्तुति से निरपेक्ष होकर जीवन भर अपना काम करते रहे। अपने पत्र में उन्होंने लिखा : सभी पत्रों में प्रायः व्यक्ति कटु आलोचना करते हैं। उसकी मुझे विशेष चिन्ता नहीं है।
2. विष्णु प्रभाकर जी को सदा आर्थिक संघर्ष करना पड़ा। इस पत्र में उसी की चर्चा है।

पत्र क्रमांक-9

1. श्री बनारसीदास चतुर्वेदी अभिनन्दन ग्रन्थ— प्रेरक साधक शीर्षक से सस्ता साहित्य मण्डल ने इन्हीं दिनों चतुर्वेदी जी पर एक बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ निकाला था। इसमें ब्रज संस्कृति, बुन्देलखण्ड, पत्र-साहित्य और चतुर्वेदी जी के पारिवारिक जीवन के बारे में भी सामग्री दी गई थी। उसमें चतुर्वेदी जी के कुछ चुने हुए पत्र भी थे।
2. गाँधी जी के पत्र— गाँधी जी या तो अंग्रेजी या गुजराती में पत्र लिखा करते थे। पर जमुनालाल बजाज को लिखे सारे पत्र हिन्दी में हैं। जमुना लाल बजाज गाँधी जी के एक तरह के खजांची थे। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति गाँधी जी के आश्रम के लिए समर्पित कर दी थी।
3. उग्र या मुक्तिबोध— पांडेय बेचन शर्मा उग्र और मुक्तिबोध के पत्रों के बारे में मैंने पूछा था। यहाँ उसी की चर्चा है।
4. उग्र के पत्र-फाइल— प्रोफाइल शीर्षक से आगरा से निकले थे और मुक्तिबोध के पत्र बाद में नेमिचन्द्र जैन के सम्पादन में राजकमल प्रकाशन ने छापे।

पत्र क्रमांक-10

1. पुस्तक पूरी हो गई— यहाँ आशय 'आवारा मसीहा' से है। कलकत्ते से कुछ नई सामग्री मिली थी। उसी को 20 पृष्ठों में टाइप कराने के बाद पाण्डुलिपि देनी थी।
2. 4-5 माह— पुस्तक प्रकाशन में 4-5 माह लग जाएँगे।

पत्र क्रमांक-11

1. मेरा रवीन्द्र और निराला सम्बन्धी शोध प्रबन्ध।
2. मृच्छकटिकम्— आजकल विष्णु प्रभाकर जी कुछ संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर उपन्यास लिखाने और कुछ पर स्वयं लिखने की योजना में व्यस्त थे। 'मृच्छकटिकम्' के आधार पर उन्होंने एक उपन्यास लिखा था। यहाँ उसी का संकेत है।
3. कमला जी की थीसिस—शरत् और प्रेमचन्द्र के नारी पात्रों वाली थीसिस।

पत्र क्रमांक-12

1. 15 वर्ष का परिश्रम सफल हुआ— 'आवारा मसीहा' लिखने में प्रभाकर जी को 15 वर्ष लग गए। फरवरी, 74 में यह पुस्तक छपकर आई।
2. अब इसका चाहे जैसा स्वागत हो— पाठकों ने 'आवारा मसीहा' को सिर आँखों पर लिया।

पर बड़े-बड़े दिग्गज इससे उदासीन रहे। बंगाल में इसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। पहला संस्करण इसका बहुत जल्दी समाप्त हो गया।

पत्र क्रमांक-13

1. पुस्तक प्रेस में गई— 'आवारा मसीहा' का दूसरा संस्करण।
2. इच्छा है— प्रभाकर जी चाहते थे कि दूसरा संस्करण 15 सितम्बर शरत् की जन्म तिथि पर प्रकाशित हो जाए।
3. अब भी शरत् में लोगों की इतनी रुचि है— एक वर्ष में 'आवारा मसीहा' जैसी पुस्तक का पहला संस्करण समाप्त हो जाना इसका प्रमाण है। पुस्तकालयों के एक सर्वेक्षण से पता चला था कि सर्वाधिक उपन्यास पाठक शरत् के ही पढ़ने को लेते हैं। उसके बाद नम्बर प्रेमचन्द का है।
4. एवार्ड, परितोषक— मैंने एक पत्र में लिखा था कि इस पुस्तक पर आपको अकादमी पुरस्कार मिलना चाहिए। उसी उत्तर में उन्होंने लिखा था कि एवार्ड-परितोषक की मुझे सचमुच चिन्ता नहीं है।
5. 'रत्नाकर' के पास— मैंने शरत् की पुस्तकों के बारे में लिखा था। उनका कहना था कि हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर के यहाँ से शरत् साहित्य के अनुवाद के सभी खण्ड मिल सकते हैं।
6. मेरा तो उनसे— हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर के उत्तराधिकारी चाहते थे कि 'आवारा मसीहा' उन्हीं को दी जाए किन्तु, उनकी हालत और उनका व्यवहार अब अच्छा न होने से विष्णु प्रभाकर जी ने उन्हें नहीं दी।
7. मैं उधर न जा सका— एक कार्यक्रम में झाँसी आने की बात थी। तभी प्रभाकर जी ने कमला जी को लिखा था कि मैं उरई भी आऊँगा पर झाँसी वालों का कार्यक्रम रद्द होने से फिर वे उरई भी न आ सके।

पत्र क्रमांक-14

1. 'अमृत' का विशेषांक मैं नहीं देख सका—दैनिक 'अमृत प्रभात' का एक विशेषांक निकला था जिसमें तुषारकांति घोष ने 'आवारा मसीहा' की प्रशंसा की थी। इसमें उसी का संदर्भ है।
2. प्रशंसा-निन्दा सब सापेक्ष्य शब्द हैं— 'आवारा मसीहा' की प्रशंसा भी खूब हुई और निन्दा भी। इस पर विष्णु प्रभाकर जी ने लिखा : बिहार के मुख्यमंत्री ने भी प्रशंसा की थी। हरियाणा के गवर्नर श्री चक्रवर्ती ने भी की। उतने ही निन्दा करने वाले भी हैं। चर्चा हो यही उसकी सफलता है।

पत्र क्रमांक-15

1. बन्धुवर बलभद्र ठाकुर— हिन्दी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी कथाकार। सीतामढ़ी जिले के किसी गाँव में जन्म। शिक्षा-दीक्षा संस्कृत गवर्नमेण्ट कॉलेज काशी में। महामहोपाध्याय बालबोध मिश्र से विशेष प्रभावित। 'मुक्तावली', 'नेपाल की वो बेटी', 'घने और बने', 'देवताओं के देश में', 'लहरों की छाती पर' आदि उपन्यास तथा यात्रा वृत्तान्त के लेखक। अपनी यात्रा के क्रम में इन्होंने मेरे यहाँ जालौन में तीन दिन रुककर 'आवारा मसीहा' पढ़कर इसे अपने आँसुओं से बहुमान दिया था। उसी का विवरण मैंने विष्णु प्रभाकर जी को एक पत्र में लिखा था। इस पत्र में उसी का संकेत है।
2. स्वामी वाहिद काज़मी— हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक।
3. वह व्यक्ति ही ऐसा था— यहाँ पर शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय की ओर संकेत है। वे 'आवारा मसीहा' की लोकप्रियता का श्रेय शरत् को ही देते थे। किन्तु, अगर वे इतने परिश्रम से इतने सँभलकर उसे प्रस्तुत न करते तब?
4. नवनीत वाले लेख— अपनी धर्मपत्नी सुशीला पर स्मृति चारण के रूप में प्रभाकर जी ने नवनीत में एक लेख माला लिखी थी। उन लेखों समेत अन्य कई मित्रों के लेख 'शुचिस्मिता' में आ गए हैं। यहाँ उसी का सन्दर्भ है।

पत्र क्रमांक-16

1. 'आवारा मसीहा' का जो पत्र है— विष्णु प्रभाकर जी का मतलब शरत् चन्द्र से है। वह एक लीजेण्डरी चरित्र बन गया है।
2. हिन्दी के स्वनाम धन्य महाप्रभुओं ने— हिन्दी के तथाकथित मार्क्सवादी समीक्षकों की ओर संकेत है।
3. लिखूँगा कभी उनकी कहानी— 'आवारा मसीहा' लिखते समय व्यक्ति और लेखक विष्णु प्रभाकर किस यंत्रणा से गुजरा इसकी भी एक कहानी है जिसे प्रभाकर जी लिखना चाहते थे लेकिन वह फिर कभी नहीं लिखी जा सकी।
4. 'शुचिस्मिता'— अपनी पत्नी सुशीला की स्मृति में लिखे गए संस्मरणों वाली पुस्तक। सुशीला जी ही उनकी शक्ति थीं।

पत्र क्रमांक-18

1. आपने जो काम मुझे सौंपना चाहा है—'आवारा मसीहा' के बारे में मैंने एक योजना बनाई थी और उसमें सहायता करने का प्रभाकर जी से आग्रह किया था। उस योजना के तीन चरण थे।... 'आवारा मसीहा' पर हिन्दी में निकली समीक्षाएँ। हिन्दी साहित्यकारों का उस पर नजरिया। बाङ्ला में निकली उसकी समीक्षाएँ। उसकी तैयारी और उसके प्रकाशन के बाद आपको मिले पत्र। इस काम में प्रभाकर जी का सहयोग आवश्यक था पर, वे अपनी व्यस्तता के कारण यह काम नहीं कर सके। इसका एक कारण यह भी था कि 'आवारा मसीहा' सम्बन्धी उनके पास जो सामग्री थी, पत्र आदि वे एक फिल्म निर्माता ले गए थे। वे शरत् पर एक सीरियल बनाना चाहते थे। फिर वह सामग्री प्रभाकर जी के पास लौटकर नहीं आई।

पत्र क्रमांक-19

1. डॉ. अग्निहोत्री के पत्र की प्रतिलिपि— डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने 'आवारा मसीहा' पढ़कर विष्णु प्रभाकर जी को एक भाव पूर्ण पत्र लिखा था उसमें इस बात का जिक्र था कि किस प्रकार वे एक बार शरत् से मिलने गए थे और एक सज्जन ने उन्हें मिलने नहीं जाने दिया। बाद में वे उनकी शवयात्रा में शामिल हो पाए थे, उनसे भेंट नहीं कर पाए। बाद में यह पत्र प्रभाकर जी ने मुझे डाक से भेज दिया था जो महत्वपूर्ण होने के कारण यहाँ दिया जा रहा है।

आदरणीय

प्रभाकर जी,

भावुक होने के कारण मैं चढ़ती उम्र से ही शरत् का भक्त रहा। कलकत्ता गया तो उनसे मिलने की इच्छा की किन्तु भेंट की बात नहीं बनी। एक दिन सब कुछ मालूम कर मैं उनके दर्शनार्थ निकला। मजेदार किस्से उनके विषय में सुन रखे थे। रास्ते में भगवतीचरन वर्मा मिले। मेरे मित्र थे। मैंने बताया तो हाथ पकड़कर वापिस खींच ले गए विचार कार्यालय में—यह कहते हुए कि क्या करोगे इतनी दूर जाकर, परेशान होकर। वह विलासी मध्यवर्गीय समाज के ग्रन्थि ग्रस्त लेखक हैं। मिलना हो तो प्रेमचन्द से मिलो। मैं प्रेमचन्द से कई बार मिला था। मैंने कहा कि रेशम और खादी दोनों अपनी-अपनी जगह उत्तम है। पर भगवती बाबू पर उन दिनों राष्ट्रीयता का भूत चढ़ा था, सो उन्होंने जाने नहीं दिया। महीने भर बाद ही शरत् बाबू का निधन हो गया। बीमारी का पता मुझे नहीं था। वह घोर बंगाली समाज में रहते थे और मैं उनसे प्रभावित था। निधन की बात सुनकर मैं पागल-सा दौड़ता गया और शव को कन्धा दिया। उस दिन मैं सारे रास्ते रोता रहा। आपकी पुस्तक के प्रति ममता का एक कारण यह भी है और नियति का मजाक देखिए कि अब यह पुस्तक निकली तो काफी शोर हुआ। मैंने भी कॉलेज में पुस्तक मँगवाई और घर ले आया। मगर कोई सज्जन उठा ले गए। मुझे आज तक पता नहीं चला। फलतः पढ़ने से वंचित रह गया। अब इतनी देर से जो यह फिर मिली तो लगता है कि जैसे शरत् बाबू ने ही उस दिन आपको मेरे घर भेजा और पुस्तक की बात निकलवाई। मेरे लिए यह उनका श्राद्ध-दिवस ही है। आपका बड़ा कृतज्ञ हूँ।

ब्लेड

श्रीकांत दूबे

जीन हमारी देहों में पैतृक लक्षणों के संवाहक होते हैं। लेकिन हमारे जिस्म की हरकतों में बहुत सारे ऐसे गुण भी छुपे होते हैं जो बिलकुल नए और अजीब कारकों से पैदा हों। उस पहले कारक, यानी जीन का असर मुझ पर यूँ है कि मैं पिता की तरह फिजूल लंबाई चौड़ाई का तथा माँ के जैसा चुप्पा और खूबसूरत पैरों वाला आदमी हूँ।

लेकिन मेरे दाँतों के बीच किरकिरी होने की कोई दूसरी ही वजह है।

ऐसा होने पर हर बार मुझे लगता है कि किसी ने दाँतों के बीच एक मुट्टी रेत बुरक दी हो। मेरे दाँत, दाँतों से सट जाते हैं और जबड़े एक दूसरे के ऊपर जब्त रहते हैं। इस तरह की त्रासद किरकिरी से गुजरना मेरे साथ ऐसे किसी भी वक्त में हो सकता है, यदि कल्पना और स्वप्न से लेकर हकीकत के बीच तक कहीं से भी मेरे सामने एक ब्लेड आ जाए।

वे मेरे बचपन के दिन थे और माँ एक अजूबा थी। अजूबा खूबसूरत फूलों वाला एक पौधा था। उसकी जड़ें सघन पंजे की तरह जमीन को जकड़े रहती थीं। उसकी मोटी पत्तियों पर अनेक आँखें होतीं, जहाँ से नन्हें कल्ले फूटते थे। धीरे-धीरे कल्लों में भी जड़ें उग आतीं और फिर वे अलग पौध के रूप में दूसरी जगह रोप दिए जाते थे।

तब, माँ और मैं एक दूसरे के सबसे करीब रहते और अपनी हरकतों पर आसमान की तरह छाए पिता के शासन में परस्पर के दुख दर्द बखूबी समझते थे।

पिता एक मशीन थे। वह ईंधन की तर्ज पर खाना खाते और सजा देना अनिवार्य समझते थे। इस अधोषित, लेकिन सर्वमान्य कानून के कारण ही उनका हुक्म बजाने वाले कमीन बार-बार बदल दिए जाते थे। नए कमीन सबसे अच्छा काम करने वाले होते और नौकरी से हटाए जाने

के बाद किसी और काम के लायक नहीं रह जाते थे। यह सजा देने की अनिवार्यता के कारण ही होता था, जिसके लिए अपराध का प्रावधान भी पिता खुद ही कर देते थे।

पिता से मिलने वाले दंड की दहशत पूरे घर पर बरसाती हवा में नमी की तरह छाई रहती थी। चाचा, इसके किसी प्रत्यक्ष प्रकोप से बचने के लिए हफ्तों तक उनके सामने नहीं जाते। घंटों दिन चढ़े घर से निकलते और एक हिस्सा रात गए वापस आते थे। यह दोनों समय, क्रमशः पिता के घर से बाहर और नींद के भीतर होने का होता था। लिहाजा चाचा को घर की खामोशी में बस एक खौफ ही बची मिलती, जिससे समझौता कर लेने की उन्हें आदत थी।

घर के पिछले हिस्से में एक बागवानी थी। उसमें कभी आम के बहुत सारे पेड़ हुआ करते थे, जो मेरे दादा के लगाए हुए थे और खास तौर से कलकत्ते से मँगवाई नस्ल के थे। पेड़ों के नीचे की साफ सुथरी जमीन पर मजदूर औरतें धान की कुटाई और गेहूँ की मड़ाई किया करती थीं। घर की औरतों के लिए उँचाई पर खुलते रौशनदानों वाले बंद, दैत्याकार कमरे थे।

लेकिन दादा के गुजरने के बाद पिता ने सब कुछ अपने हाथों में ले लिया और बागवानी की तस्वीर भी समूची बदल डाली। सारे पेड़ काट दिए गए और उनके बीच खुदा गहरा कुआँ भी बंद कर दिया गया। उसमें गाँव के मजदूरों का प्रवेश भी रोक दिया गया तथा उंची चारदीवारी से घिरकर वह एक विशाल आँगन में तब्दील हो गया। उसके भीतर विदेशी घास के मखमली पौधे रोपे गए और जगह-जगह लीची तथा पोस्ता फूल के पौधे लगा दिए गए। अब पिता की अनुपस्थिति में, घर की औरतें भी बागवानी में घूम टहल सकती थीं। सो, माँ ऐसा करने भी लगीं। लेकिन पिता की आहट भर से उन्हें कोप भवन सरीखे कमरों की कतार में कहीं घुस जाना होता था। औरतों को मिली किसी भी तरह की छूट का वे कोई दूसरा उपयोग न कर सकें, इसलिए घर के अंदरूनी काम काज उन्हीं के जिम्मे छोड़े गए थे। मसलन रसोई घर से जुड़ते प्रसंग और बच्चों की देख रेख और साफ सफाई के सारे काम।

पिता के खाने में नमक मिर्च के अनुपात का उनकी पसंद से अलग हो जाना तथा हमारे स्कूली सफेद कपड़ों पर धूल का कतरा भी उन्हें बर्दाश्त नहीं हो सकता था। लिहाजा रसोई में थाली की झनकार तथा किसी भद्र गाली के बाद एक नए नियम की ललकार कभी भी सुनाई दे जाती थी।

उन दिनों तक लोग अपने जीवन में तकनीकी विकास को पर्याप्त जगह देने लगे थे। लेकिन जाहिर तौर पर पिता की जिंदगी के अपने कायदे थे, जिसमें किसी बदलाव की गुंजाइश तभी थी, जब उनकी ऐसी मर्जी हो। मेरे सहपाठियों के पिता, जहाँ दाढ़ी बनाने का रेजर और ऑफ्टर शेव लोशन खुद से इस्तेमाल कर लेते थे, पिता की हजामत उस्तरे से बनती थी, जिसके लिए नाई नाम का एक आदमी सदा तत्पर रहता था।

मैं स्कूली शिक्षा की शुरुआती दो कक्षाएँ पार कर चुका था। और इन वर्षों के अनुभव से मैं स्कूल को पिता के प्रभाव से मुक्त मानने लगा था। इसका एहसास माँ को भी था और इसीलिए वह हर रोज मुझे उत्सुकता से तैयार करतीं, स्कूल भेजती थीं।

डॉली, प्रवीन, नीलू और मैं, जो कक्षा में सबसे जहीन तथा परस्पर अच्छे दोस्त थे, स्कूल में दोपहर के खाने के वक्त एक दूसरे के डिब्बे बदल लेते थे। यूँ अकसर तो हमारी पसंद के मुताबिक यह पहले से तय रहता था कि किसके डिब्बे का खाना कौन खाएगा, लेकिन कभी-कभार वाद-विवाद शुरू हो जाने पर हम एक छोटे से खेल के द्वारा इसका निर्धारण करते।

तीन लोग मिलकर चारों के डिब्बों के लिए एक से लेकर चार तक की संख्याएँ निर्धारित करते और फिर चौथे से पूछते कि फलां नंबर डिब्बा किसका? उत्तर के बाद अकसर हममें से किसी को भी अपनी पसंद का डिब्बा नहीं मिल पाता, लेकिन खेल के द्वारा हुए इस फैसले की हम पूरी कद्र करते और जिसके हिस्से में जो भी डिब्बा आता, उस रोज वह उसी डिब्बे का खाना खाता था। मुझे प्रवीन के डिब्बे का खाना खूब भाता, जिसमें उजली वृत्ताकार रोटियों के बीच गुड़ की डली या फिर ढेर सारा पीलापन लिए आलू की सब्जी रखी होती थी। कत्थई रंग के गुड़ तथा सब्जी के पीलेपन से सटी रोटियाँ रंगीन, खूबसूरत, यूँ मेरे लिए आकर्षक बन जाती थीं। डॉली चुपचाप किसी के भी खाने को खा लेती, प्रवीन को नीलू के डिब्बे से ब्रेड बटर और चॉकलेट पसंद आते और नीलू को मेरे डिब्बे में अलग-अलग खानों में सजे पराठे, भुजिया और मिठाई की तहजीब अच्छी लगती थी।

हम सभी अपने घरों से स्कूल तक पैदल पहुँचते थे। इसके लिए सबसे लंबी दूरी प्रवीन को तय करनी पड़ती थी। प्रवीन के घर से स्कूल के रास्ते में इमली का एक बागीचा भी आता था, जिसमें कई पेड़ों की गाँछें काफी नीचे तक आतीं और थोड़ी-सी मेहनत कर, वह अच्छी तादाद में इमली की फलियाँ हथिया लाता था।

इमलियों का मौसम दाँतों को सनसना देने वाले खट्टे स्वाद से भरा होता, जो प्रवीन के बस्ते में कैद रहता था। हम चारों अपनी मर्जी के अनुसार जरूरत भर की सनसनी और खट्टापन यानी इमली की फलियाँ निकाल लेते। लेकिन औरों के ऐसा करने पर रोक थी। इसके लिए उन्हें प्रवीन की रहमदिली का इंतजार करना पड़ता था। ढेर सारी मिन्नतें सुन लेने के बाद प्रवीन बस्ते से इमली की एक फली निकालता, किसी तानाशाह के उंगली की तरह उसे हवा में उठाता, फिर उसके टुकड़े-टुकड़े कर लड़कों में बाँट देता।

यूँ ही एक दिन उसने एक और इमली की फली निकाली, लेकिन उसे बाएँ हाथ में ही रखा और हवा में लहराया एक ब्लेड। वह उँगलियों के ताकत की जगह ब्लेड की हरकत से इमली के कई टुकड़े कर दिया। हम चारों अपने हिस्से की कतरनें उठा लिए। ब्लेड द्वारा इमली पर बनी काट, मुझे उसके खट्टेपन और दाँतों की सनसनी से अधिक रोचक लगी। मैंने देर तक उसकी काट को जीभ से छूकर खट्टा-सा महसूस किया और अगली तलाश में प्रवीन के बस्ते से इमली की फली के साथ ब्लेड भी खोज लिया।

मैंने ब्लेड को चुपके से अपने पैंट की जेब के हवाले कर दिया। कक्षाएँ खत्म होने पर, दो मजबूर पैरों ने मेरे थके जिस्म को घर पहुँचा दिया।

अगली सुबह भी रोज की ही तरह हुई और मैं स्कूल पहुँचा। मैंने प्रवीन के बस्ते से इमली की एक फली निकाली और उसे काटने के लिए अपनी जेब से ब्लेड की तलाश करने लगा। ब्लेड वहाँ से नदारद था। दरअसल माँ ने मुझे दूसरा पैंट पहना दिया था और पहले को सफाई के लिए अपने पास रख ली थीं। उस दिन का बाकी हिस्सा बाकी दिनों से इस मामले में अलग था कि वह अनजाने ही उस महीने की आखिरी तारीख निकल आया। महीने की आखिरी तारीख को हमारी छुट्टी आधे ही दिन की पढ़ाई के बाद हो जाती थी। क्योंकि बाकी के आधे दिन में शिक्षक पूरे महीने में विद्यार्थियों की उपस्थिति और फीस आदि का लेखा-जोखा ठीक करते थे। दोपहर में ही घर लौटते हुए मैंने फैसला किया कि अपने साथ वापस हो रहे डिब्बे का खाना, माँ की तमाम व्यस्तताओं के बावजूद, जिद करके उन्हीं के हाथों खाऊँगा। खुशी में मेरे पैर औसत से बड़े और तेज डग भरते हुए घर में दाखिल हुए।

लेकिन वहाँ मंजर कुछ और ही था। पैंट को धुलते वक्त उसमें पड़े ब्लेड ने माँ की

तर्जनी वाली उँगली में गहरी काट लगा दी थी। सफेद रंग की गीली पैंट पर खून का लाल धब्बा था और चाचा की उपस्थिति में कोई डॉक्टर राम जतन उँगली पर पट्टी लपेट रहा था।

हुआ शायद यूँ होगा कि सबसे पहले माँ ने मेरे पैंट को दूसरे कपड़ों के साथ डिटरजेंट पाउडर वाले पानी में भिगो दिया होगा। फिर वे रसोई में आकर मेरे लिए मूँगफली भूनने या फिर मसालेदार चना तैयार करने लगी होंगी। कुछ देर के बाद अचानक उन्हें स्कूल में बैठे हुए मेरी याद आई होगी। मेरी पूरी, छोटी-सी देह की याद, और उसे ढके हुए छोटे सफेद शर्ट और जैसे ही पैंट की याद। फिर माँ की याद अचानक आँगन में बाल्टी में भिगोए कपड़ों पर कूद गई होगी, उसमें भी मेरे छोटे से सफेद पैंट पर। माँ मेरे पैंट से शुरू कर बारी-बारी से सभी कपड़ों को धो देने का फैसला कर आँगन में आ गई होंगी। जाती ठंड और आती गर्मी का मौसम होने के नाते पानी रखे-रखे ठंडा हो गया होगा। माँ ने उसमें से मेरा पैंट निकाला होगा और उसकी जेब में किसी कागज के कमल, रबर, शार्पनर या एकाध चवन्नी, अठन्नी के निकल आने की उम्मीद कर अपना हाथ डाला होगा। पैंट की लटकती जेब में पड़े ब्लेड की दिशा उर्ध्वाधर रही होगी और उसकी एक ओर की धार माँ के दाएँ हाथ की तर्जनी के ठीक नीचे आ गई होगी। माँ के हाथ को तब तक पानी के ठंडेपन की आदत पड़ चुकी होगी और तब तक वे मेरे ही किसी खयाल में गहरे तक डूब गई होंगी। इसीलिए पैंट की जेब में नीचे की ओर बढ़ते हाथ को यह समझने में थोड़ी देर लग गई होगी कि ब्लेड की धार तर्जनी के अगले हिस्से के माँस को काटता जा रहा है। माँ को यह बात पूरी तरह से तब पता चली होगी जब ब्लेड उँगली के सामने के हिस्से के माँस को काटता हुआ उसके नाखून पर आकर रुक गया होगा। उसके बाद हाथ को बाहर निकालने की हड़बड़ी में माँ की उँगली के साथ वह ब्लेड भी जेब के मुहाने तक आ गया होगा। माँ ने चुपचाप ब्लेड को देखा होगा, पैंट को नीचे छोड़ दी होंगी और उँगली से टपकते खून को रोकने की जुगत में उसे दूसरे हाथ की किसी उँगली से दबाकर देर तक बैठी रही होंगी। इस बीच शायद चाचा के दिन के खाने का वक्त हो गया होगा, सो वे आँगन से होकर रसोई की ओर गुजर रहे होंगे कि माँ को यूँ बैठा देख कुछ पूछ पड़े होंगे। यूँ आगे डॉक्टर राम जतन को बुलाया गया होगा।

घर में मेरे दाखिल होते ही, पैंट पर और आँगन में खून का धब्बा देखते ही, मेरी नजर माँ से मिल गई। माँ झट से अपने दूसरे हाथ से आंखें पोछने लगीं। डॉक्टर राम जतन द्वारा उँगली पर पट्टी बाँध दिए जाने के बाद माँ उठकर मेरी तरफ आने लगीं। लेकिन मुझे जहाँ होना था, मैं उसके आसपास कहीं नजर नहीं आया। वह बेचैनी के साथ ढूँढते हुए मेरे नाम की कई आवाजें लगाईं, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। फिर वह एक कोने में चौखट से सिर टिकाकर बैठ गई और दूर-दूर तक किसी के न होने से आश्वस्त होकर पहले धीरे-धीरे फिर थोड़ा जोर से रोने लगीं।

मैं अनाज रखने के कमरे यानी बखार में, जहाँ अँधेरे में भूतों के होने के डर से मैं कभी नहीं जाता था, गेहूँ की बोरियों के ऊपर चुपचाप बैठ गया। माँ मेरी आँखों के सामने रोशनदान के उस पार बैठी थी। मैं, तब तक कई दफा अपने सपनों और खयालों में माँ के साथ बदसलूकी करने वालों के लिए फिल्मी तरीकों से हिंसक और अत्यंत खूँखार भी बन चुका था। लेकिन यहाँ माँ का अपराधी खुद मैं था। और स्वयं को भी कोई सख्त सजा दे देना चाहता था। मुझे किसी खाई में कूद जाने के लिए एक पहाड़ की जरूरत थी। डूब जाने के लिए किसी पोखर तथा जेल की सजा के लिए खाकी रंग की अदद पुलिस की जरूरत थी। अगर मैं बोरियों की ऊँचाई से भी कूद जाता, तो हद से हद कुछ खराबे ही आतीं, जो मेरे अपराध की सजा बतौर कतई नाकाफी था।

रोशनदान से दिख रही माँ और मेरे बीच की दूरी मेरे अपराधबोध से बेतहाशा भरी थी, जिसे मैं खुद को कोई दंड देकर ही घटा सकता था। और इसके लिए मैं वहाँ से देर तक नहीं हटने वाला था। लेकिन सूरज की लाल होती रोशनी और अपनी थम रही सिसकियों के साथ माँ अपनी जगह से उठने लगीं। जब वह छूटे पड़े कामों के लिए रसोई घर की ओर जाने लगीं, उनके गोरे चेहरे और रोने से लाल हो आई नाक से एक आत्मविश्वास की झलक आ रही थी। जैसे उन्होंने अभी-अभी कोई दृढ़ फैसला किया हो। मुझे यह फैसला अपने खिलाफ लगा। और माँ का मेरे खिलाफ होना, कल्पना में भी मेरे लिए असह्य था। बखार घर के अँधेरे में छुपे सारे भूतों ने एक साथ मुझ पर हमला कर दिया था। दिल में दहशत, अपराध और शर्म की भावनाएँ अपना चरम पार कर गई थीं और एक पतली हूक के साथ मैं रोने की शुरुआत कर चुका था। माँ और मेरे पैर एक दूसरे की ओर दौड़ गए। माँ ने मुझसे कुछ नहीं कहा और बाँहों में समेटकर फिर से फूट पड़ीं।

तारी खामोशी के बीच शाम ढली और वक्त आया पिता के खाने का। दो एक निवाले निगलने के साथ पिता ने डॉक्टर राम जतन के आने की वजह पूछ दी। माँ बताया कि गर्म पतीले से उँगली जल गई थी। पिता ने कहा कि जले पर पट्टियाँ नहीं लगतीं और गाँव के भरोसेमंद, लेकिन बिना डॉक्टरी डिग्री वाले चिकित्सक राम जतन के पिछले कई पुस्तों को अपशब्दों से नवाजने लगे। डॉक्टर राम जतन को भी उसके किए की सजा देने को तत्पर पिता ने चाचा से उसे बुला लाने का हुक्म दिया।

वह एक फैसले की घड़ी थी। माँ का झूठ अब देर तक नहीं टिकने वाला था। और झूठ के साबित हो जाने पर माँ को सजा मिलनी तय थी। माँ को मिलने वाली सजा के बदले मेरे अंदर कुछ भी कर देने का भाव दृढ़ हो चुका था। थोड़ी देर की चुप्पी को चाचा के शब्दों ने तोड़ा, 'उँगली जली नहीं थी, कट गई थी।' कहने के साथ चाचा आगे की कार्रवाही से हट जाने के लिए बाहर जाने लगे। लेकिन पिता की आवाज ने उन्हें फिर से रोक लिया। तभी एक दुस्साहस के साथ मैं बोल पड़ा, 'मैंने पैट की जेब में ब्लेड रखा था। धोते वक्त माँ की उँगली कट गई।'।

सब कुछ जहाँ का तहाँ रुक गया। माँ और चाचा की फटी निगाहें मेरे चेहरे पर तथा पिता की आँखें पहले फर्श और फिर पर की छत पर।

खाना नहीं खाया गया और कार्रवाई का अंत एक नई घोषणा के साथ हुआ, 'कल से यह स्कूल नहीं जाएगा और अगले हफ्ते इसे भइया के पास (शहर) पहुँचा दो।'।

अगले कई रोज तक माँ, मौके बेमौके मुझे खुद से चिपकाकर सिसकती रहीं। फिर एक दिन मैं चाचा के साथ शहर लाया गया, जहाँ मेरी बड़ी बहन को वर्षों पहले, कुछ ऐसे ही हालात में भेज दिया गया होगा। तब से अब तक हम दोनों ने बहुत सारी पड़ाइयाँ पूरी कीं। दीदी इस दौरान ऑस्ट्रेलिया और ब्रिटेन होते हुए परिवार के साथ अमेरिका में बस गईं। मैं भी समय-समय पर दुनिया के विभिन्न शहरों की उड़ानें भरता रहता हूँ।

समय के इस लंबे अंतराल ने जबकि हम दोनों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कल पुर्जों में बदल डाला है, हमारी दूरियों के केंद्र में बसती माँ भी, अब यह पूछने के लिए नहीं बचीं कि 'छुट्टियाँ कब हो रही हैं?'

मुक्ति दंश

ज्योति कुमारी

रीतिका ड्रेसिंग टेबल के सामने बैठी बड़े जतन से खुद को सजा-सँवार रही है... पीछे खड़ा अविनाश उसे अपलक निहार रहा है... फिर उसने बड़े अनुराग से उसे देखते हुए अपनी बाँहों की माला बनाकर रीतिका के गले में डाल दी...

क्या कर रहे हो?

प्यार...

हटो मुझे देर हो जाएगी...

कैसे हट जाऊँ जानेमन... आज तो कयामत ढा रही हो...सच, बला की खूबसूरत लग रही हो आज...

खूबसूरत? तुम्हें मुझमें खूबसूरती के सिवाय कभी कुछ और नहीं दिखता क्या... बड़ी सुंदर लग रही हो... बला की खूबसूरत लग रही हो... कमाल की लग रही हो... जँच रही हो... आफरीन-आफरीन... कयामत ढा रही हो... और पता नहीं क्या-क्या... शब्द अलग-अलग, लेकिन सबका मतलब एक... सुंदर... सुंदर... सुंदर... एक औरत में सुंदरता के सिवाय और कुछ नहीं होता क्या... तमक उठी थी वह।

तुम तो बुरा मान गई मेरी जान... मैंने तो बस...

मैंने तो बस तारीफ की थी और तुम बुरा मान गई, यही कहोगे न तुम... तो कभी यह तारीफ क्यों नहीं करते कि जानेमन वाउ कितनी इंटेलिजेंट हो तुम... कभी भूल कर भी यह क्यों नहीं कहते कि वाह क्या तर्क दिया है... हे यू आर सच अ ग्रेट स्कॉलर... कितनी इंटेलेक्चुअल हो तुम जान... बड़बड़ाती रीतिका गेट के पार निकल गई...

रीतिका तो निकल गई लेकिन अविनाश इस बात के पार न जा सका... वह उलझा रहा... जितना सोचता उतना ही और उलझता जाता।

सम्पर्क : E-mail : jyoti.rukmini@gmail.com, Mob. : 07428168649

क्या हो गया है रीतिका को... गुस्सा क्यों हुई... और गुस्से से तमतमाती रीतिका की एक और तस्वीर उसकी आंखों के सामने आ खड़ी हुई...

मैंने कहा न, मुझे तुमसे बात ही नहीं करनी...

पीछे-पीछे परेशानहाल अविनाश...

अरे मैंने किया क्या, इतना तो बता दो ऐ संगदिल हसीना...

मैं इतनी बन-ठन कर आई हूँ और इस पर दो शब्द भी नहीं...

बनी और ठनी तो तुम हमेशा ही रहती हो!

क्या कहा, वह आँखें नचाकर बोली।

ओह मेरा मतलब वह नहीं था, असल में मैं समझा ही नहीं तुम क्या कहना चाहती हो?

मैं कैसी लग रही हूँ, यह ड्रेस मुझ पर फब रहा है या नहीं, कुछ भी तो नहीं बताते हो तुम कभी... मुझमें तो कोई इंटरैस्ट ही नहीं तुम्हारा... बाकी लड़कियों के ब्वॉयफ्रेंड तो जब देखो तारीफ में ही लगे रहते हैं... बस एक तुम ही हो... बोलते-बोलते उसका मुंह फूल गया था। शायद मुझमें ही वह आकर्षण नहीं, जो तुम्हें लट्टू बना सके...

रीतिका का मूड देखकर अविनाश संभल कर बोला, ऐसा नहीं है जानेमन... तुम तो हमेशा ही मल्लिका-ए-हुस्न लगती हो... जो कभी-कभी खूबसूरत लगती हैं, तारीफ तो उनकी की जाती है। अब जिसकी प्रेमिका का सौंदर्य हर पल कहर ढाए, वह भला उसके कहर से बचे कि तारीफें करे, तुम ही बताओ...

फिर बहके... रीतिका का मूड थोड़ा ठीक हुआ था।

अविनाश ने उसे मनाना जारी रखा, जानेमन अगर मैं तुम्हारी खूबसूरती पर कुछ कहना चाहूँ तो एक तो मेरे पास इतनी काबिलियत नहीं है कि इस हुस्नो-जमाल को शब्दों में बांध सकूँ, उस पर से मुझे यह कतई पसंद नहीं कि किसी भी चीज को बांधू, चाहे वह हुस्न हो या आजादी...

तुम नहीं सुधरोगे अविनाश!

अरे सुनो, तो मैं यह कह रहा था कि दूसरे यह कि गर मैं ऐसी कोई कोशिश भी करूँ तो इसके मुझे एक माला खरीद कर आसन लगाना होगा...

माला... आसन... वह क्यों भला? क्या बक रहे हो... एक तो तुम्हारी इन बकवास बातों ने ही मेरा जीना हराम कर रखा है और अब तुम बुझौवल भी बुझाने लगे... वह फिर आपे से बाहर हुई, मेरे धीरज की परीक्षा न लो...

पल-पल जो सौंदर्य निखरे उसके लिए तारीफों की माला जपना ही तो एकमात्र ऑप्शन बचता है न जानेमन... वह मुस्कुरा कर चुहल करता हुआ बोला- और हाँ, ये तुम्हारा धीरज कौन है?

मुस्कुरा तो वह भी दी थी, लेकिन इठलाती हुई बोली- चुप करो... हमेशा शैतानी करते रहते हो... और ये क्या... एक तो तारीफ करने में इतनी कंजूसी करते हो, उस पर से उसमें भी अपनी विचारधारा ठेल देते हो...

अब लो, चुप रहो तो कहती हो कि बोलते नहीं और बोलो, तो कहती हो कि चुप करो... इट्स नॉट फेयर यार... और रही इस विचारधारा की बात तो उसके बिना तो जानवर भी जी लेते हैं। जो मजबूत होगा, वह राज करेगा, यह सिद्धांत हमने उनके ही यहाँ से तो लिया है। हम मनुष्य हैं, हमारी थ्योरी और उनकी थ्योरी में कोई तो अंतर होना चाहिए न...

बस... बस... बस... आ गई ये मेरी सौतन विचारधारा फिर... और वह जोर से हँस पड़ी...

ये वे दिन थे जब रीतिका और अविनाश का प्यार परवान चढ़ रहा था। कॉलेज में क्लास खत्म हुआ नहीं कि दोनों एकमेक होने के लिए एकांत ढूँढ़ने लगते... कॉलेज में दोस्तों ने इन्हें दो दिल एक जान कहना शुरू कर दिया था। जो इनके फ्रेंड सर्किल में नहीं थे, उनकी जुबान पर भी इनका ही नाम था... होता भी क्यों नहीं, बढ़हिया जैसी छोटी जगह पर जहाँ सब एक-दूसरे को जानते हैं, वहाँ पर इस तरह खुलेआम हाथ में हाथ डाले घूमना बड़े दिल-गुर्दे का काम है। उन लोगों ने इस जोड़े का तरह-तरह का नाम रख डाला था- मसलन, हमबदन, दो जिस्म एक जान, आधुनिक लैला-मजनूँ... कॉलेज के मनचलों की फब्तियों में भी यही जोड़ा था- जवानी दीवानी, प्यासी जवानी, तड़पती जवानी...

लेकिन इन सब बातों से बेपरवाह अविनाश को कोई बात अगर परेशान करती थी तो वह थी रीतिका का क्षणे रूष्टा, क्षणे तुष्टा, रूष्टा तुष्टा क्षणे-क्षणे... ब्रांड स्वभाव।

अविनाश एक धीर-गंभीर पढ़ाकू स्टूडेंट। मार्क्सवाद जिसके रग-रग में लहू बन कर दौड़ता था। जुझारू एक्टिविस्ट। वह भला क्या जाने चूड़ी, बिन्दी, लिपस्टिक की तारीफ...। सर्वहारा वर्ग की हिमायत करने के कारण वह कई बार जेल भी जा चुका था... वह तो जब किसी को अच्छे कीमती कपड़े पहने देखता, तो उसके दिल से आवाज आती- जहाँ लाखों लोगों को तन ढँकने के लिए कपड़ा तक मयस्सर नहीं हैं, वहाँ इतने कीमती कपड़े... ये अय्याशी नहीं तो और क्या हैं! कब पटेगी ये अमीरी और गरीबी की खाई। वह जब मेकअप से पुती और गहनों से सजी लकदक महिलाओं को देखता तो सोचता, कितनी औरतें कुपोषण और भूख से मर रही हैं। काश! गहनों और मेकअप पर खर्च होने वाली यह रकम उन बेबस निरीह महिलाओं तक पहुँच पाती... तभी झटका लगता उसे कि मैचिंग ज्वेलरी, हैवी मेकअप, कीमती कपड़े और एसेसरीज से सजी लड़की कोई और नहीं उसकी रीतिका ही है... और वह गुस्से से पैर पटक रही है कि उसने तारीफ तक नहीं की। ध्यान से देखा तक नहीं कि पिछली बार इस ड्रेस के साथ जो ज्वेलरी पहनी थी, वह दूसरी थी। यह बिलकुल नई ज्वेलरी सेट है... इंपोर्टेंट। जोर डालने पर भी अविनाश को याद नहीं आता कि पिछली बार रीतिका ने इस ड्रेस के साथ कौन सी ज्वेलरी पहनी थी। उसे तो इतना भी याद नहीं आता कि रीतिका ने कल कौन-सी ज्वेलरी पहनी थी।

चलो छोड़ो, सिर्फ इतना बता दो कि मेरे पास कौन-कौन सी ज्वेलरी है? नहीं याद है न... किसी एक ज्वेलरी को बता दो बस्स...

अविनाश इतना भी नहीं बता पाता था और रीतिका गुस्से से आग-बबूला हो उठती थी। वह अविनाश से बात करना बंद कर देती थी। अविनाश से यह सहन नहीं होता था और वह उससे माफी माँगता, दोबारा... दोबारा हरगिज ऐसा न होने की कसमें खाता, वादे करता, उसे घंटों मनाता तब कहीं जाकर रीतिका का गुस्सा ठंडा होता।

अभी कितनी मुश्किल से संडे को ठंडा किया था, उसने रीतिका का गुस्सा। मैगजीन का विशेषांक प्लान होने से लेकर फाइनल होने तक पूरे डेढ़ महीने वह बिना ऑफ लिए दिन-रात काम करता रहा था। मुश्किल से चार-पाँच घंटे सो पाता, कभी-कभी दफ्तर में ही उसका शयन कक्ष सज जाता... अब दो दिन का ऑफ मिला था... सटरडे तो वह दिन भर सोता रहा और संडे अपनी जानेमन के साथ बिताने का प्रोग्राम बनाता रहा। लेकिन वह तो नाराज हो गई। क्या होता जा रहा है इसे? पहले तो ऐसी न थी, पहले कभी किसी छुट्टी के दिन अगर आउटिंग

का प्रोग्राम नहीं बनाता था, तब नाराज होती थी- अब तुम मुझे प्यार नहीं करते। तुममें मेरे लिए अब पहले वाली गरमाहट नहीं रही। कब तक आओगी जान, न पूछो तो गुस्सा कि तुम्हें मेरी परवाह ही नहीं है। ऑफिस से दो-चार बार फोन न करो तो नाराज कि बढ़हिया में तो जब देखो बात करने का मौका ढूँढ़ते रहते थे, मुझे लेकर हमेशा उतावले रहते थे...अब तुम बदल गए हो...

हाँ, सच में मैं बदल गया हूँ। उसकी खुशी के लिए वह सब करने की आदत डाल ली है मैंने। वह खुश भी रहने लगी थी, फिर क्या हुआ इसे कि अब मेरी हर उस बात पर उखड़ी-उखड़ी रहने लगी है, जो न बोलने के लिए कभी वह मुझसे उखड़ी-उखड़ी रहती थी... ये गंगा की धार उलट कैसे गई... समबडी हेल्प मी... क्या करूँ मैं, कोई तो बताए मुझे...

क्या करूँ कि ना करूँ ये कैसी मुश्किल हाय...

कॉलेज के दिनों में जब रीतिका यह गाना बजाती तो अविनाश जगजीत सिंह की गजल अब तो राशन की दुकानों में नजर आता हूँ... की जिद करता... और अक्सर यह सोचता कि वह और रीतिका कितने अलग हैं... इसकी सोच तो मुझसे जरा भी नहीं मिलती फिर प्यार कैसे हो गया उससे...

इसकी भी एक कहानी है... हाँ, इसके पीछे की कहानी शुरू होती है हर साल की तरह उस साल भी खुटहा में गंगा जी के कहर बरपाने से। उस बाढ़ में सैकड़ों घर बह गए थे। जबरदस्त जान-माल की हानि हुई थी। लोग दाने-दाने के लिए तरस रहे थे। गाँव वालों के हाल से अविनाश इतना विचलित हुआ कि उसने खुटहा जाने की ठान ली... अपने सहपाठियों, कॉलेज के सीनियर्स, जूनियर्स सबसे बात की। कुछ लोगों को समझाने में वह सफल रहा और उसने फटाफट बढ़हिया कॉलेज स्टूडेंट एसोसिएशन के नाम से एक संस्था बना डाली। इस संस्था के सदस्यों ने पूरे शहर में घूम-घूमकर चंदा इकट्ठा किया, घर-घर जाकर अनाज, पुराने कपड़े, जानवरों का चारा आदि जुटाना शुरू किया और मदद लेकर बाढ़ पीड़ितों को पहुँचाने वे चल पड़े। वहाँ जाकर अविनाश ने देखा कि एक लड़की तैर-तैर कर थक चुकी है, फिर भी पानी में बहे जा रहे बच्चों और जानवरों को किनारे तक पहुँचाने में जी-जान से जुटी है। वह रीतिका थी। बच्चों और जानवरों के लिए भी उसके अंदर पीड़ा देखकर अविनाश को लगा था कि हाँ, यह वही है, जिसकी तलाश उसे हमेशा से थी। ऐसी ही लड़की के सपने तो वह देखता आया था, जो उसके अंदर की पीड़ा को समझ सके। जात-पांत से ऊपर उठकर वह उसके साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल सके। दुनिया में कितने स्तर पर भेदभाव चल रहा है, वह समझ सके और उनकी बराबरी की संघर्ष में वह उसके साथ कदमताल कर सके।

बाढ़ पीड़ितों की मदद में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती रीतिका से उसी दरमियान अविनाश की मुलाकात हुई और जान-पहचान बढ़ी। परिचय फिर प्यार में बदल गया। यह तो उसे बाद में मालूम हुआ कि किसी की भी मदद के लिए जान की बाजी लगा देने वाली लड़की रीतिका को रोमांच पसंद है। उसके अंदर कमजोर वर्ग के लिए संघर्ष की भावना नहीं, बराबरी का नहीं, दया भाव है। यही वजह थी कि जब तक हर एक इंसान को सुविधाएँ मयस्सर न हो जाएँ, उनकी मेहनत के बल पर किसी और को सुविधाएँ भोगने का हक नहीं टाइप बातें उसे बकवास लगती थीं। अविनाश नास्तिक, रीतिका आस्तिक। कम्युनिज्म का विरोध आस्तिकता से क्यों? वह हमेशा पूछती। अविनाश उसे बताता कि नास्तिकता वैज्ञानिकता की बात करती है और आस्तिकता अंधविश्वास को बढ़ावा देती है... धर्म की दमनकारी नीतियों के बारे में भी वह उसे बताता... यह भी बताता कि धर्म की बुनियाद ही मर्दवादी है... आदि... आदि...

आदि... लेकिन वह उसकी किसी दलील से सहमत न होती। लेकिन इन सारी भिन्नताओं के बावजूद दोनों एक-दूसरे को बेहद प्यार करते थे और उनका प्यार दिन-ब-दिन और शबाब पाता जा रहा था।

रीतिका एक अमीर कुलीन ब्राह्मण लड़की और अविनाश एक गरीब हरिजन लड़का। जब दोनों ने अपने-अपने घरों में शादी की बात की, तो कोहराम ही मच गया। अविनाश के घरवाले अनहोनी की आशंका से डर कर थर-थर काँपने लगे, तो रीतिका के घरवाले गुस्से से। लेकिन इस थरथराहट का कोई असर न तो अविनाश पर हुआ और न ही रीतिका पर। रात के घुपे अँधेरे ने उन दोनों को राह दिखाई। एक दूजे का हाथ थाम बढ़िया को अलविदा कह दिया।

पहुँच गए दिलवालों की नगरी दिल्ली, जहाँ अविनाश का एक पुराना मित्र एक वैचारिक मैगजीन में काम करता था। उसने अविनाश को हर तरह से मदद करने का वादा किया था और निभाया भी। जब तक अविनाश ने अपनी गृहस्थी न जमा ली, तब तक उसके मित्र ने उसे अपने घर में रखा। उसे अपने दफ्तर में एक नौकरी भी दिलवा दी। लेकिन दिल्ली जैसे शहर में आठ-दस हजार की पगार से पति-पत्नी का गुजारा भला कैसे होता। इसलिए रीतिका भी जॉब ढूँढ़ने लगी। जल्द ही एक एनजीओ में उसे काम मिल गया। यह एनजीओ महिलाओं के लिए काम करती है। रीतिका ने यहाँ काम करते हुए देखा कि महिला होने की त्रासदी क्या होती है? काम के सिलसिले में उसने महिलाओं पर होने वाले एक से एक भयावह अत्याचार देखे, महिलाओं पर मर्दों का जुल्म देखा और घर की चहारदीवारी के बाहर की एक नई दुनिया देखी, जिसे देखकर रीतिका की रूह काँप-काँप उठती थी। यह एनजीओ महिलाओं को सहारा देती थी, उनके लिए आवाज उठाती थी, उन्हें उनके अधिकार के बारे में बताती थी। कानून से उन्हें कैसे और क्या-क्या मदद मिल सकती है वगैरह की भी जानकारी उपलब्ध कराती थी। इसके लिए काउंसिलिंग, सेमिनार, वर्कशॉप आदि का आयोजन करवाती रहती थी। सबसे बढ़कर इस बात के प्रचार-प्रसार में मशगूल रहती थी कि किसी भी महिला को शुरू से ही हर किसी के आचार-व्यवहार को इस तरह से चेक आउट करना चाहिए कि सामने वाला उस पर जुल्म करने या उसका शोषण करने की हिम्मत ही नहीं जुटा सके। किसी का भी सुलूक बुरा, बदतर और अत्याचारी होने के पहले एक इंडिकेशन जरूर देता है। इस इंडिकेशन को पहचानना होगा और उस पर तत्काल विरोध जताना होगा, तभी महिलाओं का शोषण और उन पर होने वाले अत्याचारों को रोका जा सकता है।

उस एनजीओ की तरफ से यह कार्यभार रीतिका सँभाल रही है। पहले असिस्टेंट बन कर और अब डिपार्टमेंट हेड बन कर। इसके नतायज यह हुए कि उसकी मुलाकात रोज पुरुष जुल्म की शिकार कई-कई महिलाओं से होती... जब वह अपनी कहानी बताती, तो इसका खून खौल उठता... उसे लगता जैसे वह जुल्म उसी पर हो रहा है... एक-दो बार तो वह महिलाओं की व्यथा-कथा सुनकर इतनी व्यथित हुई कि उसी वक्त वह उसके घर जाकर उस आदमी को मारने को उद्यत हो उठी... किसी तरह उसकी सहकर्मियाँ पकड़ कर उसे बिठातीं... तब भी वह घंटों बड़बड़ाती रहती... इतनी परेशान होती कि रात को घर नहीं जाती... एनजीओ के गेस्ट हाउस में ही रुक जाती... जहाँ उसकी मुलाकात इस तरह की और सारी औरतों से होती, जिन्हें उनके घर वालों ने निकाल दिया था... उनके दुख-दर्द को रात-रात भर शेयर करती...

रीतिका गुस्से में घर से निकल तो गई, लेकिन बात उसके जेहन से नहीं निकली। क्या हो गया है अविनाश को? पहले तो ऐसा न था। वह तो स्त्री मुक्ति, नारी स्वतंत्रता, नारी उत्थान

का प्रबल समर्थक रहा है। तब से जब रीतिका ने इन शब्दों को सुना तक न था। फिर? पिछले संडे की बात फिर से उसके मन मस्तिष्क में उमड़ने-धुमड़ने लगी। आज तो संडे है रीतिका, आज कहाँ जा रही हो?

वर्कशॉप है...

कब तक आओगी?

क्यों?

आज मैं घर पर हूँ...

तुम घर पर हो तो मुझे अपना कामधाम छोड़ कर तुम्हारी सेवा करनी चाहिए, है न?

मैंने ऐसा तो नहीं कहा, मैं तो बस यह कह रहा था कि कितने दिन हो गए, हमने साथ लंच नहीं किया... शॉपिंग नहीं की...

शॉपिंग लड़कियों की कमजोर नस होती है। पति साथ खिलाए, घुमाए और प्यार के नाम पर पचासों सवाल करे- कहाँ, क्यों, कैसे और धीरे-धीरे इतना काबू कर ले कि पराधीन बन कर रह जाए जीवन... लेकिन तुम मुझे बेवकूफ न समझना... दिन रात दूसरी लड़कियों को सिखाती रहती हूँ इस चंगुल से बचने की तरकीब, तो क्या खुद फँस जाऊँगी...

क्या बकवास रही हो, मैं तो बस...

ऐसे ही होती है शुरुआत...

हाँ, ऐसे ही तो होती है शुरुआत। कितने ऐसे केस देखे हैं मैंने। लव मैरेजेज तक में प्यार के नाम पर पूछताछ कब पजेसिवनेस में तब्दील हो जाती है, पता ही नहीं चलता और धीरे-धीरे यह पजेसिवनेस उस हद तक जा पहुँचती है, जहाँ औरत का साँस लेना मुहाल हो जाता है।

क्या अविनाश भी?

नहीं वह तो बड़ा ही ब्रॉड माइंडेड है... बढ़हिया में जब शादी नहीं हुई थी हमारी और तब मैं इसे कभी भी आसानी से छोड़ सकती थी, तब भी कभी मुझे कंट्रोल करने की कोशिश नहीं की... खुद को कभी इनसेक्योर भी महसूस नहीं किया... कभी किसी बात के लिए टोकाटोकी तक नहीं की। फिर क्यों चेक आउट करूँ मैं... क्यों विरोध करूँ?

लेकिन बढ़हिया वाले अविनाश में और अब के अविनाश में फर्क आ गया है। हाँ, फर्क आया तो निश्चित रूप से है। पहले क्या वह कभी झल्लाता था मुझ पर? नहीं बिलकुल नहीं, लेकिन अब कभी-कभी झल्ला पड़ता है। पहले तो कभी सुंदरता की बात ही नहीं करता था, जब देखो इंटेलिजेंसी की बातें। सामाजिक गंभीर मुद्दों की बातें। सामाजिक समस्याओं पर विचार-विमर्श। वह भी उसका फरेब ही रहा होगा, क्योंकि तब मैं मुक्ति आंदोलनों के बारे में ज्यादा नहीं जानती थी... दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है, इन बातों से लगभग अनजान थी, तब अपने ज्ञान का रौब गालिब करने के लिए वह रूप धरता होगा। अब मैं भी समझने लगी हूँ यह सब, तब वह मुझे मेरे रूप के मोह जाल में फाँसना चाहता है... लेकिन अब उसकी नजर मेरी सुंदरता पर अटक जाती है। मेरी इंटेलिजेंसी की बात नहीं करता। पहले घंटों बात करता था, तब अपनी जानकारी की धौंस दिखानी होती थी न। अब इस तरह की कोई बात नहीं करता। ऑफिस से आकर सोने की जल्दी मचाता है, फिर सुबह जगने की। यानी अब मुझे अर्वाइंड भी करने लगा है। यह गंभीर दस्तक है... मुझे इग्नोर नहीं करना चाहिए... लेकिन पहले कुछ और बिंदुओं पर भी सोच-विचार कर लेना चाहिए...

हाँ, चेक आउट प्वाइंट नंबर वन- टोकाटोकी...

कभी टोकाटोकी नहीं करने वाले अविनाश के पास आजकल बीसियों सवाल होते हैं- कभी फोन पर तो कभी सामने... कहाँ हो? क्या कर रही हो? कितनी देर में फ्री होओगी? फोन क्यों नहीं किया? कब आना है?

देर हो जाए तो कैसे बौखला उठता है...

तो क्या अविनाश भी उसी ओर कदम बढ़ा रहा है जिस ओर... ऐसा न भी हो तो भी उसके इतने सारे प्रश्न मेरे अस्तित्व पर सवाल तो खड़ा कर ही देते हैं। उसे तार-तार तो कर ही डालते हैं। आखिर क्यों मुझे हर बात उसे बताना या पूछना चाहिए। मेरा अपना व्यक्तित्व है, मेरी अपनी जिंदगी है, मैं इसे चाहे जैसे जिऊँ, चाहे जो करूँ, कोई टोकाटोकी क्यों करे और किसी की टोकाटोकी मैं क्यों सहूँ? बांदी हूँ क्या?

नहीं सहूँगी मैं, बिल्कुल नहीं सहूँगी... चाहे अविनाश से अलग... उफफ कभी सोच भी नहीं सकती थी कि अविनाश का यह चेहरा भी कभी देखने को मिलेगा... उदारवादी सहअस्तित्ववादी चेहरे के पीछे यह चेहरा... ठीक ही कहती हैं मैडम... शादी के पहले और शादी के बाद के मर्द में जमीन और आसमान का फर्क होता है... शादी के बाद सारे पति एक जैसे हो जाते हैं... अच्छे से अच्छा इंसान भी ज्यों ही पति बनता है उसके अंदर का सुसुप्त पतिवादी कीड़ा कुलबुलाने लगता है... मैडम ने वह कहानी भी तो सुनाई थी... इंग्लैंड में एक आदमी कई सालों तक अपनी प्रेमिका के साथ लिव इन में रहा। फिर उन दोनों ने सोचा कि अब हमें शादी कर लेनी चाहिए। शादी के अगले दिन सुबह-सुबह आदमी बोला- अभी तक बेड टी नहीं लाई? बगल में सोई औरत बोली- सालों से तो बेड टी तुम बनाते रहे हो हम दोनों के लिए। फिर आज? आदमी बोला- अब मेरी शादी हो गई है, अब भला मैं बेड टी क्यों बनाऊँ... मैं भी बीवी वाला हूँ अब...

रीतिका के दिमाग में मैडम की अगली बात गूँजी... हाँ, तो देखा, कैसे पति बनते ही इंसान बदल जाता है, उसके अंदर का कीड़ा उस पर हावी हो जाता है और औरत के उत्थान को तत्पर इंसान भी उसे गुलाम बनाने के लिए उद्धत हो उठता है... अपनी बीवी की आजादी, उसकी पर्सनालिटी और उसके अस्तित्व को क्रश करने का कोई हथकंडा बाकी नहीं रखता। उसकी नजर के सामने एनजीओ के गेस्ट हाउस में घर-परिवार से निकाली गई कई महिलाओं के अक्स उभरे... उसी दिन तो आई थी वह लड़की। क्या नाम बताया था, रिकू। उम्र, बमुश्किलन तीस। कैसे बिलख-बिलख कर बता रही थी- मैम, यहीं दिल्ली में मेरी शादी हुई थी आज से सात साल पहले। तब मैं यहाँ जेट एयरवेज में काम करती थी। जिस लड़के से शादी हुई थी, वह भी एमबीए करके यहीं दिल्ली में एक मल्टीनेशनल कंपनी में काम करता था। हमारा अरेंज मैरेज था, मगर पहली ही नजर में हम दोनों एक-दूसरे को भा गए थे। हम एक-दूसरे को बहुत पसंद करते थे। इंगेजमेंट के बाद हमारी बातचीत और मिलना-जुलना शुरू हो गया था। हम दोनों के घरवाले शहर में रहते हुए भी परंपराओं में जीने वाले लोग हैं। इतने मॉडर्न वे नहीं हैं कि इंगेजमेंट के बाद हमें मिलने-जुलने या बातचीत करने की इजाजत देते, हालाँकि अब शहरों में यह आम होता जा रहा है मगर हमें शहर से क्या, हमें तो अपने परिवार के अनुसार ही चलना था। हमने यही सोचा भी था लेकिन इंगेजमेंट के बाद न जाने ऐसा क्या बदल गया कि एक-एक पल काटना मुश्किल हो गया। मैं हमेशा एक तड़प, एक बेचैनी महसूस करने लगी राघव से मिलने के लिए। ऐसे ही चार-पाँच दिन बीते कि एक दिन क्या देखती हूँ कि एयरपोर्ट के बाहर राघव खड़ा है और बेसब्री से इधर-उधर देख रहा है। मुझ पर नजर पड़ते ही मेरे पास भागता हुआ आया घुटनों के बल बैठकर मुझे प्रपोज किया। मेरे साथ और भी

स्टाफ थे। एयरपोर्ट पर अच्छी-खासी भीड़ थी... सबके सामने उसने प्रपोज किया और फिर दोनों बाँहें फैलाकर जोर से चिल्लाया- रिंकू, आई लव यू... डू यू लव मी...? मैं हक्की-बक्की... .. सब हमारी ओर ही देख रहे थे... मगर सारी लाज-शर्म के बावजूद मैं दिल के हाथों मजबूर थी... मैंने हाँ कर दी... फिर तो जैसे धरती, धरती न रही... जन्नत हो गई... हमारी डेंटिंग... .. रिंकू सिसकने लगी...

नहीं... रोना नहीं है... एकदम नहीं... मैं हूँ न... फिक्र न करो, सब ठीक होगा...

सच कहूँ तो उससे मिलना-जुलना क्या शुरू हुआ, मेरी तो जिंदगी ही बदल गई। कुछ ही मुलाकातों के बाद हम दो जिस्म एक जान बन गए। फिर शादी हो गई... सच, शादी के दिन, सुहागरात और उसके बाद के कुछ दिन... हमारे पाँव ही धरती पर नहीं पड़ते थे। उन दिनों की एक-एक याद एक-एक जिंदगी से ज्यादा प्यारी और ज्यादा अच्छी हैं, लेकिन शादी के कुछ ही दिनों बाद मेरे सारे सपने चकनाचूर हो गए। राघव के घरवाले एक काम भी न करते... मेरा हाथ तक न बँटाते... उस पर से उनका व्यवहार भी पहले जैसा नहीं रहा... हर काम में मीन-मेख निकालते और ताना देते... धीरे-धीरे मुझे यह भी पता चल गया था कि राघव, हाँ, राघव शराबी था। वह एक दिन भी बिना पिये नहीं आता था। नशे में धुत वह मेरे साथ अक्सर मारपीट करता था। बिस्तर पर वहशियाना हरकतें करता था। सबसे ज्यादा परेशानी तो तब होती थी जब वह नशे में खाना माँगता था। उस समय कुछ भी दो उसे पसंद ही नहीं आता। थाली उठाकर मुझ पर फेंक देता। अगर मैं वेज बनाकर रखती तो नॉनवेज माँगता था, अगर चिकेन बनाकर रखती तो खीर माँगता। मछली बनाने को कह जाता और आकर मटन माँगता। शाम को फोन करके पूछ लेती कि क्या खाना है, वह जो फरमाईश करता वह बनाकर रखती तो रात में उसकी फरमाईश बदल जाती और वह मारपीट करता। उसकी सैलरी मुझसे दुगुनी थी फिर भी अक्सर मुझसे पैसे माँगता रहता था। घर खर्च के लिए भी एक पैसा नहीं देता था। मैं अपनी जरूरतों के साथ-साथ घर का भी पूरा खर्च उठाती थी। कभी-कभी उसे भी पैसे देती थी। लेकिन उसकी माँग इतनी थी कि नहीं दे पाती थी उतने पैसे। तब वह गुस्से में मेरा चेहरा अपने नाखूनों से नोच लेता था। किचेन में ताला लगा देता था, ताकि भूख से बिलबिलाती रहूँ। मुझसे भूख बरदाश्त नहीं होती, तो अपने पापा को उसकी हरकतें बताती थी। पापा उसे समझाने की कोशिश करते तो उसे बुरा लगता। इसलिए उसने मेरा मोबाइल छीन लिया, ताकि मैं किसी को कुछ बता न सकूँ। ऑफिस जाता तो घर में ताला बंद करके, ताकि मैं बाहर न जा सकूँ। मरती क्या न करती, मैंने उसकी हर बात मान ली। कभी किसी को कुछ नहीं बताऊँगी, मोबाइल भी नहीं रखूँगी, तब उसने मुझे खाना खाने और ऑफिस जाने की इजाजत दी। मैं छुट्टी लेते-लेते और लोगों से झूठ बोलते-बोलते तंग आ गई थी। कलिंग, दोस्त किसी से कुछ नहीं कहती थी। माँ-बाप की इज्जत रखने को उसे ढो रही थी, क्योंकि मैं एक ऐसे परिवार और समाज से हूँ, जहाँ एक बार जिसने सिंदूर दे दिया उसके साथ रोकर या हँसकर निभाना ही है। मैं भी निभा रही थी। ऊँची जाति, शरीफ, इज्जतदार और बड़े घर की बेटी होने की कीमत तो चुकानी ही थी। तभी रही-सही कसर पूरी करने मंदा आ गई। राघव के ऑफिस में छँटनी चल रही थी। राघव बहुत डरा हुआ था।

एक दिन वह अपने बॉस के साथ घर आया। आश्चर्य, उस दिन उसने शराब नहीं पी रखी थी। उसके हाथ में एक लिस्ट थी। उसने लिस्ट मुझे देते हुए कहा- देखो इन सब की छँटनी होनी है। उसमें राघव का भी नाम था। उसने मुझसे कहा कि अगर मैं उसके बॉस को खुश कर दूँ तो उसकी नौकरी बच जाएगी। मैं अपना आपा खो बैठी। राघव मेरे साथ

जबरदस्ती करने लगा, लेकिन उसके बाँस ने कहा तुम लोग पहले आपस में तय कर लो फिर मुझे फोन कर देना। मैं कोई तमाशा नहीं चाहता। अभी कर लूँ और कल तेरी बीवी पुलिस या मीडिया में पहुँच गई तो... मेरी तो मिट्टी पलीद हो जाएगी। अरे यह सब ऐसे हो कि किसी को कानोंकान पता न चले। उसमें इसकी भी मर्जी शामिल होनी चाहिए। इसे बताओ कि इससे तुम्हारा कितना फायदा होगा। बाँस के जाने के बाद राघव ने मुझसे अपनी बात मनवाने के लिए साम, दाम, दंड, नीति, भेद सब अपनाया लेकिन मैं नहीं मानी। राघव को समझाने के लिए मैंने हाथ-पैर तक जोड़े, यहाँ तक कहा कि तुम्हारी नौकरी छूट भी जाए तो कोई बात नहीं दूसरी मिल जाएगी। तब तक मैं अपनी पूरी सैलरी तुम्हारे हाथों में दे दिया करूँगी। तुम जैसे चाहे घर चलाना, जो चाहो करना, मैं कुछ नहीं कहूँगी। लेकिन वह नहीं माना। एक दिन इसी तरह बहस चल रही थी कि उसने जलते सिगरेट से मेरे अंदरूनी हिस्सों को दागना शुरू कर दिया, यह कहते हुए कि इसी पर बड़ा गुमान है न तुझे, यह मेरे काम नहीं आया तो अब मैं इसे किसी काम लायक ही नहीं छोड़ूँगा। मैं भागी। खुद को बचाने की जद्दोजहद में डायनिंग टेबल पर रखा चाकू उठा लिया। चाकू के बल पर मैं वहाँ से भागने में कामयाब हो गई। अपने घर आकर मैंने सारी बातें बताई। सबने मुझे समझाया, है तो गलत यह, लेकिन तुमने जो किया वह भी सही नहीं। अपने पति को कैसे मिला-जुलाकर खुश रखें इसका उपाय तो तुम्हें ही सोचना होगा। इस तरह भाग कर आ गई अगर यह किसी को पता चला तो कितनी थू-थू होगी। दो-चार दिन यहाँ रह लो फिर चली जाना। लेकिन राघव ने साफ-साफ कह दिया कि यह मेरे अनुसार चलने वाली नहीं है, इसके साथ मैं नहीं रह सकता। सबने उसे बहुत समझाया। मेरी तरफ से माफी माँगी। मुझसे माफी मंगवाई, लेकिन वह मुझे अपनाने को तैयार न हुआ। उसने मेरे घरवालों को मेरी ढेरों बुराइयाँ गिनवाई, मसलन- मैं उसे पैसे नहीं देती। अपना पैसा क्या करती हूँ, इसका हिसाब नहीं देती। कमाने का रौब दिखाती हूँ। अपनी मनमर्जी करती हूँ। समय से घर के काम नहीं करती। अच्छा खाना नहीं बनाती। बहस लड़ाती हूँ... सबको लगा कि अच्छी पत्नी के गुण मुझमें हैं ही नहीं और सारी गलती मेरी ही है। ऐसी बददिमाग पत्नी को कोई भला आदमी बरदाश्त कर ही नहीं सकता। मेरे घरवाले साथ रहते हुए भी मुझसे अलग हो गए। मुझे उन लोगों ने घर से तो नहीं निकाला लेकिन कोई मुझसे बात तक नहीं करता था। कोई मेरे कमरे में नहीं आता था। मैं हर रोज यही सोचती रहती थी कि कैसे इस जिंदगी से मुक्ति पाऊँ। रीतिका के जेहन में रिकू की कहानी जैसे-जैसे घूम रही थी, वैसे-वैसे उसका चेहरा सख्त होता जा रहा था...

रिकू की आवाज दूर से आ रही थी- और अंततः एक दिन मैं घर से भी निकल भागी मैम... और उस दिन जो घर से भागी, तब से कहीं रुकी नहीं... भाग ही रही हूँ...

बेसाख्ता उसके मुँह से निकला- लेकिन मुझे इसे अभी का अभी रोकना होगा...

इस क्रश से बचने का एक ही उपाय है उंगली पकड़ते ही विरोध, वर्ना इन्हें गरदन मरोड़ते देर नहीं लगती... यस इट्स डेंजरस इंडिकेशन... इसके पहले कि मैं क्रश होऊँ, मेरी आजादी छिन जाए, इस कीड़े को कुचलना ही होगा...

कविता एक प्रति संसार की रचना करती है

भगवत रावत से आशीष त्रिपाठी की बातचीत

आशीष त्रिपाठी : आपने अनेक जगहों पर अपने प्रारम्भिक जीवन के बारे में बहुत सारी बातें कही हैं, लेकिन अपने जन्मस्थल ग्राम टहरका जिला टीकमगढ़, म.प्र. के बारे में प्रायः कुछ भी नहीं कहा है। जन्म के बाद वहाँ जो आपका जीवन बीता वो किस तरह का था? कितने वर्षों तक आप वहाँ रहे? उस गाँव का जो जीवन था उसकी कैसी स्मृतियाँ, आपके पास हैं? बात यहीं से शुरू करें।

भगवत रावत : इस बारे में तो एक बात ये बताऊँ कि मैं सिर्फ पैदा हुआ हूँ टहरका में। वहाँ मेरी बुआ रहती थीं तो मेरी माँ जचकी के लिए वहाँ गई थीं। एक महीने बाद मेरे पिता जो झाँसी में काम करते थे, वो आए और हमें ले गए। इसके बाद लम्बे अंतराल पर टहरका में तब गया जब छठवीं कक्षा में आया। झाँसी से तीन-चार स्टेशन की दूरी थी तो बीच-बीच में कोई छुट्टी हुई तो एकाध दिन के लिए कभी चले गए। ये सम्बन्ध मेरा टहरका से है। मेरे पिता महुरानीपुर के पास बड़ी-बमौरी के रहने वाले थे। खुद पिता ने अपनी 14 वर्ष की उम्र में गाँव छोड़ दिया था। उनकी शादी हो गई थी। लेकिन वे घर छोड़कर भाग गए थे। जब लौट कर आए तो उनकी माँ की मृत्यु हो चुकी थी, अकेले पिता बचे थे उनके। मेरे बाबा। उस गाँव से बहुत प्रेम होने पर भी वे रहना नहीं चाहते थे क्योंकि हमारा पुश्तैनी धंधा पंडिताई का था और मेरे पिता हाथ से दक्षिणा माँग ही नहीं सकते थे। यह उनका कहना था। इसीलिए वे भाग गए थे घर से काफी दिनों बाद जब वे लौटकर आए तो मेरे फूफा के पास गए और कहा हम नौकरी करेंगे। खैर। रेलवे की नौकरी में आ गए और झाँसी में रहने लगे। लेकिन मेरा उस गाँव से सम्बन्ध इसलिए था कि एक तो मेरी पैदाइश वहाँ हुई थी, दूसरे झाँसी के बाद मैंने अगर कोई गाँव देखा था तो टहरका ही देखा था। बुआ के उस घर की सार में मैं पैदा हुआ था, गाय बाँधी जाती थी। लेकिन मैं उस जगह को जरूर देखने जाता

था। उस घर की एक बड़ी विशेषता थी कि सामने चार बड़े-बड़े पेड़ थे और चारों पेड़ों के नीचे इतनी बड़ी चौरस चट्टाने थीं कि उसमें पाँच बच्चे एक साथ खेल सकते थे। एक जैसी चिकनी। वह गाँव मैं कैसे भूल सकता हूँ। जो स्मृतियों में रहा हमेशा।

आशीष त्रिपाठी : उस दौर में किन और गाँवों से आपका रिश्ता बना?

भगवन रावत : दूसरे किसी गाँव से मेरा कोई संबंध बनता है तो मामा के गाँव से। पिता ने गाँव छोड़ा तो उन्होंने तो शक्ल ही नहीं देखी वहाँ की लेकिन मामा के यहाँ जाते थे। मामा के यहाँ जाने के लिए हमें महुरानीपुर होकर जाना पड़ता था। जब हम बस से निकलते थे तो पिता बता देते थे कि हमारा गाँव है बड़ी बमौरी, लेकिन वे कभी नहीं गए, वहाँ से बैलगाड़ी में बैठकर हम अपने मामा के यहाँ जाते थे। जतारा से अंदर 3-4 कोस दूर, कहना चाहिए कि करीब 6-7 मील दूर अंदर जंगल में से होते हुए, जो सचमुच घनघोर था, जिसे हम लोग 'डॉंग' कहते हैं जिसमें से अकेला कोई निकले तो परिंदा भी पर ना मारे। इस तरह की थी डॉंग और वहाँ जाकर हमें लगता था कि हम लोग दूसरी दुनिया में कैद हो गए हैं। उस गाँव से मेरा सम्बन्ध बना और इन सारे गाँवों में हमारा आना-जाना होता था। वह इस तरह होता था कि छुट्टियों के वक्त गए और फिर चले आए, पर मेरी सबसे ज्यादा आत्मीयता मेरे मामा से थी। मामा के प्रति मालूम नहीं मेरा कौन-सा ऐसा आकर्षण था कि पिता से भी ज्यादा उनसे सम्बन्ध रहा। बचपन से झाँसी शहर में ही रहा और बी.ए. तक मेरा सारा समय वहीं बीता। गाँव से मेरा बहुत ज्यादा सम्बन्ध ना होते हुए भी गाँव आना-जाना मुझे ऐसे लगता था कि जड़ें हैं तो वहीं हैं।

जब मैं सातवें-आठवें दर्जे में आया तब पहली बार पिताजी मुझे अपने गाँव ले गए क्योंकि उनके कोई मित्र थे कपूर सिंह, उनके बेटे की शादी थी। एक आदमी आया था कहने के लिए कि उनको बारात में जरूर जाना है। कपूर सिंह कक्का ने बुलाया है। तो उनको लगा कि जाना चाहिए उनके बेटे की शादी में। तो वे मुझे लेकर गए, तो पहली बार मैंने वह गाँव देखा बड़ी बमौरी, जहाँ के मेरे पिता रहने वाले थे। उस गाँव में जाने के बाद उस घर के पास गए जो खंडहर हो चुका था। उस पीपल के पेड़ के नीचे बैठे रहे बहुत देर तक। उन्होंने मुझसे कहा कि सबको प्रणाम करो। देखो, यहाँ हमारी माँ रहती थी। हमारे पिताजी रहते थे, यहाँ हमारे सारे भाई थे, अब कोई नहीं है। बहन उनकी सबसे बड़ी थी, हमारी बुआ। शादी हो चुकी थी तो वो टहरका में थीं। अब अगर आप किसी बच्चे को ऐसा खण्डहर जाकर दिखाइए और कहिये कि ये है, तो उसके मन में क्या भावना पैदा होगी। फिर उसके बाद मैं दो-तीन बार गया। थोड़ा सा बड़ा जब मैं हो गया। तब फिर शादी की बात कोई आती थी तो वो मुझको भेज देते थे तो मैं जाता था। मुझे अच्छा लगता था। लेकिन बच्चा ही था मैं। आश्चर्यजनक बात यह थी कि उस गाँव में मैं जब जाता था तो जो भी मुझे देखता था (मेरे पिता का गाँव का नाम सटौले था) तो कहता था सटौले महाराज का लड़का है। वे लोग बहुत प्यार करते थे। इस समय कहने पर लगेगा शायद अजीब-सी बात लगेगी कि जहाँ पिता जी रहा करते थे उसके पास का जो मोहल्ला था, वह मुसलमानों का मोहल्ला था। वहाँ की जो स्त्रियाँ बड़ी-बूढ़ी थीं वे मुझको गोद में बिठा लेती थीं और एकाध तो रोने लगती थीं कि सटौले महाराज का लड़का है। बाद में मालूम हुआ कि मेरे पिता जी जब 14-15 वर्ष के थे अच्छे खासे पहलवान थे। पहलवानी करते भी थे। वो हमेशा पट्टा-बैनेठी खेला करते थे ताजियों में और वे उन लोगों को ले जाते थे। इस बात को लेकर गाँव के लोग कुछ नाराज भी रहते थे। हमारे बाबा काफी बूढ़े हो चुके थे और चूँकि उनकी चार औलादें मर चुकी थीं बड़ी-बड़ी होकर के, तो

लगभग विक्षिप्त जैसे हो गए थे। उनको कोई खबर नहीं रहती थी। और ये एकमात्र लड़के थे बहन थी नहीं, इसीलिए लाड़-प्यार में पले भी थे। पहलवानी भी करते थे। उनको कितना प्यार करते होंगे गाँव वाले ये मैंने महसूस किया। कई बार सोचता हूँ कि क्यों छोड़कर चले आए गाँव। लेकिन वे छोड़कर आ गए थे। फिर उन्होंने मुड़कर नहीं देखा। जमीन की तरफ भी मुड़कर नहीं देखा। मेरे पास गाँव के लोग आते थे और कहते थे कक्का वो जमीन है तो वे कहते थे—ठीक है, तुम्हीं कर लो जो करना है। बिल्कुल मस्त आदमी थे।

एक तरह से माँ की ओर से मेरा गाँव से सम्बन्ध ज्यादा रहा। पिता का सम्बन्ध मेरा इस तरह से रहा जैसा मैंने बताया। पर मेरे मन में कहीं ना कहीं एक अहसास बहुत बड़ा यह लगता रहा कि हमने गाँव क्यों छोड़ दिया? उनसे जुड़े रहने के कारण मैं गाँव की हर बात गंभीरता से सुनता था, लेता था और जो भी चीज मुझे अच्छी लगती थी, उसे याद करने की कोशिश करता था। इसीलिए हमारे पिता का जो गाँव है वो बड़ा हंसोड़ गाँव कहलाता है और यही कहा जाता था कि बड़ी बमौरी में मत जाना, वहाँ के जो लोग हैं बड़े साले हंसोड़ लोग हैं। मतलब हंसी मजाक के बिना रहते ही नहीं हैं। फागें बनाना और गाना ये सब खूब होता था। एक से एक बड़े प्रतिभाशाली लोग थे। उनके बीच मुझे बहुत अच्छा भी लगता था। मामा के यहाँ जब जाता था तो वहाँ बिल्कुल दूसरी बात थी। मामा का गाँव जो था बहुत गरीब गाँव था वहाँ के तीन-चार ब्राह्मण परिवार थे और बाकी सब ढीमर हैं, काशी हैं, मेरे मामा का घर इन्हीं लोगों से घिरा था। वहाँ बहुत आदर और इज्जत मिलती थी। और जब हम गए थे तो हम बहुत छोटे थे, तो भांजा होने के कारण हर आदमी पैर छूता था तो लगता है सारा गाँव ही पैर छू रहा है हमारे। बड़ी अजीब-सी बात लगती थी। और एक दूसरा अपना पैतृक गाँव ये था—जहाँ जाओ, तो भैया कैसे आए और खूब तरह-तरह के हंसी-मजाक होते थे। उनका खिलखिलाना जैसे मेरी स्मृति में उतर रहा है। कोई आया और कहने लगा। तुम हमको पहचानो तो, चीन्हो तो, तो हमने कहा नहीं, तो वे बोलीं—ले हम तुम्हारी बड़ी मताई हंय, हम तुम्हारी बड़ी माँ हैं, तो सबने देखा तो कहने लगे काय, तुम हंस काय रहै, तो पत्नी नहीं है। फिर वो घर भी आए, घर में आकर के हमारी माँ से कहते थे—कहे हम तुम्हारी जैठी है जो आ गए हैं। इस तरह से अजीब मजा था उस गाँव का। मेरी माँ बुंदेली बोलती थीं और पिताजी बिल्कुल अंग्रेज टाइप के आदमी थे, वे ठेठ गाँव के। लेकिन पता नहीं उनको ये भूत सवार था कि वे बिल्कुल जैसे अंग्रेज रहता है। उस तरह से रहना चाहिए और उस तरह से रहते भी थे। खूबसूरत भी थे, बड़े सुंदर आदमी थे। रेलवे में नौकरी करके बढ़िया फर्स्ट क्लास पैंट-शर्ट पहनना, जूते को पॉलिश करना। फिर जब गार्ड हो गए तो रेलवे का हैट लगा करके ब्लडी बास्टर्ड वाली अंग्रेजी, योवर डेमफूल भी उन्होंने सीख ली थी तो वे बहुत कम बोलते थे बुंदेली। बुंदेली सिर्फ मैं माँ से सुनता था और मुझे बहुत अच्छी लगती थी।

जब सन् 1959 ई. के आस-पास मैं भोपाल चला आया तो लगा मैं बिल्कुल ही दूर हो गया हूँ तो कहीं ना कहीं मैंने उसको स्मृति में जिन्दा रखा। बुंदेली भाषा, कल्चर और गाँव को, सबको मैंने अपने अंदर जीवित रखने की कोशिश की। जब-जब भी मौका मिला तो वहाँ गया। इसलिए मुझे बहुत सारे गीत स्त्रियों और पुरुषों के याद हैं। मैंने बहुत पढ़ा, सुना बहुत, खूब याद रहा और विशेष रूप से ऐसे लोगों की तलाश में हमेशा ही रहता था जब कोई कुछ गा रहा हो। दूसरी बात-झाँसी जो शहर है यों तो कहने को शहर था लेकिन वह तो पूरी तरह से बुंदेलखंड ही है और उस समय झाँसी में जो लोग थे जिनके संस्कार शायद मुझे मिले होंगे, जैसे हमारे गुरुदेव थे भगवान दास माहौर, उनके मामा थे नाथू राम माहौर। बहुत अच्छे कवि

थे। घनाक्षरी कवित्त लिखने वाले घासीराम व्यास, महरानीपुर के रामचरण मिश्र, तो ये सारे लोग, बुंदेली में ही बोलते थे, पर उनका बुंदेली में बोलना वह भी झाँसी शहर में। आज हम अपने आपको शहर का मानते हैं और जब हम जाते थे तो गाँव खासकर के मेरे मामा का गाँव जो कन्दुआ गाँव है। वहाँ जब जाते थे तो, हम जूते पहनकर जाते थे तो वे आकर के देखते थे कि 'भैया जी, पनैयां कैसी है? उन पर हाथ फेरने लगते थे जो मुझे कभी कभी बड़ा विचलित करता था। इसके बाद जब मैं बड़ा हो गया और गाँव जाता था अकेला, तो नदी के पहले ही मैं सारे कपड़े उतारकर धर देता था और धोती और कुर्ता पहन लेता था और जाते ही सीधे बुंदेली में बात करने लगता था उनसे। एक बार हमारे मामा के दूर के रिश्ते के एक भाई से बातें करने लगा बुंदेली में। इतनी देर में उनका बेटा निकला वहाँ से, उन्होंने उसको आवाज दी—ए रामचरण इतै आव रे। वो आया। कहने लगे—तुम किते क्लास पढ़ै? मिडिल पास हो, फिर पूछा—मिडिल कित्ती होती है। सातवीं दर्जा मुझसे पूछा, भैया तुम काय में पढ़ रहे तो बी.ए. फर्स्ट इयर में था मैं, तो मैंने उनसे कहा मम्मा तेरहवीं में पढ़ रहे। तो कहने लगे जे सातवीं पास हैं, तुम पढ़े तेरहवीं...तो तुम तो कैसी नोनी बातें कर रहे हमसे। यानि वो उनसे खड़ी बोली में बात करता था। खैर मैं मास्टर हो गया था। कहीं ना कहीं मेरे मन में ये भाव रहा। मैं उस वातावरण को मिस नहीं करना चाहता था और इसलिए शायद गाँव में न रहकर मैं गाँव में ज्यादा रहा। दूरी के कारण। वहाँ रहता तो शायद उतना ना भी रह पाता। लेकिन मैं निरंतर उसमें रहा। कुल जवाब अगर कहूँ तो बड़ी बमौरी और टहरका और कन्दुआ गाँव अपने जीवन में कुल गिनती में अगर गिँऊँ तो 10-12 बार भी नहीं गया हूँ...लेकिन वे मुझमें कहीं गहरे मौजूद हैं।

आशीष त्रिपाठी : झाँसी के जीवन के बारे में जितनी भी अभी तक बातचीत लोगों ने की है, उसमें ये तो दिखाई देता है कि झाँसी में आपने अपने परिवार में अपने पिता से तुकें करना सीखा। दूसरे लोगों जैसे के प्रभाव से उसको थोड़ा विस्तार मिला। आपने अपने टीचर को याद किया दरबारी साहब को और लक्ष्मीकांत शुक्ल को, फिर आपने और कुछ नाम लिये हैं। झाँसी एक ऐसा उस जमाने का शहर है जहाँ एक तरफ अंग्रेजों के कारण आधुनिकता का और पश्चिमी तरह की आधुनिकता का आगमन हो रहा होगा। स्कूलों और कॉलेजों में उसका प्रभाव पड़ रहा होगा तो दूसरी तरफ गाँव के लोग वहीं मौजूद रहे होंगे। यानी परंपरा का एक रूप भी सामने था अपने जीवन का बहुत बड़ा वक्त आपने झाँसी में बिताया। एक तरफ एक खुलती हुई, प्रकट होती हुई आधुनिकता और उस आधुनिकता का संवाद स्थानीय संस्कृति से। मेरा सवाल यह है कि जब आपने कविता लिखना शुरू किया और उसके बाद जब आप दूसरी तरफ से कहें कि मुक्त छंद या नई कविता की तरफ आए तो क्या ये दोनों ही रूप आप आजमा रहे थे। आप एक तरफ छंद लिख रहे थे दूसरी तरफ नई कविता। इन दोनों के बीच में उस समय के झाँसी के अवदान को अपने व्यक्तित्व के सिलसिले में, अपनी कविता के सिलसिले में, आप आज किस तरह से देखते हैं?

भगवत रावत : मैंने दरअसल कविता लिखना तो शौकिया शुरू किया था। बच्चे थे। कहीं कवि सम्मेलन हो रहा था। एनाउंसमेंट हुआ कि कोई बच्चा कविता पढ़ना चाहता है। मैंने नाम लिखाया। पिताजी के पास आए कि कविता पढ़ना है। तो उनसे कहा कविता पढ़ना है भाई तो लिखनी भी पड़ेगी। मैंने कहा कि लिखना तो आता नहीं। बहुत छोटे थे तो हमें एक कवित्त लिख कर दिया हंसी-मजाक का। मैंने जाकर वो पढ़ा तो बड़ी तारीफ, तालियाँ बर्जी धड़ाधड़ और डंका फूट गया कि अरे, वो रावजी का लड़का तो गज़ब है। हम बहुत स्मार्ट

दीखते थे, तो सब लोगों ने बड़ी तारीफ की। वहाँ रामलीला होती थी। देखने जाते थे, तो हमने पूरी रामलीला को कवित्त, दोहा, सवैया में लिखा, अपने तरह से लिखा। हमारा थर्ड से इण्टरमीडिएट तक एक ही कॉलेज था जिसकी बहुत मान्यता थी। एक से एक पढ़ाने वाले बड़े-बड़े थे। खैर! तो फिर कविता पाठ और धीरे-धीरे बढ़ता चला गया। जब मैं इंटर्मीडिएट पास करके आया तो मुझे लगा कि यार लोग मेरी तारीफ करते हैं तो मैं कवि सम्मेलन में जाने लगा। पैसा भी कमाने लगा। कवि सम्मेलनों के पैसों से साइकिल भी खरीद ली। कवि सम्मेलन के पैसे से उस जमाने में कोई साइकिल खरीद ले तो आप समझ लीजिए कितनी बड़ी बात थी। मुझे लगा कि यार जो कुछ काम कर रहे हो, जिम्मेदारी से करना चाहिए। तब मैंने गंभीरता से सोचना शुरू किया। इनमें जो एक-दो बातें महत्वपूर्ण हैं, उसकी तरफ मैं इशारा करना चाहता हूँ—इंटर्मीडिएट जब मैं पास कर रहा था, उसी वक्त मैं कुछ लोगों के सम्पर्क में आया। वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम आया था मैं जिले में। मैंने संस्कृत में एक नाटक भी खेला था। उसमें मैं शक्ति सिंह बना था और उसमें भी मुझे कुछ इनाम-विनाम मिला था। तो कुछ लोग आए और मुझसे बातचीत की। यहाँ मैं एक नाम लेना चाहता हूँ जो जीवित हैं। वो हैं रमेश चौबे। तो वो मेरे पास आए और कहा कि गजब करते हो यार, कविता-वविता बहुत सुंदर लिखते हो। उस जमाने में क्या था कि जो वातावरण था वो आजादी के बाद जो स्थिति थी, वह सारी सामने थी। एक नयापन जिसका तुमने जिक्र किया वो आ रहा था। दूसरी बात, जिसका मैं विशेष रूप से संकेत करूँ कि हम जहाँ रहते थे वो पुराना शहर नहीं था। शहर का वो हिस्सा सीपी बाजार कहलाता था, जो रेलवे के कारण ही बसा था। वहाँ पर एक तरह कास्मोपोलिटिनिज्म था। जैसे कोई कानपुर से आया, कोई आगरा से आया, कोई फलाने से आया तो सब जाके बस गए वहाँ। एक प्रतिद्वंद्विता भी थी शहर और सीपी बाजार में। मैंने चुनाव लड़ा बी.ए. में तो इसी उद्देश्य पर लड़ा था कि सीपी बाजार का प्रेसीडेण्ट होना चाहिए इस बार, हर बार वो शहर का प्रेसीडेण्ट ही क्यों? क्योंकि मेज्योरिटी में वो लोग होते हैं। सीपी बाजार का वातावरण रेलवेज के कारण एक कॉस्मोपोलि टन का था। बहुत सारे क्रिश्चियन्स रहते थे। रेलवे के पुराने अफसर रहते थे। तो एक फर्क था। दूसरी ओर शहर में पुरानी संस्कृति की बहुत महत्वपूर्ण चीजें जीवित थीं जैसे—शास्त्रीय संगीत। मैंने इंटर्मीडिएट तक बड़े गुलाम अली खाँ से लगाकर रजाकत अली, सलाम अली साब को सुन लिया था। झॉंसी में तीन चीजें बहुत मशहूर थीं उस जमाने में—एक तो शास्त्रीय संगीत, दूसरा पहलवानी और तीसरा हॉकी। हम जिस क्षेत्र में रहते थे ध्यानचन्द उसी क्षेत्र के थे। उनका बेटा अशोक हमसे बहुत छोटा था। तो ये सब कुछ मिला-जुला करके एक अजीब-सा माहौल बनता था।

इंटर्मीडिएट तक आते-आते वृंदावनलालजी से मेरा सम्पर्क हो गया था। मैथिलीशरण गुप्त का बेटा मेरे बचपन का साथी है। हम साथ-साथ पढ़ते थे। लेकिन ददा मैथिलीशरण गुप्त से इतना सम्पर्क नहीं रहा जितना वर्मा जी से। वे डॉटते रहते थे कि तुम कविता-वविता के चक्कर में मत पड़ो। पढ़ो-लिखो। कवि सम्मेलन में तुम्हें दिखना नहीं चाहिए बर्बाद हो जाओगे। वो हमेशा यही कहते। जब रमेश चौबे से मेरा सम्पर्क हुआ और फिर उसके बाद मैं मेरी एक दुनिया खुली। उस जमाने में मैं शायद इंटर्मीडिएट में था। जब IXth में था तब मुझे इतनी समझ आ गई थी कि दीपक वाला मामला है। ये गड़बड़ है। पन्नालाल शर्मा जो कॉमरेड हुआ करते थे, उनके इलेक्शन के लिए पर्चियाँ लिखने का काम हम रात-रात भर किया करते थे। वे हार गए। हम लोग बड़े दुःखी हुए तो सबको बिठाकर उन्होंने कहा कि बहुत दुख हो रहा है ना कि, हम कि हार गए। यहाँ आने के बाद तुम्हारे कितने दोस्त बने, तो हमने कहा—करीब

200, तो कहने लगे—यही तो फायदा हुआ। इस तरह के लोग थे। इसीलिए झाँसी में रहते हुए जो कुछ भी मैंने छंदबद्ध लिखा, वो छंद में है। लगभग 20 वर्ष की मेरी आयु थी। वो छंद में लिखा है लेकिन वो रोमैंटिक पोएट्री नहीं है। उसमें कवि सम्मेलन का असर है। इसमें कोई शक नहीं है, लेकिन एक दूसरी चेतना भी है। वो चेतना बराबर काम करती है। मेरी एक कविता बहुत प्रसिद्ध हुई उस जमाने में। इंटरमीडियट में पढ़ते वक्त का वो ये था कि—मैं गीत गा रहा हूँ रूठी बहारों के/तुम अपनी ताल सँभालो/लय की गति बदलो/मैं बहुत सुन चुका पक्के रागों की सरगम/पर कंठ नहीं अब वे उनमें वो जान नहीं/ जो एक बार पत्थर को भी पानी कर दे/ वो बैजू का सुर, तानसेन की तान नहीं/ तुम दीपक राग सुनाते-फिरते हो जग को/ मैं देख रहा हूँ कोई दीपक जला नहीं/ कब से गाते आ रहे हो भैरवी/ पर अब तक सब सोए हैं कोई जगा नहीं।

उस समय जो चीजें हो रही हैं, जिनसे कोई काम नहीं बन रहा है, तो केवल पक्के राग (मैं शास्त्रीय संगीत की बुराई नहीं कर रहा हूँ) का कोई अर्थ नहीं रह गया है, उसमें कोई रिवोल्यूशन ही नहीं है, जिसमें कोई चीज नहीं है, तो नयेपन की जो इच्छा होती थी वो सामने आती थी। उस समय की ऐसी बहुत सारी कविताएँ हैं मेरी।

मेरी सबसे पहली कविता झाँसी में रहते हुए ही 'धर्मयुग' में 1957 ई. में छप चुकी थी। छंद और उसका मामला तो समझ में आ गया था। जब भोपाल में आया तो 1959 ई. में ही यहाँ एक बड़ा सा समारोह हुआ—साहित्यकार समारोह। जिसके तीन संयोजक थे—शरद जोशी, मदनमोहन जोशी और देवकीनंदन जोशी। नंददुलारे वाजपेयी और नामवर जी का झगड़ा यहीं से शुरू होता है। दोनों आए थे। मुक्तिबोध भी आए थे। इसमें सबसे ज्यादा प्रभावित मुझे दो-तीन लोगों ने किया। एक तो मैंने पहली बार नामवर जी को सुना तो मैं सचमुच बहुत प्रभावित हुआ था। मैंने कहा कि तुम थे कहाँ? किस दुनिया में थे अभी तक? श्रीकांत वर्मा ने उस समय जो बोला साहित्य के बारे में, कहानियों के बारे में वो मेरे दिमाग में अमिट हो गए। मैं क्या था मैं तो बी.ए. पास करके आया ही था। मेरी तो ये हालत थी। मुझसे बड़े और समझदार लोग थे उन सबकी हालत भी यही थी। यहाँ से मुझमें परिवर्तन आता है। लगभग पाँच-छह महीने तक मैंने कुछ नहीं लिखा। ये नई-कविता के उतार का जमाना था। ये ध्यान रखने की बात है। नई कविता एक, दो, तीन, ये लोग सब। ये सब संग्रह आ गए थे। झाँसी में ये सब शायद उतना नहीं आता जितना कि मुझे यहाँ आकर उपलब्ध हुआ। इसके कारण बहुत मुश्किल लगा। द्वंद्व ये था कि जहाँ से हम निकल कर आ रहे हैं, जो कुछ कर रहे हैं गलत नहीं कर रहे थे। अब जो दिखाई दे रहा है उसमें अपने आपको रखने पर लगता था कि बिल्कुल ठण्डे होकर कैसे काम करेंगे? ये कैसे लिखा जाएगा? ये होगा, वो होगा। तो पहले के मेरे संग्रह जो हैं वो इस बात की मिसाल हैं। जब हम दिल्ली जाते थे तो हमको मूर्ख समझा जाता था, क्योंकि हमको आता ही नहीं था वह सब कुछ। लोग जाने कितनों के कहाँ-कहाँ के नाम लेते। हम कह देते कि हम गधे हैं। गँवार हैं पढ़े-लिखे नहीं हैं, तो वहाँ से लौटकर आते तो जितने भी लेखक मिलते थे—सार्त्र, कामू, काफ़्का खरीद-खरीद करके अंग्रेजी तो आती नहीं थी। लेकिन सेरीडोन खा-खाके पढ़-पढ़ के चाट गए। जब उनको पढ़ते थे तो लगता था कि यार ये तो सही है अपनी जगह पर लेकिन ये हमारे भारतीय लोग क्यों ऐसा कर रहे हैं फिर इसी बीच में मुक्तिबोध से सम्पर्क हुआ। इसी बीच में परसाई जी से सम्पर्क हुआ और फिर यहाँ के लोगों से सम्पर्क हुआ तो जो चेतना बदली, फिर नए सिरे से लिखना शुरू किया तो एक नई शुरुआत हुई। पहले संग्रह में उस दौर के अनेक कविताएँ आयी हैं और बहुत

सारी कविताएँ उसमें नहीं हैं। जब मैं झाँसी से इधर आया था तो मैं बहुत ही रेशनल तरीके से सोचने-समझने वाला था। समाज के प्रति मेरी अपनी दृष्टि थी। नई-कविता के उतार के समय ने उसको धूमिल करने की कोशिश जरूर की पर हम लोग जो देशीपन से आए थे उन पर नई कविता वाला रंग चढ़ा नहीं चाहे वो सोमदत्त हों, चाहे मैं। हम लोगों को कभी गंभीरता से कोई कवि नहीं मानता था। तब ही हमें लगता था कि हम कोई गलती नहीं कर रहे हैं। लोगों को लगता था कि ये कैसी कविता लिख रहे हैं? कैसी भाषा लिख रहे हैं? हमारे जैसा कोई कवि अगर आपको देशीपन में दिखाई देता है तो उसका कारण हमारे स्थानीय समाज से हमारा सतत् संपर्क है। मेरे लिए यह झाँसी का जीवन है। बावजूद आधुनिक होने और आधुनिक तरह की भाषा को ग्रहण करके और तमाम सारी अनावश्यक थी जो की हमने हटाया।

आशीष त्रिपाठी : पहले दोनों कविता संग्रहों में जैसा आपने भोपाल के कुछ प्रभाव का जिक्र किया है। भोपाल आपको किस तरह से उस तरफ ले जा रहा था? 'समुद्र के बारे' में और 'दी हुई दुनिया' के पीछे भोपाल का जीवन, भोपाल का साहित्यिक जीवन किस तरह काम कर रहा था? भोपाल का जो पूरा दौर था उसने आपकी कितनी मदद की?

भगवत रावत : भोपाल सन् 57 ई. में राजधानी बना था और सन् 58-'59 ई. में मैं आ गया था। उर्दू का एक वातावरण यहाँ था विशेष रूप से बहुत सारे कवि थे यहाँ जिनसे मेरी मुलाकात हुई और अच्छा खासा वहाँ के जीवन के बारे में जाना। 'समुद्र के बारे' में मेरी किताब सन् 1977 ई. में आई। मैं लगभग 38 साल का था, 39वें में चल रहा था। मैंने सन् पचपन से लिखना शुरू किया था और सन् 77 ई. में जाकर लगभग 20 साल के बाद पहली किताब आई। उसमें भी केवल 25 कविताएँ आई। सन् '65-'67 ई. तक शायद ही कोई ऐसी पत्रिका थी जिसमें मैं छप नहीं गया था। 'लहर', 'वातायन', 'ज्ञानोदय' और 'कल्पना' सभी में, वो सारी कविताएँ उसमें नहीं है। तय था कि भाई छोटा-सा संग्रह निकालना है, 34 कविताएँ हैं। ये इत्ता-सा देना है तो उसको काटा-छाँटा गया। चूँकि पहला कविता-संग्रह आ रहा था तो उस समय हमारे आसपास जो मित्र लोग थे, सब कुछ उन लोगों को सौंप दिया कि तुम लोग देखो तो जो कुछ भी निकाल करके दिया वो छपा। जाहिर है कि उनकी पसंदगी रही होगी। पहली बार जो ये किताब आई, जो भी आई, जैसी भी आई, लगा कि ठीक है और उससे मैं जाना-पहचाना भी गया, लेकिन ये सारी चीजें, प्रवृत्तियाँ जो थीं वो पहले से विद्यमान थीं। अब जैसे 'कल्पना' में मेरी कविता छपी थी पिता को लेकर। वो मेरे पास है नहीं। वो उसमें नहीं है। एक कविता पेड़ों को लेकर थी। और ऐसी बहुत सारी कविताएँ जो 'कल्पना' में छपी हैं। 8-10 कविताएँ मेरी छपी हैं, वो मेरे पास नहीं हैं। यहाँ तक कि 'पहल' में जो मेरी कविता पहली बार छपी थी—सन् 1971-72 ई. में सौंप को लेकर तो वो भी कविता नहीं है इसमें। अब जब याद करता हूँ तो मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद जो मैंने कविता लिखी थी वो इसमें नहीं है—'कई-कई प्रकाश-स्तम्भ- अभी टूटेंगे'। ये संयोग है कि जब ये कविता-संग्रह तैयार हुआ तो उस रोज वह कविता निकाल ली गई, जो कि उस वक्त लगती थी कि यही कविता चल रही है। दूसरे कविता संग्रह में मैंने अपनी तरफ से छूटें ली हैं, इसलिए छोटी-छोटी कविताएँ हैं। जैसे आँच पर एक कविता है। उनको आप देखेंगे तो उस तरह से छंद नहीं भी दीख रहा होगा लेकिन वो है, कहीं ना कहीं। छंद की जो मेरी अपनी अवधारणा है मैं तो ये मानता हूँ कि भई, कविता अगर है तो वो छंदहीन होती नहीं है। और छंद से मतलब वो नहीं है कि जो दोहा लिख दिया गया, चौपाई लिख दी गई हैं। वो ही छंद नहीं हैं। क्योंकि

आप गद्य में कविता लिखते नहीं हैं। लिख नहीं सकते। क्योंकि जो कविता विष्णु खरे भी लिखते हैं गद्य में, वैसा गद्य वो बोलते नहीं हैं। तो वो कविता है उसका अपना छंद है। खैर।

भोपाल में जो माहौल था, एक तरफ उर्द का माहौल था, जो बहुत ट्रेडिशनल था। एकाध आदमी थे उसके अंदर, जैसे ताज साहब थे। वो एकाध गजल ऐसी कह देते थे। ऐसा शब्द ले आते थे कि लगता था कि ये तो नया काम कर रहे हैं। पहली बार जब मैंने उनकी गजल सुनी कि—हम भी हैं तेरे जाँ निसार उसमें 'सुबहाओं' शब्द का प्रयोग था, जो हिन्दी वाले नहीं करते पर जब वो आदमी सुबहाओं का प्रयोग करता था तो लगता था कि कमाल कर गया यार! फजल ताबिश से मुलाकात हुई। दूसरी तरफ जो हमारे आसपास लोग थे, जो वातावरण यहाँ था उस समय मैं ही उस वातावरण का आदिवासी हूँ। मैं खुद ही इतना पुराना हूँ। बाद में मेरे मित्र घनश्याम मधुप आये। इसके बाद सोमदत्त आये। यहाँ तक कि दुष्यंत कुमार बाद में आए तो हम सब लोग जो मिलकर करते थे वही वातावरण था। हाँ! यहाँ बाहर के लोग बहुत आते थे, परसाई आते थे, मायाराम जी आते थे, महेश दत्त मिश्रा आते थे। ऐसे लोग आए थे, जब भी मिलते थे उनसे बातचीत होती थी। बाहर से कोई आये वो जरूर मिलता था। एक नए तरह का वातावरण था। फिर खासतौर पर सन् 1964 ई. में जब मुक्तिबोध बीमार हुए और लगभग चार माह वो हमीदिया अस्पताल में रहे, तो उन चार महीनों में भोपाल में कई लोग आए और वो जो एक समारोह जिसका मैंने जिक्र किया था वो...तो इन सबने मेरी दृष्टि खोली। इसमें कोई शक नहीं। एक नया आकाश खोला, मेरी दुनिया को बड़ा किया और लगा कि नहीं कविता सिर्फ इतनी ही नहीं है जो कवि सम्मेलन में पढ़ी जाती है। कुछ अलग है और फिर नए सिरे से पढ़ने को मिला। तो इस भोपाल ने एक नया माहौल मुझे दिया। एक नया आकाश दिया यानि एक ओपनिंग दी और एक नए तरह का विजन भी दिया जो पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा मालूम हुआ। मित्रों के आने के कारण भी मालूम हुआ। बहसें होती थीं। मैं सबसे छोटा था उम्र में, तो चुपचाप बैठा सुनता रहता था। बोलता तक नहीं था। यहाँ तक कि अच्छा-खासा बड़ा होकर भी, कई बच्चों का बाप होकर भी, कभी परसाई जी के सामने मुँह नहीं खोल पाया। उनको सुनना अच्छा लगता था।

मैं कहना चाहता हूँ कि झाँसी ने मुझे पैदा किया, मेरी परिवारिश की, मुझे चेतना दी और मुझे संस्कार दिए और भोपाल ने मुझे बनाया, तो इसलिए जब मैं भोपाल शहर में रह रहा था तो कोई शक नहीं कि उस शहर से प्यार करता था। लेकिन इस शहर के उस मूल नागरिक की तरह से जो इसी भोपाल शहर में पैदा हुआ है, बढ़ा-पला है उस तरह से मैं नहीं रह रहा था। भोपाल एक नया शहर है। एक नया उभरता हुआ भोपाल। वो ही मेरे संस्कार में है। पुराने भोपाल की जो अच्छी रवायतें हैं, जो अच्छे लोग थे, जो खुले हुए थे, जो नये तरह से बात करते थे, वो सब इसमें आते हैं। तो इस तरह से जब मैं पहले संग्रह के बाद दूसरे संग्रह पर आता हूँ 'दी हुई दुनिया में' आता हूँ अपने को थोड़ा सा मुक्त पाता हूँ। पहले संग्रह में तो आइडेन्टिटी की समस्या थी। क्योंकि तब लगता था कि जो कुछ भोपाल के पहले कर आए है, उसे भूल जाये। कोई मतलब नहीं उसका। कोई नहीं जानता इसको कि यहाँ सदर मंजिल के कवि सम्मेलन में जिन कविताओं को पढ़ता था। आज भी उनको सुना दूँ तो आज के कवि सम्मेलन पानी भर जाएँ। मैंने वीरेन्द्र मिश्र और नीरज तक को एक तरह से नोट करवाया उन कविताओं को। इसलिए नहीं कि वे कवि सम्मेलन की कविताएँ थीं, इसलिए कि उन कविताओं के बाद कोई पढ़ नहीं सकता था क्योंकि इनकी दृष्टि दूसरी थी। लेकिन उन सबको भूलना पड़ा। फिर एक नया चैप्टर शुरू किया। सबसे पहले आइडेन्टिटी की समस्या

है, जो इस तरह सुलझती है। सन् 1977 ई. में एक संग्रह आया, जो मेरी पसंद का नहीं है, मित्रों की पसंद से बना हुआ है और वो अपना एक सुख लेता है। उसके आसपास कितना बिखरा पड़ा है, अब वो किसी दिन बैठूँगा तो निकालूँगा। कम से कम सौ-डेढ़ सौ कविताएँ ऐसी और निकलेंगी। 'तीसरा' एक कविता थी जिसकी मुझे आज अचानक याद आ गई। मैंने वो जो उर्दू के नगम निगार जो नई नज्म कहते थे उनका नाम भूल रहा हूँ मैं...उनका उर्दू में उनका कोई फॉलोवर नहीं बना, जो उर्दू की बिल्कुल नई शैली की कविता करने वाले थे...उनके सामने मैंने कविता पढ़ी थी तो उन्होंने मुझसे कहा कि हिन्दी के कंटेंट तो बहुत जर्बदस्त हैं। ये बात सन् '62-'65 ई. के आसपास की है। 'दी हुई दुनिया' में थोड़ा मुक्त होता हूँ तो अंतरंगता में जाता हूँ मैं। नई कविता का जो असर था, जो प्रभाव था, जिन लोगों का असर मेरे ऊपर था, वे कौन थे? वे मुक्तिबोध हैं या वे लोग थे जो नई कविता में लिए नहीं गए—नागार्जुन थे या केदारनाथ अग्रवाल। यही समय है जब पहली बार 'आलोचना' में सन् 1967-68 ई. में धूमिल की कविता 'पटकथा' प्रकाशित हुई थी। धूमिल ने जो ब्रेक किया था कोई समझ नहीं सकता इस बात को कि सन् 1967 ई. का कौन-सा समय है जब कांग्रेस का निरंतर शासन चलता चला आ रहा था और एक ठहराव-सा सारे हिन्दुस्तान में बैठ गया था और परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती थी। उस समय की कविताएँ उठाकर देख लीजिए। उनमें इमेजिज ऐसी हैं—ठहरा हुआ पानी है, अंदर की मछलियाँ मर रही हैं, कहीं कुछ हो नहीं सकता, कहीं पत्ता भी नहीं हिल रहा। इस तरह की इमेजिज हैं उस समय की उन कविताओं में। उस वक्त धूमिल अपनी ठोकर से कविता में इतना बड़ा परिवर्तन करता है तो उसका प्रभाव होना ही था। वो जबरदस्त कविता थी इसमें कोई शक नहीं है। अगर वो सन् 1972-73 ई.में मर नहीं गया होता। अरे! चालीस साल भी तो जीवित नहीं रह पाया वो आदमी। तो उसने जो चीज पैदा की थी वो एक रिटोरिक मात्र नहीं थी उसको ऐसा कहकर उपेक्षित नहीं कर सकते और यह कहकर भी कि वो अकविता के जमाने में था। खैर। इस पूरे वातावरण के असर से दूसरे संग्रह में मैं मुक्त होता हूँ।

तीसरे संग्रह में फिर आकर के कहीं-ना-कहीं मेरे मन में आया कि हुजूर मैं जो छोड़ आया हूँ वो ऐसा नहीं है कि उसमें कुछ था ही नहीं। सन् 2004 ई. में जो कविता पढ़ रहे हैं जो सन् 81-86 ई. के बीच में लिखी गई थी कि बोल मसीहा बोल कि तेरा क्रॉस कहाँ हैं? तो वो जो 'बोल मसीहा' कविता है आज के संदर्भ में उस कविता को पढ़ो तो क्या वो सिर्फ छंद है? जब आज उस कविता को पढ़ोगे तब समझ में आएगा कि ये कविता कब लिखी गई थी और वो आज इराक पर आकर के सिद्ध होती है। 'सुनो सज्जन वृंद' कविता उसी समय लिखी गई थी कि, सवार होकर आ रहा है दाता, अपनी करनी के आखिरी करिश्मे दिखाता, अपनी सब लीलाएँ साथ लिए—तो ये कविता जब पढ़ते हैं आप तो समझने की कोशिश करना चाहिए कि यह सिर्फ छंद नहीं है। दरअसल हमारी चेतना, हमारा विश्वास, हमारी समझ और भाषा परम्परा कुछ नया करती है। हमारे लिए परम्परा में नई कविता नहीं आती। नई कविता ने जो नए काम किए, सो किए लेकिन कहीं ना कहीं हमारी जो परम्परा की भाषा है उस भाषा की देशी या इण्डिजिनस ताकत को कहीं ना कहीं कर्ब-डाउन तो किया। मैंने दिल्ली का जिक्र किया था कि वहाँ जाते थे तो सुनते थे और हमें लगता था हमें तो कुछ आता ही नहीं है। ये बात सच है कि हमने भी कई बार कोशिश की कि भैया भावना से दूर रहो, पर आल्टिमेटली समझ में आया कि क्या बेकार की बातें करते हो? आपकी बिटिया का ब्याह आज की तारीख में जब होता है, पढ़े-लिखे होंगे तो भी आप अपने आँसू नहीं रोक पाते, तो माई डियर कविता

में ये आ जाता है तो कौन-सा पाप हो जाता है? जरा समझाइयेगा। जीवन में तो आप इतना प्रेम करते हैं और इतना राग-द्वेष करते हैं और कविता में? कविता में सेंसर कर रहे हैं इन चीजों को। सवाल है कि भावुक होकर आप जाते कहाँ हैं? क्या करना चाहते हैं? मुक्तिबोध ने ये बात कही थी कि आज के लेखकों की समस्या ये है कि, वे अपने जीवन की बहुत सारी निजी चीजों को सेंसर कर देते हैं साहित्य से। ये सेंसरशिप हमने लागू कर रखी थी। उसका असर हम पर भी पड़ा होगा कहीं ना कहीं, लेकिन फिर धीरे-धीरे उस सेंसरशिप से मुक्त हुए और मुक्त होने के बाद इस रूप में आए। हो सकता है कि जो हुआ वो एक अतिरेक पर भी गया हो। ये हो सकता है। सवाल छंद की वापसी का ही नहीं है। छंद के बारे में तो मैंने बहुत स्पष्ट किया है कि अब छंद उस तरह से वापस नहीं हो सकता जिस तरह से आप चाहते हो, क्योंकि पहले जब छंद था तो छंद ही छंद दीखता था और कुछ दिखता नहीं था। अगर हम कविता पढ़ते थे तो वह छंद पर ही सवार होती थी। लेकिन आज जब कविता में छंद आता है अगर वह परम्परागत छंद भी आता है तो पता नहीं लगता है कि छंद आता है। अचानक पूछ लूँ किसी से तो वो बता नहीं पाएगा। जब दो मिनट सोचेगा तब पता लगाएगा। अगर नागार्जुन की कविता है—‘जली टूँठ पर बैठकर गई कोकिला कूक/बाल ना बांका कर सकी शासन की बंदूक।’ अगर किसी से पूछें भई! कौन सा छंद है? तो दो मिनट रुकेगा फिर कहेगा—‘दोहा’। अगर समझदार है, पढ़ा है तो। मेरी कविता के बारे में, कई बार मैं विद्यार्थियों से पूछता था। छंद के बारे में पढ़ाना पड़ता था, फिर कहता था बताओ कौन-सा छंद है ये? ‘हमने चलती चक्की देखी, हमने सब कुछ पिसते देखा/हमने चूल्हे बुझते देखे, हमने सब कुछ जलते देखा।’ तो वे फिर कहते थे हमें समझ में नहीं आ रहा। तो हम कहते, राम रमापत करधन लेहू, खेचहिं चाप मिटै संदेहू, तो फट बता देगा चौपाई। इस कविता में छंद आए भी हैं तो इस कारण से नहीं आए हैं कि छंद में कविता लिखना चाहता हूँ या छंद की महिमा बताना चाहता हूँ। बहुत सारी बातें ऐसी हैं जिनको हम जब कहते हैं तो आवेश/आवेग से भाषा टूटती है, छंद टूटता है। लेकिन अगर हम इसको संयमित करते, संतुलित करते, इसके आवेग को निकलने देते, तो कोई ना कोई रूप अख्तियार करके वह छंद बनता है। चाहे वो रघुवीर सहाय की कविता हो या किसी और की कविता हो। और वो ही बाँध देता है हमको।

आशीष त्रिपाठी : ‘हुआ कुछ इस तरह’ में जो भी कविताएँ हैं, उनका छंद जो भी है, उसका महत्व सिर्फ इसलिए नहीं है कि वो छंदों में लिखी गई कविताएँ हैं। आपके तीनों काव्य संग्रहों में—आप एक यात्री नजर आते हैं। तीसरे संग्रह में आपने स्थान्तरगामी होकर भी अपना एक घर पहचानने की कोशिश की है। यह द्वंद और उसके साथ ही मुक्तिबोध बनाम नागार्जुन या मुक्तिबोध बनाम नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार की जो बहस दिखाई देती है उसने भी आपको प्रभावित किया है। मेरा सवाल यह है कि क्या आपको अब सोचने पर कभी ऐसा लगता है कि उस जमाने में जो आलोचना-परिदृश्य था उसकी बहसें थी, उन्होंने और खासतौर पर नागार्जुन-केदार-त्रिलोचन की वापसी ने आपको पहले संग्रहों के रंग से मुक्त होने की कोशिश की ओर प्रोत्साहित किया और फिर एक स्थानीय ठसक और स्थानीय बनक की भाषा तथा मिजाज की तरफ, बतकही की तरफ रूझान हुआ? इसमें क्या उस जमाने की जो केन्द्रीय बहसें हैं, उन केन्द्रीय बहसों का भी कोई जाने-अनजाने प्रभाव पड़ा है आपके ऊपर?

भगवत रावत : ये तो होता है, अगर आप साहित्य में हैं और ये तमाम चीजें सजग होकर देखते हैं तो इसका प्रभाव आप पर ना हो ऐसा नहीं हो सकता। वो तो होगा। लेकिन इन बहसों में क्या चीज है ये ध्यान देने की बात है। और मैं फिर से यह कहना चाहता हूँ

कि तीनों संग्रहों में अपने समय की बहसों को अंगूठा दिखाने की बात है। सन् 1977 में अगर मेरा कोई संग्रह छपता है तो जाहिर है कि सारी कविताएँ उससे पहले की होंगी। ये कौन-सा समय था, इस समय में एक तरफ मुक्तिबोध की मृत्यु हो चुकी थी, धूमिल जा चुके थे, धूमिल पर बहस हो चुकी थी। ये समय तीन लोगों का है—रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह का। यह 'माया दर्पण' और 'आत्महत्या के विरुद्ध' और 'जमीन पक रही है' की कविताओं का समय है। तीसरा संग्रह 1980 में आया, ध्यान रखें। 1967 के आसपास 'नयी-कविता के प्रतिमान' में नामवर सिंह इनका जिक्र कर देते हैं—'निर्धन जनता का शोषण है कहकर आप हँसे/लोकतंत्र का अंतिम क्षण है कहकर आप हंसे...सहसा मुझे अकेला पाकर फिर से आप हँसे।' उस समय कविता में बहसों जो हो रही थीं, जो चीजें चल रही थीं उसमें मेरे जैसा कवि बिल्कुल अलग पाता है अपने आपको। सबसे ज्यादा प्रभाव शायद 'समुद्र के बारे' में मुक्तिबोध का होगा। कुछ कविताएँ इस तरह की हैं। पर जो सारी बहस चल रही थीं वो विचित्र थीं। ये समय था अकविता का। अकविता की बहस चल रही थी। बड़े लेख लिखे जा रहे थे। कोई महेन्द्र कुलश्रेष्ठ हुआ करते थे। मालूम हुआ उससे बड़ा कोई आलोचक नहीं है और हिन्दी में उसी वक्त भोपाल में 'नवलेखन' नाम की पत्रिका निकली जिसके अक्षय कुमार, शरद जोशी सम्पादक थे और घनश्याम मधुप वो हमारा मित्र था बेचारा। वो निकालता था पत्रिका। एक अजीब अराजकता की स्थिति थी। मुक्तिबोध हो चुके थे। उनका हल्ला मच चुका था। अज्ञेय का उसी समय 'अपने अपने अजनबी' भी आया था तो अज्ञेय का जो प्रभाव था वह व्यक्त हो रहा था। अज्ञेय के भी दबदबे से एक अजीब-सा वातावरण था। हिन्दी में जो आलोचना थी, जो बहस थी हम उसमें कहीं पाते नहीं थे अपने को। इसीलिए सन् 1977 में जो कविता-संग्रह आता है वह भी उसके बावजूद है। और जब 'दी हुई दुनिया' आता है तो 'दी हुई दुनिया' में जो कविताएँ हैं वे तो बिल्कुल अलग हैं। कोई ऐसी कविता लिखने की कोशिश करेगा कि उसकी बिन्दी की शीशी नहीं मिल रही है, खोपरे का तेल का डिब्बा लुढ़क गया है। ये जो बहस थी साहित्य में व वो बहस वामपंथी बहस नहीं थी। दूसरी बात ये है कि आपको मालूम होना चाहिए कि ये वही समय था जबकि प्रगतिशील लेखक संघ ढह चुका था, समाप्त हो चुका था। प्रगतिशीलता और प्रगतिवाद के नाम पर नारेबाजी वाली कविता का युग खत्म हो चुका था। नई कविता के इस उतार के समय में, अकविता के घनघोर अराजक समय में कविता को फिर से पुनःस्थापित करने की कोशिश धूमिल करते हैं कुछ लोग अन्य तरह का प्रयत्न करते हैं। उस समय हम लोगों की जो अपनी देशीयता है, वो महत्वपूर्ण होती है। वह चल रही बहस के बावजूद होती है। इसलिए हमको बाद में पहचाना गया। दूसरे संग्रह में भी हमने उस बहस का जवाब नहीं दिया। लेकिन अगर मैं ध्यान से देखूँ तो उसमें एक कविता है 'कविता के बहाने'। इसमें ये पंक्तियाँ आई हैं कि लगातार बोलते-बोलते निर्णय-सा देते हुए उसने कहा—'बाहर कुछ नहीं है, चलो अपने अंतर की दुनिया में।' वहाँ कविता के मौके ज्यादा हैं। यानि जो कुछ बाहर दिखाई दे रहा है वो कुछ नहीं कविता तो अंदर है। विदेश से एक व्यक्ति आए हुए थे उनसे बातचीत हो रही थी। मैं शामिल नहीं था। मैं तो श्रोता था पर जिन दो व्यक्तियों में बात हो रही थी। यही कि ये सब जो सारा सामाजिक और वर्गीय संघर्ष है, सब बकवास है, कुछ हो नहीं रहा है। ये ध्यान देने की बात है कि एक ओर नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल हैं—प्रगतिशील कविता के अपने तरह के कवि हैं लेकिन ये तीनों मध्यमवर्गीय प्रगतिशीलता के कवि नहीं हैं, गंवई जीवन के हैं, किसानी जीवन के हैं। रामविलास शर्मा की

दिवक्त यही थी क्योंकि वे प्रगतिशीलता को किसानों के जीवन से ऊपर देख ही नहीं पाते थे। इसीलिए उनको मुक्तिबोध अस्तित्ववादी कवि लगते थे।

मुक्तिबोध पहले ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने प्रगतिशीलता की सारी लड़ाई खुद लड़ी अकेले और उन सारे लोगों को भी जस्टिफाई किया जो उनके समवयस्क थे, समकालीन थे। अगर मुक्तिबोध ने वह लड़ाई न लड़ी होती, वह आत्मसंघर्ष न किया होता तो केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन और नागार्जुन को वैधता प्राप्त नहीं होती, यह मेरा मानना है। मुक्तिबोध वो व्यक्ति थे जो मध्यवर्गीय जीवन को देखते थे, उसको उन्होंने समझा था ठीक से। वामपंथी लोगों ने आज के समय में मध्यवर्गीय मनुष्य के जीवन को ठीक से नहीं समझा, यही कारण है कि आज वे कहीं भी नहीं हैं। जो नीचे की जड़ थी उसे तो खो ही दिया। मध्यम वर्ग को ही खो दिया पूरी तरह से और मध्यम वर्ग को हमने उसकी एक विशेष पहचान के हवाले कर दिया, उसको दो चेहरों के हवाले कर दिया। मध्यवर्गीय आदमी तो विश्वसनीय होता ही नहीं है उसके दो चेहरे होते हैं। ये हमने बहुत सीधा-सीधा शार्ट कट निकाल लिया, लेकिन हम उस आदमी को भूल गए जो मध्यवर्ग में पैदा हुआ है। निम्न मध्यवर्ग में पैदा हुआ है, जो अपने तरह से संघर्ष कर रहा है, अपनी तरह से लड़ाई लड़ रहा है। अगर मेरी कविता को देखना हो, मैं बाकी किसी के बारे में बात नहीं करता, अगर मेरी कविता के नायक को पहचानना हो, मेरी कविता को पहचानना हो तो उसकी एकमात्र पहचान होगी कि मध्यवर्ग में भी कोई आदमी है जो ईमानदार है, संघर्ष कर रहा है। उसको क्या जीवन झेलना पड़ रहा है अगर वह मेरी कविता में दिखाई देता है तब आप समझ जायेंगे। 'दी हुई दुनिया' की सारी कविताएँ देख जाइए। उनके विषयों पर मत जाइए अगर वो मध्यवर्गीय स्त्री के बारे में है तो वो प्रगतिशील कविता है, अगर वो प्रेम को लेकर कविता है तो प्रगतिशील कविता है। उसमें अधिकांश कविताएँ वो ही हैं जहाँ पर एक मध्यवर्गीय आदमी किस तरह का जीवन जीता है, किस तरह का संघर्ष करता है और किस तरह का रिलेशनशिप वो अपने से नीचे वाले आदमी के साथ करता है—इसका अंकन है। एक कविता है, वो आदमी खुद नहीं आएगा मेरे पास आखिर क्यों नहीं आएगा? मैं जब उससे बीड़ी माँगकर पीता हूँ तो मेरी कमीज़ उसे अधिक सफेद लगने लगती है। ये कविता कब लिखी गई थी, सोचो, आश्चर्य की बात लगती है मुझको। बाद में एक विज्ञापन चला कि उसकी कमीज़ मेरी कमीज़ से सफेद क्यों? उसको लेकर राजेश जोशी ने एक कविता लिखी थी। 'दी हुई दुनिया' में यानी 1981 के पहले ये मेरी कविता लिखी गई थी अपने चपरासी को लेकर कि वो खुद कभी मेरे पास नहीं आएगा लेकिन जब मैं उसको पास बुलाता हूँ, बीड़ी माँगकर पीता हूँ तो उसकी नजरों में मेरी जो सफेद कमीज़ है और उजली हो जाती है। यह बहुत स्पष्ट है कि हम मजदूर नहीं हैं, मजदूरी हमने नहीं की है, हमने मजदूरों की तरह संघर्ष थोड़ा बहुत किया होगा। उनके साथ थोड़े बहुत पैदल चले होंगे। थोड़े बहुत साथ रह लिए होंगे, पर हमने फावड़ा नहीं चलाया, हमने कुदाली नहीं चलाई, हमने तांगा नहीं हाँका। हमने तांगा हाँकते हुए आदमी को देखा है, हमने रेल की खिड़कियों से लोगों को हल जोतते हुए देखा है इसलिए कैसे बताऊँ उनसे कि मैंने तुम्हारे बारे में कविता लिखी है। ये अपराधबोध है। ये सारी बहस उस समय जो भी प्रगतिशीलता को लेकर के थी बहुत स्पष्ट रूप से कहें तो उस समय तक रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना है।—ये सारे के सारे लोग लोहियावादी भले रहे हों लेकिन ये तीनों वामपंथ के घोर विरोधी थे यह बात आपको याद रखनी पड़ेगी। इस तथ्य को हमें भूलना नहीं चाहिए कि उस समय की कविता तथाकथित समाजवादी रुझान में पैदा हुए लोगों की कविता है और इसीलिए उसका जो डिस्कोर्स है वो

एक तरफ तो सामाजिक है लेकिन दूसरी तरफ वामपंथ विरोधी है। अगर मेरी कविता में कहीं कोई तथ्य है तो वह यही है कि—इस मध्यवर्ग की कविता में वामपंथी यानी प्रगतिशील कविता कैसे संभव है? आप मेरे दूसरे संग्रह को देखोगे तो पता लगेगा कि अंततः प्रगतिशीलता का मतलब है क्या? दुर्भाग्य तो हमारा है कि हमारे ही समकालीन लोगों ने बाद में जिस तरह की प्रगतिशीलता झाड़ी है, उसमें कोरे सिद्धांतों और भाषणों के अलावा है क्या। हमने कविता के नए प्रगतिशीलता के सौंदर्यशास्त्र तो लिख मारे, लेकिन वो सौंदर्यशास्त्र है कहाँ? किन कविताओं में दिखाई देता है? उसकी कोई कोशिश नहीं की। इसीलिए समय की आलोचना को एक तरह का उत्तर तो मेरी कविताओं में नहीं है। उसके बावजूद, अँगूठा भी उनको दिखाने की कोशिश है कि नहीं है, इस पर आप कीजिए बहस।

आशीष त्रिपाठी : क्या नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल की पुनर्स्थापना ने आलोचना पाठक समुदाय और परिदृश्य में उनकी उपस्थिति की स्वीकार्यता है? आपके आत्मविश्वास को या आत्मबल को ज्यादा मजबूत बनाने में कोई मदद की है?

भगवत रावत : मैं तुम्हें यह बताना चाहता हूँ कि हम लोगों की पीढ़ी ही एकमात्र ऐसी पीढ़ी है हिन्दी साहित्य में, उसके पहले की देख लो, उसके बाद की देख लो, यही एकमात्र पीढ़ी है ऐसी, जिसने अपनी चिन्ता नहीं की और अंग्रेजों को शिरोधार्य ही नहीं किया बल्कि उनको स्थापित किया। इस बात को हमें भूलना नहीं चाहिए कि सन् 1960 के बाद तक भी नागार्जुन हिन्दी के बहुत बड़े कवि नहीं उपन्यासकार माने जाते थे। '67 में आकर के केदारनाथ अग्रवाल का काव्य-संग्रह आता है—'फूल नहीं रंग बोलते हैं'। त्रिलोचन का 'धरती' छप चुका था, शमशेर एकमात्र कवि थे जिनकी सबसे ज्यादा चर्चा हुई थी मुक्तिबोध के पहले। मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद उनका पुनर्जन्म होता है। जानते सब थे वे बड़े कवि हैं। 1964 और '65 के पहले तक मुक्तिबोध पर क्या लिखा है, किसने लिखा है? नामवर सिंह ने भी तो बाद में ही लिखा है—'परम अभिव्यक्ति की खोज' उनकी मृत्यु के बाद ही लिखी गई है ना। '65 में उनकी मृत्यु हो जाती है तब 1967 में 'कविता के नए प्रतिमान' आता है। यह जो सारा यहाँ पर हमको दिखाई देता है मैं उसे कह रहा हूँ कि इनको लेकर तो हम आए। हमारी पीढ़ी है जिसने अपने बड़ों को खुद तलाशने की कोशिश की कि हमारी जड़ें कहाँ हैं। यह ध्यान दो, 1975 के बाद ही प्रगतिशीलता का पुनरुत्थान होता है तो जाहिर-सी बात है कि हमें अपनी कविता में जो कुछ भी हम लिख रहे थे उसकी जड़ वहीं दिखाई देती है, वहीं मौजूद है। और केवल इतना नहीं कि सिर्फ दिखाई देती है जाहिर है बहुत कुछ हमने उनकी कविता से लिया तो हमने अपने आपको मजबूत भी महसूस किया। इसमें कोई शक नहीं। क्योंकि हमको अपनी पूरी परम्परा दिखी, वह परम्परा सिर्फ वहीं तक नहीं दिखती है। वह परम्परा हमें दूर से भी दिखाई देती है ना। वह परम्परा हमको निराला से भी दिखाई देती है, वह परम्परा कबीर से भी दिखाई देती है। तो इस तरह से एक रिश्ता हमारा बनता है। हिन्दी कविता में हम लोगों की पीढ़ी एकमात्र पीढ़ी है जिसने अपने पूर्वजों से अपनों को जोड़ा और अपने से बाद के लोगों को भी सबसे ज्यादा प्रेम से सामने लाने की कोशिश की। अपनी चिन्ता किए बिना।

आशीष त्रिपाठी : अब वापस हम चलते हैं भोपाल के दौर की तरफ। सोमदत्त को आपने अपने एक साक्षात्कार में और अपने लेख में बहुत प्रेम से याद किया है। तो सोमदत्त, दुष्यंत कुमार इन सबकी दोस्ती या मित्रता से जो एक वातावरण बनता है उसने आपके अंदर क्या परिवर्तन किया? तोड़ा या बनाया?

भगवत रावत : देखो, सोमदत्त 1964 में इधर आया और परसाई जी ने उसके बारे में

बतलाया और परसाई जी के कारण ही हम लोग मिले भी यहाँ पर। हम लोगों की मित्रता हुई। धीरे-धीरे पारिवारिक मित्रता हुई जिसको दाँत काटी रोटी कहते हैं। मैं मानता था कि सोमदत्त मेरा एकमात्र अच्छा मित्र है। उसके बहुत सारे होंगे और ये मानता रहा, मुझे लगा भी शायद कि एक अच्छे दोस्त के रूप में उसने बहुत जल्दी स्वीकार भी नहीं किया। शायद देर से ही किया। जबलपुर से आया था भाई, हैकड़ शहर से आया था। पढ़े-लिखे शहर से आया था। यहाँ परसाई जैसे इतने बड़े लेखक थे। उसे बहुत जल्दी स्वीकार भी नहीं किया मैंने, पर ये भान रहा। मुझे लगता था कि उसके अंदर कुछ है, बाद में तो हम लोगों में इतनी घनिष्ठता हुई कि हम एक दूसरे की कविता सुनते थे, पढ़ते थे और कई बार लगता था क्या कर रहे हैं? ये सब बकवास है। फेंको साले को, फेंक भी देते थे। एक बार यह हुआ कि उसके घर जब गया तो कहने लगा चार दिन से परेशान हूँ, कविता यहाँ तक हो गई है। मैंने कहा क्या हो गया। मेरा ख्याल है ये शब्द होना चाहिए। बोला अरे! कहाँ दिमाग चला गया था, ये शब्द मुझे याद नहीं आ रहा था। इस तरह की अंतरंग बातें होती थीं। इसके अतिरिक्त हमारा जो वातावरण था, जिसमें हम रहते थे वो था सोमदत्त, मैं, फजल ताविश, घनश्याम मधुप। '73-74 में उसकी मृत्यु हो गई। इन लोगों के बीच मैं रहता था। दुष्यंत कुमार उम्र में बड़े थे हमसे। वे बाद में आए। वे आकाशवाणी में थे। बड़े खूबसूरत, सुंदर, रोमैटिक आदमी थे। उनका संसार अलग था। धनंजय वर्मा थे जिन्होंने मुझे एम.ए. फाइनल में पढ़ाया था और हम दोनों की आयु में मात्र इतनी ही दूरी थी कि एक आदमी पढ़ाना शुरू करे और दूसरा आदमी पढ़ाई पूरी कर रहा हो। लेकिन उनसे बहुत गहरी मित्रता रही। उनका हमेशा आदर करता रहा, इज्जत करता रहा। आज भी उतनी ही करता हूँ।

इसके बाद भोपाल में शानी आए, दुष्यंत कुमार आए तो ये बिल्कुल अलग जमावड़ा था। ये सेकेंड जनरेशन थी। यों उम्र में वो भले ही बड़े थे पर पहली जनरेशन के तो भोपाल में हम हैं। सन् '73 के बाद राजेश जोशी ने लिखना शुरू किया, वे प्रसिद्ध हो गए। तो तमाम सारी बातें उनके बारे में होने लगीं। उनका नाम लिया जाने लगा और वे जाने लगे। लेकिन मेरे अपने वातावरण में मूलतः ये लोग थे—सोम, मैं, फजल ताविश और हमारा वो तबका बहुत बड़ा तथा एक तरह से वामपंथी रुझान का था। खासतौर पर एक ऐसे व्यक्ति यहाँ पर थे जिनका साहित्यकारों में कोई नाम नहीं आता लेकिन जिनका बड़ा प्रभाव था—मथुरा बाबू। सन् '67 में अशोक वाजपेयी यहाँ आए। कुछ दिनों रहकर वह चले गए। फिर बाद में लौट कर आए तो यह सब होता रहा। मैं यह कहना चाहता हूँ कि यह बात समझने की है कि हिंदुस्तान में आजकल जो लोग मानते हैं कि भोपाल में साहित्य और संस्कृति का पुनरुद्धार सन् 1973 से होता है तो यह गलत है। हाँ, यह बात अलग है कि अशोक यहाँ आए, अच्छे पद पर थे, बहुत संवदेनशील और Visionary आदमी थे। उन्होंने सरकार का खूब अच्छा दोहन किया और बढ़िया काम किया और सही बात है कि साहित्य और संस्कृति में एक लहर पैदा कर दी इसमें कोई शक नहीं है। लेकिन भोपाल में उससे पहले कुछ हुआ ही नहीं था यह सब बेकार है।

भोपाल एक संसार था। उसकी अपनी केन्द्रीयता थी और उसमें उर्दू और हिन्दी वालों की एक ऐसी जमात थी जो शायद रोज ही बैठा करती थी। शायद कोई दिन ऐसा नहीं होता था जिस दिन ये पाँच लोग ना मिलते हों—शरद जोशी, भगवत रावत, सोमदत्त, फजल ताविश और घनश्याम मधुप और यह वर्षों तक चला और मिलते कहाँ थे—मदन तापड़िया की दुकान पर मिलते थे। फिर वहाँ से घूमने निकलते थे, फिर ता साहब के पास चले जाते थे। फिर

वहाँ से अहद होटल चले जाते थे। तो यह पूरा एक संसार था और ये सब लोग ही मिलकर के किया करते थे जो हिन्दी और उर्दू के लोग थे। विशेष रूप से कहना चाहता हूँ ये लोग अपनी-अपनी संस्कृति से आए थे लेकिन जिनके दिमाग के दरवाजे खुले थे, ओपन थे और जो प्रगतिशील था जिनका रुझान प्रगतिशील था, इसके बरक्स बाकी जो संसार आया, वह हमारे विरोध में आया। चाहे दुष्यंत कुमार हों और चाहे शानी हों। जब मुक्तिबोध समारोह हमने किया भोपाल में तो दुष्यंत कुमार ने कहा कि बहुत सुन लिया मुक्तिबोध-मुक्तिबोध। तीसरी गोष्ठी में उन्होंने बहुत ही डेमिजिंग पर्चा पढ़ा। तब श्रीकांत वर्मा ने बोलने से पहले सिर्फ यह कहा कि—‘फ्रांस में कोई बड़ा चित्रकार वह एक तवायफ को अपने साथ गैलरी दिखाने गया तो एक न्यूड को देखकर वह तवायफ शर्मा गई, दुष्यंत कुमार की हालत यही है। ये चीज मुझे भूलती नहीं। लेकिन अब इनका जिक्र कोई करता नहीं, करना भी नहीं चाहिए। इसके बाद जो भी तबका आगे बढ़कर के चला है उसने भी साहित्य की दुंदुभी भी बहुत बजाई। हम लोगों ने भी उसका साथ दिया। अशोक का साथ हमने भी दिया। और सोमदत्त तो उसके शिकार भी हुए। लेकिन हमने पूरा साथ दिया, कब दिया, जब तक दिख रहा था कि कुछ है, लेकिन जब वो अपने असली रूप में आ गया जो हमने अपना रवैया बदला। सारे लोग लोहियावाद से निकले थे और उन्होंने वामपंथ विरोध का नारा सबसे पहले उठाए रखा था। सबसे पहले ये वामपंथ विरोधी थे इसके बाद लोहियावादी। इसलिए इनकी सामाजिक भूमिका दिखाई देती थी। भोपाल की भी स्थिति यही थी। इसीलिए सन् 73 से सन् '80 तक जब तक भारत भवन का निर्माण नहीं हुआ था तब तक तो कोई व्यक्ति सत्ता के रूप में सामने नहीं आता। इसीलिए सबका स्वागत होता है। अच्छे-अच्छे कवि आते हैं, अच्छे-अच्छे लेखक आते हैं। और जैसे ही वह सत्ता प्रतिष्ठान बनता है, वैसे ही उस पर कब्जा उन लोगों का हो जाता है जो तथाकथित लोहियावादी थे लेकिन वामपंथ विरोधी थे। अब नाम लेने की कोई जरूरत नहीं है, पर उसका क्या हथ्र होता है, अच्छी तरह से सबको मालूम है। उसी तरह का कुछ वातावरण था भोपाल का।

आशीष त्रिपाठी : 1980 के बाद विशेष रूप से प्रगतिशील आंदोलन के पुनर्भार और भोपाल के एक प्रमुख केन्द्र बन जाने और सामानांतर भारत भवन जैसी एक दूसरी संस्था या दूसरे विचार के आंदोलन के पनपने के बाद लंबा संघर्ष एक-दूसरे पर हमले के साथ लगातार चलता रहा। एक संवेदशील कवि के रूप में, एक प्रतिबद्ध सामाजिक आंदोलनकर्ता के रूप में, एक विचारक के रूप में तो आप उसके एक पक्ष में खड़े हुए थे पर एक संवेदनशील कवि के रूप में इस पूरे परिदृश्य, इस पूरे वाद-विवाद का, इस पूरी बहस का क्या कोई, कोई चित्र आपके भीतर निर्मित हुआ। उसका कोई असर पड़ा क्या? उसने आपके भीतर कोई हलचल पैदा की? कोई ऐसी बात जिसने आपके कवि को सम्बोधित किया हो, आपके कार्यकर्ता को नहीं?

भगवत रावत : देखो, मैंने कहा कि जब भारत भवन बन जाता है, एक सत्ता प्रतिष्ठान बन जाता है तो उसके ऊपर कब्जा शुरू हो जाता है और ये कब्जे हमको दिखाई नहीं देते, लेकिन होते हैं। आज भोपाल बड़ा हो गया तो तरह-तरह के लोग आने लगे हैं। अपनी-अपनी जमीनें खरीद करके रहने लगे हैं। ऐसा साहित्य में भी हुआ। पर एक प्रगतिशील लेखक की दृष्टि से मैं कहना चाहता हूँ कि हम प्रगतिशीलों ने भी कई बार सामंती ढंग से भी काम किया। अगर हम प्रगतिशील हैं संवेदनशील हैं, तो ठीक है, होना ही चाहिए। लेकिन विवेकवान भी तो हैं। हमारी समझ वैज्ञानिक है। तो हमको ये मान लेना चाहिए था कि क्रांति हुई नहीं है।

अभी जहाँ हम जाना चाहते हैं वहाँ पहुँचना है हमको। अभी थोड़ा सा ही पड़ाव है। हमने उनसे जो व्यवहार किया तो दुर्भाग्य से जिसको हमने विद्रोह समझा वो दरअसल, हमारी सामंती सोच भी थी। आज की तारीख में कोई ये कहे कि इसके हाथ का छुआ नहीं खाएँगे तो उसको क्या कहा जाएगा? क्या उसको विद्रोही कहा जाएगा? उसको तो यही कहा जाएगा कि सामंती सोच के नतीजा का आदमी है। तो हमारे लिए कोई भी आदमी निकृष्ट और गर्हित त्याज कैसे हो सकता है, अछूत कैसे हो सकता है? पर हमने यह किया और हमने यह करके एक अच्छी-खासी दूरी उन लोगों के बीच में पैदा कर दी जो प्रगतिशील थे और जो प्रगतिशील नहीं थे लेकिन फिर भी बहुत दूर तक साथ चलते रहे। जो हमारे फैलो ट्रेवलर नहीं हो सकते थे, लेकिन बहुत दूर तक साथ थे। आखिरकार हम सरकारी नौकरियाँ तो कर ही रहे हैं। आज जब हमसे बिल्कुल विरोधी सत्ता है तो हम क्या कर रहे हैं, हम कौन-सा घर छोड़ के चले जा रहे हैं, कहाँ जाएँगे, संघर्ष तो इसी में करेंगे ना। मेरा अपना व्यक्तिगत तौर पर ये मानना है कि उस समय जो निर्णय हमने भारत भवन के खिलाफ लिया था बहिष्कार का वो निर्णय हमारा आवेश में लिया गया निर्णय था। हमने वामपंथी लोगों की तरह सोच-विचार करके निर्णय नहीं लिया। क्योंकि हम बहिष्कार किये बगैर भी अपना संघर्ष जारी रख सकते थे। अगर हमारा कोई सिद्धांत यूनिटी और स्टूगल का है तो उन्हें त्याज्य कर दिया और जिसके पास कोई दूसरा विकल्प नहीं था उसको बहुत दूर कर दिया। मेरी इस बात को उस समय भी यही कहा गया था कि चूँकि मैं सुविधाएँ लेना चाहता हूँ इसलिए मैं ऐसा कह रहा हूँ। तो मैंने आज तक ना भारत भवन से, ना पूर्वग्रह से, किसी संस्थान से मुझे कोई सुविधा ना मिली, ना मैं कभी छपा। 'साक्षात्कार' पत्रिका को छोड़कर कभी एक पंक्ति नहीं छपी। जो विरोध करते रहे वो सब छपे। अगर हमने बहिष्कार किया तो हम वहाँ दिखाई भी नहीं दिए क्योंकि हम सड़क से भी निकल जाएँगे तो जबलपुर में बैठे हुए लोग देखे लेंगे कि भगवत रावत उस सड़क से निकला है, इसलिए हम तो नहीं गए लेकिन बाहर बैठे हुए लोग सब कुछ कहते रहे। एक तो वह हमने गलत काम किया।

दूसरा हमें नहीं भूलना चाहिए कि यही वह समय है जब थोड़े दिनों बाद धीरे-धीरे नब्बे के आसपास आकर वैश्विक स्तर पर समाजवाद का ढाँचा चरमराकर टूटता है। भोपाल में रहने वाला आदमी जो इस सबको सह रहा हो, देख रहा हो, सारे वामपंथ विरोध को देख रहा हो, चौबीस घंटे लड़ भी रहा हो, अपने जीवन में भी, कविता में भी, साहित्य में भी लड़ रहा हो। जब ये सब घटित होगा तो वह सब कहीं न कहीं आयेगा। उसे हमने दर्ज किया है। किसी ने समय को ठीक से पढ़ा नहीं। अगर 'सुनो हीरामन' पढ़ेंगे ठीक से तो पता लगेगा। हीरामन कहता है कि कैसे हो गया। ये लोग जो कल तक हर बात पर उसकी तारीफ कर रहे थे वो भड़ैत थे और ये जो पड़ोसी की लड़की के भाग जाने की खुशी में तालियाँ बजा रहे हैं जैसे पड़ोसी की लड़की भाग गई है तो हमारी सुरक्षित है, कुटिल हँसी हँस रहे हैं तो यह सब उसके अंदर था। अगर यह सब नहीं हुआ होता, तो 'सुनो हीरामन' नहीं लिखा जाता। एक दो चीजें हैं जो समानांतर चली हैं—एक तो 'सुनो हीरामन' है और दूसरा है—'अथरूप कुमार कथा'। 'अथरूपकुमार कथा' को पता नहीं कितनी गंभीरता से लोगों ने पढ़ा लेकिन ध्यान से देखें तो इस पूरे वातावरण का पता चलेगा, मैं ये कहना चाहता हूँ कि इस तरह के Structure में किसी ने कविता लिखी नहीं हिन्दी में। अब वह कितनी खराब और कितनी अच्छी है, यह बात अलग है लेकिन ऐसा Structure किसी ने अपनाया ही नहीं। हिन्दी में एक तरह का ड्रामा का Structure है। इनमें एक कथा शुरू होती है उसका उपसंहार भी होता है और बीच

में पूरा ढाँचा है। हमारे समय का ढाँचा है। वो कथा शुरू होती है ऐसे एक दावा था और कथा समाप्त होती है कि इसके आगे की कथा बम्बामनी बताएगी। अब तक ये कथा है, पूरा ढाँचा है। रूपकुमार तो कोई मशहूर और पहले से लिखा गया चरित्र नहीं है। रूपकुमार तो मैं पैदा करता हूँ, बनाता हूँ उसको, गढ़ता हूँ उसको। जब उस रूपकुमार में देखो तो ध्यान से देखो कि इस अंतर्द्वन्द्व के जिसकी तुमने चर्चा की कि एक तरफ प्रगतिशीलता है, दूसरी तरफ ये है, दोनों के बीच में कोई संकल्पना जन्म लेती है कोई चीज जन्म लेती है। रूपकुमार पढ़ने पर आपको पता लगेगा कि वो छद्म संस्कृति वाले लोग हैं।

आशीष त्रिपाठी : उसके एक खंड में आता है कि एक मंच पर दाहिनी पक्ष और एक बायीं पक्ष से रूपकुमार आकर मिलते हैं और लोग सोचते हैं कि आज दूध का दूध पानी का पानी हो जाएगा। वो चकित होते हैं, दोनों एक दूसरे के गले में बाहें डालते हैं। साफ-साफ संकेत उस कविता में है।

भगवत रावत : ये संकेत गोबच्यचोब की तरफ है। हल्ला मच गया था। हमारे जितने मित्र थे जो कसकर बुराइयाँ किया करते थे, वे सब यही तो बातें करते थे, इतना कड़ापन है, खुलापन नहीं है। दुनिया भर की बातें। हम झगड़ा करते थे। वहाँ अगर किसी होटल में जाते हो और डबल-रोटी खाना चाहते हो तो उसका पैसा नहीं लगता यह सच है तो बहुत बड़ी बात है। गोर्बाच्योब गलासनोस्त और पैरोइस्त्रोइका करता है तो क्या बताता है। बड़ा खुलापन आया, उस खुलेपन का हुआ क्या? खुलापन अमरीका में जाकर डिजाल्व हो जाता है। अथरूप कुमार कथा में सबसे पहली कविता है कि जब रोम जल रहा था, रूपकुमार बाँसुरी बजा रहे थे। रूपकुमारों में अधिकांश रूपकुमार वे हैं, जो साहित्य और संस्कृति वाले रूपकुमार हैं। लोग साहित्य और संस्कृति बनाकर किस तरह अपनी छवियाँ निर्मित करते हैं और कैसी-कैसी बातें करते हैं? नीरो को बाँसुरी बजाना यूँ ही नहीं आया है। जब भोपाल गैस त्रासदी के बाद फंक्शन हुआ और लोगों ने विरोध किया। तब यह कहा कि संस्कृति अपनी जगह है। तो यह कविता उस समय लिखी। फिर वे तमाम सारी कविताएँ आती हैं। रूपकुमार के बिना छुए फूल खिलता नहीं, अब आप अगर पहचान नहीं सकते हैं तो ठीक है। मगर ऐसा है और यह सिर्फ भोपाल में है ऐसा नहीं है। इसीलिए रूपकुमार जनरेलाइज होता है और फिर कहीं ना कहीं वास्तविकता से जुड़ जाता है।

आशीष त्रिपाठी : इसकी छवियाँ भोपाल में देखी जा सकती हैं बिल्कुल साफ-साफ...।

भगवत रावत : कहीं ना कहीं फिर वह धीरे-धीरे अपने अंदर बैठे हुए रूपकुमार तक भी आता है और अपने अंदर बैठे हुए रूपकुमार से भी सवाल करता है। ये जो परिस्थितियाँ हैं वो हमारे अंदर क्या-क्या चीजें छोड़ जाती हैं कैसे-कैसे छोड़ जाती हैं। इन सबको आइडेन्टिफाई करना अपने आप में बहुत आसान काम तो है नहीं। अगर ये सारा समय इस तरह से नहीं गुजरा होता, मैं भोपाल में नहीं रहा होता तो शायद यह संकल्पना जन्म नहीं लेती। अगर मैं कहीं दूसरे शहर में होता तो ये सारी चीजें पैदा नहीं होतीं। शायद रूपकुमार वाली कविता नहीं आती क्योंकि हमें खुद के चेहरे कविता में बहुत सारी जगह दिख जाते बहुत सारे लोगों ने इस पर बात ही नहीं की। इसलिए मैं मानता हूँ ये जो दो चीजें हैं जिसने कि दिमागों में भी एक तरह की टकराहट की है, उससे जो चीजें पैदा होती हैं वह यही एक डायलॉग है। मैं मानता हूँ कि ये दो चीजें नहीं लिखी जातीं, अगर ये सब नहीं होता।

आशीष त्रिपाठी : कुल मिलाकर मैं इसे इस तरह से समझूँ कि अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर जो घटित हो रहा था उसका असर तो इन दोनों कविताओं पर साफ देखा ही जा

सकता है पर साथ ही भोपाल में जो ये परिदृश्य चल रहा था उस पर भी इनमें काफी गहरी टिप्पणी देखी जाती है। खासतौर पर 'रूपकुमार' में तो ये कहें कि उधर भी हैं रूपकुमार और इधर भी हैं रूपकुमार। तो दोनों तरफ के रूपकुमार आपको दिखाई दे जाते हैं।

एक सवाल है उसका जवाब हालाँकि आप पहले दे चुके हैं पर मैं फिर से पूछना चाहता हूँ कि बहुत सारे ऐसे प्रसंग हैं भारतीय राजनीति के और हमारे समय के जिन पर प्रायः कवियों ने कविताएँ लिखी हैं—जैसे कि साम्प्रदायिकता पर, भोपाल गैस त्रासदी पर। ये दो बड़े संदर्भ हैं जिनको मैं लेना चाहता हूँ। इन पर आपके यहाँ कवितायें नहीं हैं। कुल मिलकर दो कविताएँ मेरी नजर से गुजरी हैं एक तो वह जो कविता अब आई है संग्रह में कि कितना अच्छा है कि भोपाल अयोध्या से दूर है। दूसरा रूपकुमार कथा में एक जिक्र आता है कि कभी-कभी रथ पर सवार होते हैं रूपकुमार और चीजों को अतीत में बनाने की कला में माहिर हैं रूपकुमार, ये दो-एक संदर्भ मुझे दिखाई देते हैं। बाकी भोपाल त्रासदी का एक उल्लेख कुल-मिलाकर 'कचरा बीनने वाली लड़कियाँ' में आता है कि कहाँ तो चली गई थीं सब/कहाँ से उग आई। उस तरह की सीधी कविताएँ नहीं दिखाई देती हैं, ऐसा कैसे होता है?

भगवत रावत : असल में यह बात सही है। सही इस अर्थ में कि मैं किसी घटना विशेष को ले करके कविता नहीं लिखता। कविता शायद बनती नहीं, कारण उसका यह है कि अगर भोपाल गैस त्रासदी होती है जो बहुत बड़ी ट्रेजडी है और उसको हम सबने देखा है। वह ट्रेजडी घटित हो गई, उसके पहले हम जो कुछ लिख रहे थे, उस ट्रेजडी की भूमिका नहीं थी क्या? वो भोपाल गैस त्रासदी के रूप में घटित होती है या किसी दूसरे रूप में घटित होती है। जो घटना घट गई तो उस विशेष विषय पर कविता आपको नहीं मिलेगी लेकिन उसके तथ्य हर जगह पर मिलेंगे, उसके अंदर से पैदा होने वाले चरित्र मिलेंगे। 'मेरा चेहरा अगर आप देखें' जो कविता है तो सच पूछो तो वह आता है थूक कर चला जाता है मेरे बगल में। ये सारे चरित्र कौन से हैं? वहीं से तो ये आते हैं। ये कचरा बीनने वाली लड़कियाँ, कहाँ से आती हैं? अब सिर्फ भोपाल गैस त्रासदी का नाम लेकर ही मैं कविता लिखूँ, लिखी भी मैंने पर मुझे लगा कि नहीं, मैं जस्टिस नहीं कर रहा हूँ ठीक से। मैं कर नहीं पा रहा हूँ तो क्या बताऊँगा। भागते हुए लोग, दौड़ते हुए लोग, एक दूसरे पर गिरते हुए लोग, एक दूसरे को रौंदते हुए लोग, जान बचाते भागते हुए लोग ये दृश्य तो हो सकते हैं मेरे लिए और खामोश कर देंगे कि एक शब्द भी ना फूटें। लेकिन मैंने अपने पिता की मृत्यु पर कोई कविता नहीं लिखी, मैंने माँ की मृत्यु पर कोई कविता नहीं लिखी, तो घटना है लेकिन माँ को जिस तरह से मरते हुए देखा है और पिता को जिस तरह छीजते हुए देखा है, जिस तरह संघर्ष करते हुए देखा है, वह तो है तो ये मुझसे नहीं होगा। तुमने यह बात ठीक पकड़ी। जहाँ तक साम्प्रदायिकता का सवाल है, तो फिर सिर्फ बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने पर कविता नहीं है। कहीं नहीं दिखाई देगी लेकिन बहुत सारी कविताएँ मिलेंगी। सच पूछो तो मैं कम से कम छह कविताएँ हैं—'लौटना' कविता है—'कौन होगा इस समय जो सूर्य की तरफ मुँह करके दे रहा होगा अर्घ्य/कौन होगा जो पश्चिम की ओर मुँह करके पढ़ रहा होगा नमाज,' कविता है। ऐसी कई कविताएँ उसके अंदर हैं। इसमें तो कविता भी है—'हम जो बचे रह गए' इसलिए सच पूछो तो इसमें आपको बहुत सारी कविताएँ मिलेंगी, जिसके अंदर वो सारी बातें मिलेंगी। केवल बाबरी मस्जिद को लेकर नहीं मिलेगी अलग से। मैं शायद बाबरी मस्जिद को ढहाते हुए देख भी रहा होता, उस भीड़ में भी शामिल होता, तब भी मैं कविता नहीं लिख पाता। बाबरी मस्जिद तो ढह गई ना यार, ईट-पत्थर की थी पर बाबरी मस्जिद ही थोड़े ढही है, ढहा तो कुछ और है ना। तो

वो उसकी जो टूटन है, उसकी जो घुटन है, उसकी जो ट्रेजडी है, वो मेरी कविताओं में है कि नहीं है। इसलिए बाकायदा किसी विषय पर किसी घटना पर शायद कहीं भी कोई कविता नहीं मिलेगी मेरी। तुम तो सिर्फ इसी की बात कर रहे हो। यह बात कहीं नहीं मिलेगी।

एक कविता में एक घटना मिलेगी कि कलारी में बैठे देख रहा हूँ कि वो जो कल्लू झाड़ू लगाता था, उसकी पत्नी झाड़ू लगाती, जो मेहतर हैं वहाँ पर, वो कैसे कलारी के पास में एक चट्टान पर बैठकर शराब पीते हैं। उसका अतिथि आ जाता है। वह घटना ना कहीं इतिहास में दर्ज है ना कहीं अखबार में आई लेकिन वह घटना मेरे लिए ज्यादा महत्वपूर्ण है। ये मैं नहीं कहना चाहता कि बाबरी मस्जिद का टूटना कितनी बड़ी घटना है इतिहास की, इमसें कोई शक नहीं, लेकिन जो टूटा है उन लोगों के बारे में तो कविता हो सकती है। वो जो ट्रेजडी है, जो अंदर घटित होती है उसकी तो ट्रेजडी हो सकती है, बाकी क्या कह सकता हूँ? बाद की कविताओं में जो 'ऐसी कैसी नींद लग गई' में इस पर बहुत सारी कविताएँ आई हैं—साम्प्रदायिकता पर। 'सुनो अशोक' एक कविता है, 'बुद्ध के नाम पर' एक कविता है। 'सुनो पवन सुत रैन हमारी' एक कविता है। गुजरात में जो 2002 में घटना घटी, वहाँ पर जो हुआ वह अलग से नहीं है कविता लेकिन उसको लेकर तमाम सारी कविताएँ हैं। उससे जो माहौल बनता है, जो संत्रास पैदा होता है, जो तकलीफ पैदा होती है, वे सब कविताएँ इसमें हैं। उस तरह की मिलेंगी। घटना विशेष को लेकर कि फलाना तारीख की है, उसको लेकर शायद कविता ना मिले।

आशीष त्रिपाठी : आपकी कविता में ये महसूस किया जाता है कि परिवार में एक संलग्नता दिखाई देती है और बार-बार परिवार कविता में किसी न किसी रूप में किसी न किसी तरह से आता है—'नगद उधार' कविता में आता है, या पत्नी पर जो कविताएँ हैं। बच्चों के चेहरे कविता में कम दिखाई देते हैं, पिता का चेहरा प्रायः दिखाई नहीं देता कहीं कविता में। या तो पत्नी दिखाई देती है या माँ दिखाई देती है और माँ भी एक चरित्र के रूप में दिखती नहीं एक अदृश्य उपस्थिति है जिससे बातें की जा रही हों, जहाँ-जहाँ वो संदर्भ में आई हैं—'अम्मा से बातें' में तो है ही। तो एक तो ये सवाल है कि आपके अपने बच्चे, क्योंकि इसी रास्ते शायद 'बच्चे' कविता में आ सकते थे सबसे ज्यादा सहूलियत से, वो कविता में नहीं आए, दूसरा इसी से जुड़ा हुआ सवाल है कि संगीत में आपकी गहरी दिलचस्पी है। आपने अभी नाम ही लिया झाँसी के उस्ताद का। इधर संगीत पर काफी कवियों ने कविताएँ लिखीं और मेरा ख्याल है उसकी शुरुआत अशोक वाजपेयी की 'उस्ताद अकबर अली खाँ के सरोद वादन को सुनकर' शायद हुई होगी। मंगलेश जी की कविताएँ हैं। इस बीच बहुत सारे कवियों की कविताएँ संगीत पर आई हैं। आपकी कोई कविता उस तरह से संगीत पर मेरे जहन में फिलहाल तो नहीं आ रही है। तो क्या ऐसा होता है कभी कि बहुत सारी चीजें आपकी संलग्नता में होती हैं पर वे जाने-अनजाने किसी कारण वश, दबाव वश, कविता में नहीं आतीं। क्या वे खुद अपने को संसर कर लेती हैं?

भगवत रावत : देखो, एक बात बताऊँ यह मैं लिखता हूँ कि 'बच्चे काम पर जा रहे हैं'। यह कविता सन् 1972-73 में लिखी गई थी जो '77 में दूसरा इसी के बाद एक कविता और है कि वे एक दूसरे को गाली देते हुए बढ़ रहे हैं। वह कविता बच्चों वाली है। मैंने अभी एक कविता का जिक्र किया था 'अतिथि कथा'। ये अतिथि कथा जब मैं लिखता हूँ? तो क्यों लिखता हूँ, मैंने अपनी बेटी की शादी तय की उसके कुछ दिन बाद उन लोगों को खाने पर बुलाया। घर पर मित्रों को भी बुलाया। बड़े शान से पहली बेटी की शादी कर रहे थे सबको

मिलाकर बहुत अच्छे से दावत दी, बड़ा सुख पाया। मैं कॉलेज से रोज निकलता था और स्कूटर से आता था। मेरे बाएँ हाथ पर लौटते वक्त कलारी पड़ती थी, जिस कलारी में जाकर बैठकर हमने शराब पी। कभी-कभी मित्रों के लिए खरीदने भी जाना पड़ता था। हम भी बैठते थे उनके साथ। चूँकि कॉलेज जाना रोजाना स्कूटर से होता था तो प्रतिदिन देखता था मैं दो लोगों को झाड़ू लगाते हुए, सफाई करने वाले वो कौन थे, कभी नहीं जाना। एक दिन मैंने देखा कि तीन लोग बैठे हुए हैं और वो तीनों बैठकर पी रहे हैं तो मैं उस वक्त गया। वहाँ मैंने खुद दूर से देखा। एक औरत इस तरफ बैठी हुई थी उसके पास भी गिलास था, और उसका पति और तीसरा कोई नया आदमी था। वो कौन था? क्या था मुझे नहीं मालूम। मैं सोचने लगा कि देखो, हो सकता है ये वो आदमी हो जिसके लड़के से, इन दोनों ने अपनी बेटी की शादी तय की हो, उसका समधी हो। मैं सोचने लगा मैंने अभी अपनी बेटी की शादी तय की और कितना खुश हुआ हूँ। बढ़िया डाइनिंग टेबल पर खाना खिलाकर। और ये देखो जमीन पर कागज बिछाकर के मुँगौड़े रखकर शराब...ये दो दृश्य हैं जिनका कम्पेरिजन है। पर उसके बाद में जो घटित होता है वो सब कल्पना है। वे गाँव के लोग कैसे-कैसे बोलते हैं, वह सब मेरे अपने अनुभव का हिस्सा है। तो कोई दिक्कत की बात नहीं थी बस, सिर्फ बात इतनी थी कि मैं उसको, कविता में उसका समधी मानता हूँ। अब आप ये कहें कि मैंने सिर्फ वह कविता उस पर लिखी, ये कविता मेरे घर परिवार के लोगों के बारे में नहीं है तो ऐसा नहीं है। एक छोटी-सी कविता है 'बिटिया'।

बाकी संगीत के बारे में जहाँ तक तुमने बात कही तो अब्वल तो एक बात मैं कहना चाहता हूँ कि पता नहीं क्यों मुझे ऐसी कविता कोई पंसद नहीं आई। आज तक अच्छी ही नहीं लगीं। जरूर अच्छी होंगी मेरी अपनी सीमा है कि मैं उनमें अच्छाई ना देख सका। बिस्मिल्लाह खाँ के बारे में कविता लिखूँगा, अगर लिख पाया तो—इतनी हिम्मत चाहिए मुझमें। बनारस में पैदा हुआ होता और दस-पाँच साल उनके साथ रहने का मौका मिला होता तो मैं जरूर उन पर कविता लिखता। पर बिस्मिल्लाह खाँ के संगीत में शहनाई तो होती है और कुछ हो रहा हो तो मुझे नहीं मालूम। तो ये एप्रिसिएशन की पोएम मुझसे बनती नहीं। मैं कर नहीं सकता। इसलिए नहीं कर सकता कि संगीत मेरी शरण स्थली है...मैं तो उसको माँ की गोद मानता हूँ, वहाँ जाकर सोता हूँ इसलिए अलग से इस पर कविता..माँ के ऊपर कविता लिख पाना बहुत मुश्किल काम है, मैंने माँ पर लिखी ही कहाँ कविता? मैंने तो अम्मा से बातों के बहाने कविता लिखी। उन पर माँ के बारे में तो एक लाइन नहीं है।

आशीष त्रिपाठी : बहुत सारे लोगों ने लिखी हैं...।

भगवत रावत : बहुत लोगों ने लिखा है। मैंने कहा ना कि शायद मैं उतना एप्रिशिएटेड ढंग से हो नहीं सकता। उसका कारण ये है अब्वल तो संगीत और कलाओं के ऊपर जो कुछ भी लिखा जाता है, चाहे वह गद्य ही लिखा जाता हो—वह एक ऐसी भाषा में लिखा जाता है जो उसकी भाषा नहीं है। पेंटिंग की या संगीत की भाषा अलग है और जब हम लिख रहे होते हैं, वह अपनी भाषा में लिख रहे होते हैं, तो इसलिए मैं उसको जस्टिफाई भी नहीं करता। किसी संगीतकार को सुनते हुए जो आपके मन में पैदा होता है क्या ऐसी अनुभूति कभी किसी को पढ़ते हुए भी हुई है! इस तरह वह संगीत के बारे में ही लिख रहा है। ये बात कई बार आलोचना में होती है। कई बार कहानी की जो आलोचना लिखी जाती थी एक जमाने में, नई कहानी के जमाने में, तो कहानी से ज्यादा अच्छी उसकी आलोचना हुआ करती थी। उसको पढ़ने में ज्यादा मजा आता था क्योंकि दोनों की भाषा एक थी। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि

नहीं लिखी जानी चाहिए पर जो कविताएँ लिखी भी गई हैं संगीतकारों पर वो भी हमारे अच्छे मित्रों ने लिखी हैं। अच्छी कविताएँ होंगी। पता नहीं मैं उनको बहुत समझ नहीं पाया उस तरह से। जैसे उनकी दूसरी कविताएँ मुझे ज्यादा आंदोलित करती है जैसे ये नहीं करती।

आशीष त्रिपाठी : जब मैं आपकी कविता पढ़ता हूँ तो मुझे हमेशा ये बात लगती है कि शायद आपकी कविता से गुजरते हुए, एक जो स्वप्न दिखाई देता है, वो यह है कि दुनिया में किसी भी चीज की रक्षा तुम्हें यदि करनी है या किसी भी चीज को बचाना है या किसी भी चीज का सृजन करना है, कोई सपना है तो वह सपना है जिंदगी में अपनेपन की, आत्मीयता की, दोस्ती की और पारिवारिकता की रक्षा करो। यही शायद कवि भगवत रावत का एक स्वप्न है। मैं कई बार ये सोचता हूँ कि बार-बार ये बात कविताओं में क्यों आती है? 'हुआ कुछ इस तरह' में एक कविता है, 'गाँव से निकला हुआ, बाहर चला गया, गाँव ना पहुँच पाया एक आदमी, कहानी की दीवार पर पीठ टिकाकर', वहीं कहीं ये स्वप्न भी है कि रामचरण के लिए ये कर पाता, भूरी भाभी का चेहरा वापस लौटा पाता, तो कुल मिलाकर मुझे पूरी कविता से गुजरते हुए ये नहीं लगा कि कहीं आप कोई सामाजिक समरसता का, सबसे बराबरी की कोई सीधी बात कर रहे हैं। या आप कोई क्रांति की, संघर्ष की ऐसी दुनिया की तरफ चलने की कोई बात कर रहे हैं, या कोई रामराज्य हो ऐसी कोई बात कर रहे हैं। या सतयुग आएगा, तभी सब सपने सच होंगे ऐसी कोई बात कर रहे हों जो लगातार बार-बार दिखाई देता है कि यदि दुनिया को उसके सबसे बेहतर रूप में बनाना है, सृजन करना है, तो अपनेपन की, आत्मीयता की, दोस्ती की, पारिवारिकता की। और यही शायद आपका स्वप्न है। मेरा सवाल यह है कि क्या गाँव से शहर में माइग्रेशन, संयुक्त परिवारों का टूटना इस सबसे इसका कोई सम्बन्ध है? अपने जीवन में अपना संघर्ष झेलता हुआ एक आदमी मध्यवर्ग में दूसरे की चालाकियों से, जैसा आपने कहा कि तयशुदा संबंध की तरह तयशुदा भाषा से, गले का कोर छीनकर ले गया, वह जो दुनिया है, क्या उस सबके समानांतर एक प्रति संसार रचने की कोशिश है?

भगवत रावत : तुम्हारी बात ठीक है। सहमत हूँ मैं। अब सवाल ये है कि ऐसा क्यों है? अब तो मैं यह मानता हूँ कि कविता अपने आप में ही एक प्रति संसार की रचना है वरना कविता होती ही नहीं। मैंने मुक्तिबोध के बारे में बात करते हुए तुमसे कहा था कि वे मेजर डिस्कोर्स के कवि हैं। मुक्तिबोध के समय तक, वो डिस्कोर्स था जहाँ आप एक ऐसा स्वप्न देखते हैं। परम-अभिव्यक्ति की खोज की बात करते हैं। हम लोगों के वक्त तक आते-आते वो नैरेटिव बचा नहीं क्योंकि हमने जब आँख खोली तो संघर्ष में आँख नहीं खोली हमने चीजों को ढहते हुए देखा, उनमें आँख खोली। ये एक फर्क समझना चाहिए। सेकंड वर्ल्ड वार के पहले, फर्स्ट वर्ल्ड वार के आसपास पैदा हुआ आदमी, सेकंड वर्ल्ड वार तक अपनी आँखें खोलता है, जवान होता है, उसके सामने एक बड़ा नैरेटिव बचा हुआ है, दुनिया के लिए। इसलिए मुक्तिबोध एक बहुत बड़े कवि हो जाते हैं ये ध्यान देने की बात है। मेरे बारे में जो तुमने बात कही है, मैं तो छोटा कवि हूँ, यह बात केवल मेरे बारे में ही सच नहीं है बल्कि नागार्जुन के बारे में भी यही सच है, केदारनाथ अग्रवाल के बारे में भी यही सच है। और ये क्या कर रहे हैं सिर्फ बचाने के अलावा। इसे बचा ही रहे हैं और कुछ नहीं कर रहे हैं। उसे आगे नहीं ले जा रहे हैं, मुक्तिबोध उस जगह एफर्ट करते हैं क्योंकि मुक्तिबोध के समय सेकंड वर्ल्ड वार शुरू होता है और सेकंड वर्ल्ड वार के बाद शीत युद्ध शुरू होता है। वो सारा-शीतयुद्ध है क्या? यही ना कि कौन सफल होगा? यही तो है ना? सन् 1990 तक अगर रूस की व्यवस्था

चरमरा कर नहीं टूटती तब तक की स्थिति उस डिस्कोर्स की ही स्थिति है जिसमें आदमी एक बड़ी इच्छा लिए हुए होता है। कहीं ना कहीं शायद उस डिस्कोर्स ने हममें उम्मीद जगाई और वह जरूरत से ज्यादा की उम्मीद थी शायद। मेरी एक कविता है 'मैं हूँ अंतिम साक्ष्य' तो उसमें मैंने कहा कि "मैं हूँ अंतिम साक्ष्य बीतती उस भाषा का/जिसमें कहा गया था/सपने मरते नहीं सिर्फ टूटा करते हैं/और बिखर जाते हैं पूरे आसमान में/वे युग-युग तक इसी तरह जीवित रहते हैं/ अगर तुम चाहते हो तो मुझे अपनी भाषा में दर्ज कर लो।" ऐसा इस कविता में है। इस बात को समझना पड़ेगा।

हम सारे लोग जो हैं छोटे-छोटे डिस्कोर्सेज के कवि हैं। हमारे पास बड़ा नैरेटिव नहीं है। नैरेटिव हो नहीं सकता। अगर कोई बड़ा नैरेटिव बनता है तो हम सब लोगों से मिलकर कोई बड़ा नैरेटिव बनता है, क्योंकि हमने जिस संसार में आँख खोली थी उस संसार में बड़े डिस्कोर्स, बड़े नैरेटिव का संघर्ष चल रहा था वह संस्कार में है हमारे। जब तक हम बड़े हुए खुद कुछ करने लायक हुए तो हमारे सामने ढहने लगा। ये समाजवाद का ही नहीं प्रजातंत्र का ढहना भी है। इसीलिए हम दोनों के पतन में फँसे थे। हमारे यहाँ छोटी-छोटी चीजें मिलेंगी। हमारी समस्या ही है चीजों को बचा लेने की, बनाना शायद दूर का सपना है। अगर ये बच जाएगा तो और कुछ बन जाएगा। लेकिन इसको इतना तो बचा लो, हमारी समस्या ये है। इसीलिए मुक्तिबोध के साथ के जो कवि हैं तो इनमें तो फिर भी कुछ थोड़ा दिखता है। उदाहरण के लिए केदारनाथ अग्रवाल की कविता है। विचार से संघर्षशील आदमी की कविता है। वामपंथ में विश्वास करते हैं। ये सब है पर पोएट्री में क्या है? पोएट्री में वामपंथी विचारधारा का वह पक्ष है जो प्रकृति के अंदर एक उदात्तता देख रहा है और प्रकृति के अंदर संघर्ष देखकर वह आदमी के संघर्ष को पहचाना करता है। उनकी पूरी कविता में आदमी का उठाव दिखायी देगा। वह 'पालकी वाली' कविता देखो। या 'बासंती हवा' कविता देखो। दूसरी तरह से त्रिलोचन में तो बिल्कुल ही नहीं दिखाई देता है। सॉनेट के सिवाय कहाँ है? उनका जो सॉनेट उन्होंने अपने ऊपर लिखा है अपने जीवन पर लिखा है या कुछ ऐसी और कविताएँ। उसके बारे में कथा है सिर्फ कि उसने ऐसा किया। पता लगा एक घटना है कि ये हुआ या चंपा के बारे में है, बच्ची के बारे में वगैरह-वगैरह। मेरा कहना है कि ये सब कौन-से कवि हैं, ये 'ग्रेटर डिस्कोर्स' के पोएट नहीं हैं। ये सब वे कवि हैं जो अपनी कविताओं के द्वारा बहुत सारी चीजों को जो अलक्षित कर दी गई हैं या तो उनको बसाना चाहते हैं या किसी ना किसी रूप में दिखाना चाहते हैं। नागार्जुन 'हिमालय' कविता लिखते हैं तो क्या कहना चाहते हैं? 'अकाल और उसके बाद' कविता को देखें तो क्या है—वो सिर्फ वर्णन ही तो कर रहे हैं इसका। कौन-सा यूटोपिया है उनके पास? विचार में होगा, कविता क्या देती है? कविता तो यही देती है ना कि इस दुर्गम समय में इस कठिन समय में अधिक से अधिक मानवीय हो सकते हो। कितने हो सकते हो ये अपने अंदर के झूठ को पकड़कर अपनी आत्मालोचना भी करके देखो। तुम याद रखना अगर मैं हटा कभी झूठ भी बोल दूँ मैंने ऐसा नहीं किया था तो दिवाकर तुम याद रखना तुम बताना कि मैंने इस समय यहाँ खड़े होकर के नमस्कार किया और मैं बिल्कुल आस्तिक हो गया था इस समय यह है नागार्जुन की कविता।

अगर मुक्तिबोध के बाद कोई दूसरा कवि पैदा होता है जो अपने समय का एक डिस्कोर्स तैयार करता है, एक नैरेटिव तैयार करता है तो वह लोकतंत्र के छीजने का है और वो अकेला रघुवीर सहाय है। और कौन है। वह बड़ा कवि इसीलिए है कि लोकतन्त्र के छीजने का, उसके पतित होने का जो नैरेटिव बन रहा है, उसका सबसे अच्छा उदाहरण हमारे पास सिर्फ रघुवीर

सहाय है। इसके बाद कोई हमको दिखता नहीं है। थोड़ा बहुत श्रीकांत वर्मा ने कोशिश की थी वह भी बाद की कोशिश है। हम सब लोग इस स्थिति में हैं कि प्रजातंत्र के छीजने की नहीं बल्कि उस प्रजातंत्र को जैसा भी हैं, उसको बचाए रखने की, बचाने की जद्दोजहद में हैं, इसलिए हमारा डिस्कोर्स बड़ा नहीं बनता।

हम छोटे-छोटे डिस्कोर्स के पोएट्स हैं और ऐसा होना कोई बुरी बात नहीं है। इसलिए जो बेसिक चीज है वो है—मनुष्यता वह आपको अंततः कविता में लॉजिकली कहाँ ले जाती है, ये ध्यान देने की बात है। महत्वपूर्ण ये है कि हम जहाँ मनुष्यता की बात करते हैं, घर परिवार को बचाने की बात करते हैं, जब आत्मीय रिश्तों को बचाने की बात करते हैं, जब किसी सुंदरता को बचाने की बात करते हैं तो इसकी स्वाभाविक तार्किक परिणति क्या होती है? कहाँ जाती है? वो कहीं उस यूटोपिया की तरफ ही जाती है जो एक बड़े और मानवीय समाज का सपना देखता है या नहीं? कहीं यह उस मानवीयता को बचाने वाली बात नहीं है जो अंततः एक भावुकता में समाप्त हो जाती है? अगर हम अपने परिवार के अंदर से अपने चूल्हे और घर-गृहस्थी की बात कर रहे होते हैं तो उस जगह से हमें संसार का अर्थतंत्र दिखना चाहिए। यदि अर्थतंत्र का जो आतंक है उसका प्रभाव हमारे जीवन पर दिख रहा है तो संगति हमें दिख रही है। हम अंततः उस सच्चे रिश्ते को बचाकर जिस जगह जाना चाहते हैं वो ही तो यूटोपिया है। लेकिन वह हमारे लिए एक बड़ा नैरेटिव नहीं बनता। टुकड़ों में नैरेटिव बनता है। इसलिए दृष्टि स्पष्ट है। वह दृष्टि 'हीरामन' में दिखाई देती है, वह अथ रूपकुमार कथा में दिखाई देती है। ऐसी कैसी नींद लग गई में जब मैं यह कहता हूँ, 'किंतु मृत्यु का भय नहीं, क्योंकि वो तो परम सत्य है/किंतु मैं तो इस जग के विराट में अपनी दुनिया खोज रहा हूँ जिसे रचना था मेरे अपने ही हाथों से कौन चुरा कर उसे ले गया/ऐसी कैसी नींद लग गई।' तो जब मैं ये कहता हूँ तो इसको सोचना चाहिए कि वह कौन-सी चीज बन रही है। 'ऐसी कैसी नींद है' पढ़ोगे तो लगेगा क्या परिवर्तन है। खासतौर पर 'सच पूछो तो' जो '96 में छपकर आ गया था '95 तक की उसमें पोएम्स हैं। मतलब '95-96 के बीच में सारा खेल हुआ है दुनिया में। उसके बाद का जो समाज है, उसके बाद जो सांप्रदायिकता उभरी है, उसके बाद जो रिश्तों में परिवर्तन हुआ है, वे तमाम चीजें हैं हमारे सामने। समस्या यह है कि घर जल रहा है क्या बचाएँ? टूट रहा है क्या बचा ले जायें? बनाने की बात दूर है। इस समय वह केवल बचाने की चीज है, जो हम लोगों का सौभाग्य समझो या दुर्भाग्य समझो, जो भी है वह यही है और इसी से हमारा यूटोपिया शायद बनता है।

आशीष त्रिपाठी : इधर जिस तरह की कविता हिन्दी कवि लिख रहे हैं, चाहे आप उसे स्मार्ट किस्म की कविता कहें या आप उसको प्रॉडक्ट के तरह की कविता कहें, उसे पढ़कर एक चीज लगातार मेरे मन में कौंधती रहती है कि इस कविता में कविता का जो एक किस्म का अपना जादू होता है, वह नहीं है। कविता में अपना एक जादू तो है, जो इस तरह किसी और रचना में नहीं होता। जादू माने एक खास तरह का आकर्षित करने वाला कोई तत्त्व, जब प्रति वह संसार रचती है तो उसका जादू और निखरता है, साफ होता है, दिखाई देता है। अनजाने में भी वो जादू दिखाई देता है। उदाहरण के तौर पर 'अंधेरे में' कविता में एक जबरदस्त जादू, शुरू से अंत तक लगातार बना रहता है। आपकी एक कविता मैं खासतौर से कोट करना चाहता हूँ, उस जादू के लिए—'बिटिया'। कविता है कि 'मेरी किताब में इत्ना बड़ा समुद्र है/देखो, मैंने उंगली डाली तो भीग गई।' तो ये जादू है कविता का। ये तो मैं नहीं कहता कि पूरी जादू की कविता होनी चाहिए। पर कविता का जो रूप होना चाहिए। वह जादू

टूटता हुआ खत्म होता हुआ, छीजता हुआ दीख रहा है तथा कविता अपनी उस जादू की भूमिका को छोड़ती हुई नजर आती है। क्या यह सामान्यीकृत सच की जो कविता है, अखबार की तरफ बढ़ी हुई कविता है, क्या इसने कविता में संकट पैदा किया है। क्या कविता से जादू का चले जाना ठीक है? इधर की कविता में खासतौर पर नाम लेकर कहूँ तो विष्णु खरे और उनके अनुवर्तियों की जो कविता है, उसमें से वह जादू लगभग गायब है, क्या इसने कविता के संकट को गहरा किया है?

भगवत रावत : मैं इसमें एक ही बात कहना चाहता हूँ। यह दुर्भाग्य है कि हमने कविता की मूल प्रतिज्ञा को ही बदलने की कोशिश की है। मूल प्रतिज्ञा यही तो है ना कि जब एक भाषा में मैं कोई बात नहीं कह पा रहा हूँ, मेरे पास कोई भाषा नहीं बची उसके लिए और दूसरी जितनी भी भाषा के फार्म्स हो सकते हैं जब उनमें कोई बात बनती नहीं, तब मैं कविता लिखता हूँ, जिसके द्वारा मैं कविता में प्रवेश कर रहा हूँ; बल्कि कविता में वह लिखता हूँ जो संसार में शायद उस तरह नहीं है। जो उस भाषा में नहीं दिख रहा है। लेकिन उस भाषा के माध्यम से ही बाहर दिखाई दे रहा है। कहने के लिए बड़ी छोटी-छोटी बातें हैं। कविता में एक बहुत बड़ा एलिमेंट था—इमेजिनेशन, कल्पना-तत्व—बहुत इम्पोर्टेंट होता है। अब अगर उस कल्पनाशीलता को हमने कुछ और समझ लिया है तो क्या कहा जाए। लेकिन उसका कारण बहुत स्पष्ट है कि हमारे सामने जो दो मीडिया बहुत तेजी से उभरकर सामने आए हैं वे चीजों को सीमित कर देने में हमारी बहुत मदद कर रहे हैं। एक प्रिंट मीडिया है और दूसरा विजुअल मीडिया। विजुअल मीडिया में कल्पना के लिए कोई जगह ही नहीं है। हमने देखा कि अगर प्रेस नहीं आया होता और छपाई नहीं आई होती तो उपन्यास नहीं लिखा जाता। यह मैं मानता हूँ। महाकाव्य चलता रहता। या शायद कहानी भी नहीं लिखी जाती बल्कि कहानी कही जाती। प्रिंट मीडिया रूल करने के लिए आया था। लेकिन हमने उसमें रास्ता निकाल लिया और हमने उपन्यास को जन्म दिया, लिखित कहानियों को जन्म दिया। तुलसीदास के जमाने में रामचरितमानस की नियति तो उसका लिखा जाना या लिखे रूप में रह जाना ही था और वो लिखा भी किसी कागज पर ही गया होगा लेकिन वह प्रिंट मीडिया की शक्ति में इमेजिन करके नहीं लिखा गया था। वो एक उच्चरित शब्द था, बोलने के लिए लिखा गया था। यहाँ मैं एक बात बहुत जोर देकर कहना चाहता हूँ, पता नहीं यह बात कहाँ तक जाएगी कि जब हम कविता की बात करते हैं तो हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि कविता में उसका अर्थ तो महत्वपूर्ण होता ही है लेकिन केवल अर्थ कविता नहीं होता। कविता में उसकी पूरी कहानी, उसकी पूरी चाल, उसकी पूरी लय, उसका पूरा एक शिफ्ट, उसके बीच का अवकाश, उसके बीच की जगह यह सब मिलकर अर्थ देती हैं और जो अर्थ होता है उसी अर्थ को हम कहते हैं कि वो ध्वनित होता है, लेकिन दुर्भाग्य से हमने अब कविता को प्रिंट मीडिया की तरह से लिखना शुरू कर दिया है। वाचिक शब्द से उसको दूर कर दिया है। ये काम सबसे पहले नई कविता वालों ने शुरू किया था। अब उसका एक पुनर्संस्करण जो हुआ है वह इस रूप में हुआ है। एक विष्णु खरे हो सकते हैं। वे जो जादू पैदा कर सकते हैं, बाकी सब नहीं कर सकते, इसीलिए दिक्कत आती है। जब हम पढ़ते हैं तब एक चमत्कार जैसी उक्ति तो दिखाई देती है हमको लेकिन हमारे मन में गूँज नहीं पैदा करता, हमारे मन में आत्मीयता पैदा नहीं करती। आत्मीयता पैदा करने का मतलब किसी मनोरंजन से नहीं है, हमारा मतलब वो हमसे जुड़ाव पैदा नहीं करता। क्या कारण है कि हम एक कविता पढ़ते हैं और उसकी

पंक्तियाँ दर पंक्तियाँ पढ़ते चले जाते हैं और ऐसा नहीं लगता कि छोड़कर चले जाएँ। ये जो जादू की बात तुमने कही वो सीधी-सीधी बात है कि कविता अगर है तो कवितापन उसमें होगा। तभी तो वह कविता होगी। अब सवाल यह है कि अगर कविता है, तो उसके अवयव होंगे और वे अवयव ही तो होंगे, जो आपको आकर्षित करेंगे। किसी स्त्री के सौन्दर्य की कौन-सी चीजें ऐसी हैं जो आपको आकर्षित करती हैं? क्या उसकी वेशभूषा? क्या वो जो कपड़े पहने हुए है वो ही आकर्षित करते हैं लेकिन नहीं वे कपड़े तभी आकर्षित करते हैं, जब उसके सम्पूर्ण शरीर को एक स्वरूप देते हैं। तो कविता है तो उसके उपकरण तो हैं ना, उसके अंग तो हैं ना, उनका निषेध कर कितनी देर चलोगे और उसका निषेध करके कविता कितनी देर तक पैदा करोगे। थोड़ी देर तक शायद आप कर सकते हैं। सिंथेजाइजर पर थोड़ी देर तक बाँसुरी बजा सकते हैं। इसके बाद तो बाँसुरी हाथ में लेनी पड़ेगी। उसके बिना काम नहीं चलेगा। उसका कारण बहुत स्पष्ट है कि हम बात तो करते हैं सामाजिक भूमिका की, हम बात तो करते हैं कि कविता हमारे समाज में हस्तक्षेप करती है, फलाना करती है, डेकाना करती है लेकिन जब हम कविता लिखते हैं तो हम उस समाज के बीच जाने के काबिल क्यों नहीं हो पाते? कितना हो पाते हैं यह बात अलग है। कोई पूरी तरह से नहीं हो पाया कभी भी लेकिन हम तभी उसके बीच में होंगे, जब कविता लोगों को अपने बीच में बोलती हुई, बात करती हुई नजर आएगी? उसको लगेगा कि अपनी भाषा में बात कर रही है। हम तो उसको लिखित रूप में लिख रहे हैं। कहीं उन प्रेम-पत्रों को पढ़कर देखो जो एक दूसरे को लोगों ने लिखे हैं, वो क्यों कविता जैसे लगने लगते हैं क्योंकि जो लिखने वाला है वो बात कर रहा होता है उस चिट्ठी में—लिखते समय। आप केवल प्रिंटेड वर्ड की तरह कविता लिख रहे हैं तो उसकी दुर्भाग्यपूर्ण गति होनी ही है।

आशीष त्रिपाठी : मंगलेश डबराल का एक इंटरव्यू 'आलोचना' में आया था। उसमें उन्होंने एक बात कही है कि गाँव-गाँव में और कस्बों में लोग विष्णु खरे जैसी कविता लिखना चाहते हैं और वे एक संकट की तरह विद्यमान हैं, क्योंकि विष्णु खरे जैसी कविता और कोई नहीं लिख सकता। वे खुद ही लिख सकते हैं ऐसी कविता। तो उसका कुछ आभास आपकी बातचीत से भी मिला। मैं एक चीज और यहाँ जोड़ना चाहता हूँ कि उत्तर छायावाद के बाद की सारी कविता पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि शायद पूरा काव्य संघर्ष कविता के उसी जादू की तरफ लौटने और उस जादू से बचते रहने का संघर्ष है। जैसे अज्ञेय की कविता में अनेक स्तरों पर यह जादू रचने की कोशिश दिखाई देती है। जैसे 'असाध्य वीणा' कविता है। उसमें एक प्रकार की प्रगीतात्मकता और कल्पनाशीलता से, प्रकृति के बहुत सारे दृश्यों से जादू रचने की कोशिश की है जो उनको बिल्कुल ठेठ, निपट अखबारी रोजमर्रा की भाषा और अनुभव से बाहर ले जाकर एक दूसरा जादुई संसार रचने में मदद कर सकती है। हालाँकि वे दूसरी कविता में कहते हैं—शब्द सब पुराने हो गए हैं, उपमान मैले हो गए हैं, पर उन्हीं पुराने शब्दों के माध्यम से वे एक जादू रचने की कोशिश करते हैं। इस कविता में, अज्ञेय की अन्य कविताओं में यह जादू आरोपित भी लग सकता है। मुक्तिबोध नागार्जुन और रघुवीर सहाय की प्राविधियाँ जादुईपन को अलग-अलग तरह से ईजाद और विन्यस्त करती हैं। हमारे समय में विशेष तौर पर विनोद कुमार शुक्ल की कविता में मुझे ऐसा लगता है कि शायद वह जो जादू रचने की कोशिश है उस कोशिश के कारण ही उनकी कविता इतनी मकबूल हो रही है। ये तो सदियाँ बताएँगी कि वह कितनी मुकम्मल कविता थी। तो क्या जादू की अनुपस्थिति जादू के प्रति अतिरिक्त आकर्षण पैदा करती है और यह आकर्षण विनोद कुमार शुक्ल जैसे कवियों को

परिदृश्य में ज्यादा बड़ा कवि बनाने में मदद करता है? क्या मेरे आप इस विचार में गंभीरता जैसी कोई चीज देखते हैं?

भगवत रावत : असल में जाहिर-सी बात है वे अलग लिखते ही हैं। विनोद कुमारा शुक्ल, जो है और जो नहीं है और जो भी है और जो हो सकता है, उसके बीच वे जिस प्रकार का संसार रचते हैं वह बहुत अद्भुत है, इन्द्रजालिक है। उसको जादू कह सकते हैं। लेकिन मुक्तिबोध की कविता के संसार के बारे में जब बात करते हैं तो वह जादुई दिखता है पर जादुई रह नहीं जाता, वे सिर्फ जादुईपन का इस्तेमाल करते हैं जो एक ग्रेट मेटाफर में चेंज हो जाता है। अगर कविता एक मेटाफर नहीं है, तो फिर क्या होगा? मेटाफर कौन बनाएगा? यह बात तो ध्यान में रखनी पड़ेगी। अंततः आपका अपना अनुभव जब कविता में ट्रांसफॉर्म होता है तो उसका रूपांतरण होता है। यह रूपांतरण है क्या चीज? यहाँ तो अपने रिप्लेक्स को, अपने अनुभव को, अपनी कुशलता से एक ऐसा रूप दे देते हैं जो स्मार्ट, चमत्कारिक दिखता है। वो चमत्कार थोड़ी देर के लिए रह जाता है, उसको जादू भी कह सकते हैं। जादू की विशेषता यह है कि उसका नशा होता है जो सर चढ़के बोलता है। चाहे वह जादू भाषा का हो, चाहे उसकी संरचना का हो, चाहे उसकी कल्पनाशीलता का हो, अल्टिमेटली वो मेटाफर बनता ही है। और अगर ये मेटाफर नहीं बनता है तो बेकार है। तो मेटाफर हम नहीं बना रहे हैं। निराला क्यों ग्रेट पोएट हैं? रखा क्या है निराला में? वे मेटाफर बनाते हैं। वह सारी भाषा में बनता है। एक जादू बनता है। एक नशा बनता है। 'विजन वन वल्लरी पर सोती थी सुहाग भरी, स्नेह स्वप्न मग्न, अमल, कोमल, तरु तरुणी-सी जूही की कली' एक वाक्य जिस तरह से परिवर्तित होता है और जिस तरह से नायक आता है, यह होता है, वह होता है, पूरा मेटाफर बनता है। चलिए हम अपने समय को देखें। हम अपने समय का क्या मेटाफर बना रहे हैं, इसको तो ध्यान में रखना पड़ेगा ना। हम अपने समय की त्रासदी की, अपने समय की तकलीफों की बात करते हैं या अपने यथार्थ की बात करते हैं, सामाजिक विषमता की बात करते हैं, साम्प्रदायिकता की बात करते हैं तो किसी ना किसी पर मेटाफर बनेगा कि नहीं बनेगा? जब बाबरी मस्जिद का ध्वंस हुआ तो उसके बाद की मेरी कविताएँ देखें, जैसे—'लौटना। दिन भर की थकान के बाद घरों की तरफ लौटते लोग भले लगते हैं/दिन भर की उड़ान के बाद घोंसलों की ओर लौटती चिड़ियाँ सुहानी लगती हैं/लेकिन जब धर्म की तरफ लौटते हैं लोग, इतिहास की तरफ लौटते हैं लोग, तो वे ही धर्म और इतिहास के हत्यारे बन जाते हैं/ऐसे समय में सबसे परेशान होते हैं घरों की तरफ लौटते हुए लोग/घोंसलों की तरफ लौटती चिड़ियाँ।' जब हम इतनी सादी-सी कविता कह रहे हैं जिसके अर्थ में कहीं कोई दिक्कत नहीं। तो वह एक तभी बनते हैं। जब ये इसका कोई मेटाफर हैं। अगर इसमें कहीं कोई जादू है तो वह इसके मेटाफर का ही है। 10वीं-12वीं के बच्चों को पढ़ाते हैं कि भैया, कविता में कल्पना तत्व की प्रधानता होती है। उस कल्पना तत्व का हमने न जाने क्या कर दिया। हम इमेजिनेटिव हैं ही नहीं। इमेजरी का मतलब यही है कि वह रिक्रियेट करने में हमारी मदद करती है। हमारी इमेजिनेशन ही अगर न रहे तो हम फिर चीजों को रिक्रिएट कैसे करें, उनकी रचना कैसे करें? और जब यह नहीं होता तो रचना की मूल शर्त ही हम खो देते हैं। हम तो बच्चों को पढ़ाते रहते हैं हमेशा, हम तो ऐसे ही कहते हैं कि रचना का मतलब क्या है? क्या-क्या चीजें रचना हैं—बताओ तो बेटा जरा—हाथ में मेंहदी रचती है, मुँह में पान रचता है, मेहंदी तो हरी होती है, लेकिन जब हाथ में लगती है तो फिर उसका रंग बहुत अच्छी तरह रचता है, लाल हो

जाती है। इसको वापस नहीं कर सकते। पान हरा होता है, सुपारी होती है, कल्था होता है, मुँह में चला जाता है, मगर स्वाद तभी आता है जब होठों पर रचता है। जो अनुभव है, जो भाषा है, वो सब, जब रच जाएगी तब ही तो तीसरी चीज बनेगी। वो तीसरी चीज नहीं थी पहले जब होगी तो रचना बनेगी, यही जादू है।

आशीष त्रिपाठी : पूरे सिलसिले में मेरा सवाल यह है कि क्या जादू की अनुपस्थिति है कविता में? कविता में जादू जिस तरह से छीजा है, उसको आप कल्पना का छीजना कहें या उसको रूपकत्व की खोज की अनुपस्थिति कह लें, पर क्या उसकी वजह से, विष्णु खरे जैसे रोजमर्रा की वास्तविकताओं के ठोस कवि, विनोद कुमार शुक्ल जैसे जादुई दिखने वाले कवि को समकालीन हिन्दी कविता का एक बड़ा कवि घोषित करते हैं? क्या यह जादू की अनुपस्थिति में, जादू के प्रति एक अतिरिक्त आकर्षण है?

भगवत रावत : असल में विनोद कुमार शुक्ल अकेले उदाहरण हैं। अद्वितीय कवि हैं, यूनीक पोएट। उन जैसा कोई दूसरा नहीं है। उनके लक्षण भी किसी दूसरे में मिलना बहुत मुश्किल है और अगर किसी में मिल भी जाएँगे तो वह खराब कवि होगा। बहुत सारे कवियों में हमारी जैसी बात मिल जाएँगी। इसीलिए हम अद्वितीय नहीं हैं।

विष्णु खरे जिस तरह का यथार्थ रचते हैं उससे हम भटक जाते हैं कि कविता की पूरी सम्पूर्णता में उसकी इमेजिनेशन किस जगह काम कर रही है। यह हमें समझना चाहिए। इसीलिए विष्णु खरे की कोई कविता तीन पेज से कम की नहीं होती। ध्यान देने की बात है। लंबे-लंबे वाक्य होते हैं और आपको वहाँ तक सरस्टेन करना पड़ता है जहाँ तक विष्णु खरे मेटाफर नहीं बनाते, जब वो बन जाता है तब आप चकित होते हैं। कोई भी कविता उठाकर देख लीजिए आप। इसलिए विष्णु खरे तो प्रतिभाशाली आदमी है, समझदार आदमी है, वे जानते हैं कि किस तरह से अनलंकृत भाषा में तथ्य परक गद्य लिखा जा सकता है लगभग तथ्यात्मक शब्दावली में। वे तो फैक्ट्स की बात करते हैं, फैक्ट्स देते हैं जैसे कोई रिसर्च वाला फैक्ट्स देता है, लेकिन उन सबको वे मेटाफर में बदलते हैं जिससे उनकी कविता बनती है। इस बात को अगर हम जैसे दूसरे लोग नहीं समझते तो विष्णु खरे जैसे लोगों के मार्फत वे कविता लिखने का लाइसेंस पाने की कोशिश करते हैं। लोगों को लगता है कि इसमें कुछ करने की जरूरत है नहीं। देखो! विष्णु खरे को। न किसी छन्द की जरूरत है न किसी मेटाफर की जरूरत है। लेकिन आप वहाँ तक जा ही नहीं सकते हो, क्योंकि आप में ताव नहीं है, आप में उतनी ताकत नहीं है और अगर आप विष्णु खरे जैसे बनने की कोशिश करोगे तो उस तरह से तो कर ही नहीं सकते। इसलिए यह ध्यान देने की बात है कि विष्णु खरे ने जैसी कविता लिखी और वह अगर बड़ी कविता है तो उसके पीछे कारण क्या है? कारण यह है कि वे कविता के मूल तथ्यों को ज्यादा गहराई से समझते हैं और दूसरी तरफ विनोद कुमार शुक्ल हैं जो उस जादू का इस्तेमाल सीधे करते हैं लेकिन दूसरे रास्ते से इस्तेमाल करते हैं। अब कौन किसको बड़ा कहता है यह तो बाद की बात है।

आशीष त्रिपाठी : क्या जादू की कमी की वजह से ज्यादा जादू की ओर लोग ज्यादा आकर्षित हो रहे हैं?

भगवत रावत : आकर्षण था, आकर्षित हुए थे लोग, बहुत आकर्षित हुए थे लोग। एक ऐसा व्यक्ति जो जीता ही स्वप्न में हो, जो फैंटेसी में ही जीता हो तो उसके लिए वह भाषा स्वाभाविक है। हम जब उस तरह से करेंगे तो हमको क्रिएट करना पड़ेगा। विनोद कुमार शुक्ल

के लिए दिक्कत नहीं है ये। चूँकि हमारे यहाँ इतना सामाजिक यथार्थ है तो उसके बरक्स कविता बहुत ग्रेट लगेगी। जैसा श्रीकांत वर्मा ने कहा था कि मुक्तिबोध की कविता पढ़ने के बाद कोई भी कविता पढ़ोगे, वह तुच्छ लगेगी। इसका मतलब यह नहीं है कि मुक्तिबोध के बाद जो कविता लिखी जा रही है, वह तुच्छ कविता है। कारण यह है कि मुक्तिबोध की कविता का संसार ही अलग है। वो जिस दरवाजे से आपको जिस जगह ले जाते हैं वो इतना भरा है और वह इतना विशाल है, इतना पुरातन है कि आप उसके आकर्षण में इतने आगे बढ़ जाते हैं कि जब आप बाहर निकलते हैं तो आपको लगता है कि कहाँ से बाहर निकल कर आए? आप तो उसके मोह से टूट नहीं सकते और जब कोई दूसरा आदमी कविता लिखेगा बाद में तो उसके सामने उसके स्ट्रक्चर को सामने रख करके देखोगे तो वह दो कौड़ी का लगेगा। बिल्कुल यही बात श्रीकांत वर्मा ने 1965 में मुझसे कही थी, जब वे यहाँ आए थे मुक्तिबोध को देखने के लिए। मैंने कहा लो देखो, हम सबकी कविता उनके सामने बहुत टुच्ची लगेगी क्योंकि उनके विजन में कविता का जो सारा मैटेरियल है वो मैटेरियल ही ऐसा है। अब करोगे क्या उसके लिए। पर हम दूसरी बात करेंगे तो हमको लगेगा बहुत छोटे आदमी हैं, लेकिन नहीं हैं। हमारी कविता भी खराब नहीं है। वह भी बहुत ग्रेट कविता है, ठीक है। मैंने कहा था वे ग्रेटर डिस्कोर्स के कवि हैं, लेकिन यह नहीं कह सकते कि मुक्तिबोध के बाद बहुत ही दो कौड़ी की कविता लिखी गई है और बड़े कवि नहीं हुए। रघुवीर सहाय ने कविता अच्छी नहीं लिखी। विनोद कुमार शुक्ल का सारा स्ट्रक्चर सारी संरचना ही ऐसी है। उसको सामने रखकर किसी को देखोगे तो जाहिर-सी बात है कि वह वैसा नहीं दिखाई देगा। ठीक उसी तरह से जैसे एक घर की लड़की, शहर में रहने वाली साधारण-सी लड़की, अपनी साधारण-सी वेशभूषा पहनकर आएगी और एक मणिपुर की आदिवासी लड़की अपनी कलर्ड ड्रेस पहनकर आएगी तो जाहिर है आकर्षण तो होगा ही। लेकिन लड़कियों के बेसिक तत्व में कोई अंतर है, ऐसा नहीं है। दूसरा उदाहरण मैं यह भी देता हूँ कि झाँसी की रानी की बात कर लो तो सारी औरतें छोटी लगने लगेगी आपको, लेकिन स्त्रियों का संघर्ष अब है नहीं क्या? क्या स्त्रियाँ दो कौड़ी की हो गई हैं, कि झाँसी की रानी ही बहुत बड़ी थी? थी तो इतिहास में थी। लेकिन आज क्या मेधा पाटकर का या दूसरी तमाम सारी औरतों का संघर्ष क्या झाँसी की रानी से कम है? बल्कि ज्यादा है! मैं यही कहना चाहता हूँ। इसलिए विनोद कुमार शुक्ल की कविता में जो जादू दिखाई देता है, अगर वह सिर्फ उसी के अंदर है, तो जाहिर सी बात है बहुत असर करेगा। लेकिन जिनकी कविताओं में यथार्थ बाहर और जादू उनके अंदर होता है तो वे भी आप पर असर करेगी। लेकिन चूँकि हमारी अधिकांश कविताएँ ऐसी नहीं हैं, इसलिए विनोद कुमार शुक्ल अलग खड़े दिखाई देते हैं।

आशीष त्रिपाठी : मैं सीधे-सीधे दो सवाल पूछ लेता हूँ। एक तो यह कि आपकी दो कविताओं में मुझे आपके पूरे काव्य-व्यक्तित्व से अलग एक चीज दिखाई देती है। वह यह कि संघर्ष करने की बजाय उससे बाहर जाकर कोई एक विकल्प चुन लेने की एक इच्छा दिखाई पड़ती है। दो कविताएँ कोट करता हूँ। एक तो 'गाय' और दूसरी 'बैलगाड़ी'। गाय कविता पर वह जो हिंदू छवि का तथाकथित ठप्पा है वह एक विकृत किस्म की आलोचना का परिणाम है परंतु 'गाएँ हमारे जीवन से चली गई' और 'बैलगाड़ी' दिखाई देती है अलमस्त व चलती हुई और शायद वही बचाएगी इस पूरी आपाधापी से।' इन दोनों के बीच में क्या पूरी जो जिंदगी है, पूरी जो विकास की रफ्तार है, पूरी जो गति है, टेक्नोलॉजी है, क्या इसमें उनका

निषेध नहीं है, क्या इसमें अद्यतन तकनीक की तुलना में पुरानी को ऊँचा मानने और एक तरह का वापस लौटने जैसा भाव नहीं है?

भगवत रावत : ये कविताएँ जब लिख चुका तब यह बात दिमाग में आई कि लोग ऐसा समझेंगे इसको। लेकिन बड़ी मुश्किल है, जब गाय को सिर्फ गाय समझोगे तो दिक्कत आएगी और बैलगाड़ी को सिर्फ बैलगाड़ी समझोगे तो बहुत दिक्कत आएगी। असल में यह बात नहीं है। मैं जब पूछता हूँ कि हिरामन क्यों पसंद आता है तुम्हें? वह तो गाड़ी वाला है और हीराबाई से प्रेम करता है, हीराबाई उस पर मुग्ध है। अब वैसे प्योर प्रेम तो है नहीं, कहा भी नहीं गया लेकिन आज 2004 में किसी भी व्यक्ति के उसके असावधान क्षणों में देखने की कोशिश करो तो वह भी किसी ऐसी हीराबाई को ही चाहता है और हीराबाई भी किसी वैसे ही हिरामन को चाहती है जो आपके अंदर है, जो अपने बेसिक रूप में है। कभी-कभी थोड़ी-सी देर के लिए सामने आता है और फिर आप उसे दबा लेते हैं। लिखा है मैंने इसमें। कभी-कभी दिख जाता है थोड़ी-सी देर के लिए, थोड़ी-सी देर के लिए दिखता है फिर हम उसको अंदर कर देते हैं। इतनी भाग-दौड़ के जीवन में अगर किसी भी व्यक्ति से ये पूछो कि—‘व्हाट आर योर बेस्ट मोमेंट्स ऑफ लाइफ’ तो शायद वह यह बताए कि जब वह बहुत असावधान क्षणों में बिल्कुल अपनी तरह से होता है। एकदम बेसिक आदमी। मेरा मतलब यह है कि आप कितने ही बड़े हो जाएँ, कुछ भी कर लें, सड़कों पर हवाई जहाज चला लें, लेकिन जब तक आपमें वो बैलगाड़ी वाली क्षमता बची रहेगी ना, फक्खड़पन की, अलमस्तपन की, तो आप रहेंगे। आप मरे काहे को जा रहे हो? काहे की शांति चाहते हो? पूछो जरा अपने आप से कि अल्टिमेटली क्या चाहते हो? नौकरी मिल गई, शादी हो गई, बीबी-बच्चे हो गए, पैसा पद-प्रतिष्ठा मिल गये। वे क्षण जो हैं आपके, जिनमें आप होना चाहते हो और आप अपनी तरह से किसी और को चाहते हो। जब मैं बैलगाड़ी की बात करता हूँ तब मैं उसी बेसिक की बात करता हूँ जो बेसिक हमारे अंदर है। जब उसको चलता हुआ देखता हूँ मैं, तो लगता है घर बचा हुआ है। अगर वह मुझमें दिखाई देता है तो लगता है आज तक बचे हुए हैं हम। और जब हम हर चीज की मार्केटिंग करने लगेंगे तो यह सब कैसे रह जाएगा। जब प्रेम कर रहे होते हो तो क्या कर रहे होते हो? अपने आपको बेच और खरीद रहे होते हो? अगर बेच और खरीद रहे हो, तो फिर कर क्या रहे हो? तो वह जो आपका बेसिक है, वही गाय को लेकर है, वो ही बैलगाड़ी को लेकर है। बल्कि सच पूछो तो, गाय के बाद बैलगाड़ी लिखना उसी कविता का एक्सटेंशन है और वो एक्सटेंशन इसलिए है कि गाय सिर्फ गाय नहीं है बहुत सारी चीजें हैं। वह पत्नी भी है। क्षमा कीजिए। तुम लोगों की शादी तो इस तरह से हुई नहीं जैसे हमारी शादी हुई थी। हमारे हाथ में गाय की डोर पकड़ा दी गई थी और गाय की डोर पकड़ के हम ले आए थे अपने घर। हमने तो चेहरा भी नहीं देखा था। तो वह जो गाय है वह हमारे अंदर है कहीं। जब उसने अपना सिर हमारे कंधे पर रख दिया था सब कुछ भूल गए थे हम। उसके रंभाने की आवाज नहीं सुनी हमने। उसको इतना भूल गए...और अभी हमको दिख भी जाती तो पहचानते तक नहीं हैं, पहचानने की कोशिश नहीं करते हैं। हमारे अंदर वह सारी चीजें हैं। ये बेसिक्स हैं जो मनुष्य को शेष सृष्टि से अलग करते हैं। वे ही आपको मनुष्य बनाए हुए हैं, वो अगर बचे नहीं रहेंगे तो बहुत मुश्किल होगी। इसीलिए महानगर की भीड़ में बैलगाड़ी चलती हुई दिख जाती है तो वह एक सिग्नल है, वह एक सिम्बल है, वह मात्र बैलगाड़ी नहीं है, क्योंकि वह बैल हैं। उसके भरोसेमंद साथी हैं। बैल जो उसको खींच रहे

हैं, जो शक्ति खींच रही है और उसपे जो दुनिया का सबसे ईमानदार मनुष्य बैठा हुआ है, जो बैलगाड़ी हॉक रहा है, वह तो सबसे ईमानदार ही होगा। वह इतना गरीब आदमी है कि उसके पास बैलगाड़ी है और जो बैलगाड़ी हॉकने वाले हैं, वे दुनिया के सबसे ईमानदार आदमी होते हैं। और आपके जो दो बैल हैं, वह आपके अंदर का आवेश होता है जो आपको खींच रहा होता है। वह आपको मनुष्यता से मिलाता है। अंत तक यह कविता मेटाफर में ही बदलती है। इसीलिए कहीं कोई जादू है तो मेटाफर का ही है और उस मेटाफर तक नहीं पहुँच पाए तो दिक्कत है या मेटाफर तक कविता नहीं पहुँच पाई तो कविता की कमजोरी है।

आशीष त्रिपाठी : अब आखिरी सवाल आज का। हिन्दी की आलोचना प्रमुख रूप से कविता के इर्द-गिर्द घूमने वाली आलोचना है। कुल-मिलाकर दृश्य को निगाह में रखते हुए, कवियों के बारे में उस तरह नहीं लिखा जा रहा है। क्या आपको लगता है कि आलोचना का परिदृश्य निराशाजनक है? समीक्षाएँ लिखी जा रही है जिनमें पूरे परिदृश्य के प्रति एक मौन है। जैसे कभी रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है। एक और बात ये दिखाई देती है कि नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल की वापसी ने एक पूरी पीढ़ी के कवियों को आलोचना से बाहर रख दिया, क्योंकि जब उन पर बात करने का अवसर था, तब सारी आलोचना इन पूर्वज कवियों पर केन्द्रित हो गई और कुल-मिलाकर एक पूरी पीढ़ी पर कोई मुकम्मल बातचीत हो नहीं सकी है। उस पीढ़ी में कुमार विकल हैं, आप हैं, सोमदत्त हैं, विजयेन्द्र हैं, ऋतुराज हैं, जिन पर बातचीत किया जाना शेष है। इसने कविता का नुकसान किया है। क्या आपको लगता है कि कोई ईमानदार, परिपक्व, दृष्टिवान, विवेकी आलोचना होती तो आज जो कवि भगवत रावत सामने हैं उससे कुछ अलग कवि भगवत रावत होते?

भगवत रावत : यह बात बिल्कुल ठीक है। मैं तो यह हमेशा मानता हूँ कि एक समय विशेष में बड़ी आलोचना जब होती है, एक बड़ी कविता भी तभी लिखी जाती है। और बड़ी कविता जब लिखी जाती है तो बड़ी आलोचना भी पैदा होती है। दुर्भाग्य से हिन्दी कविता में हम देखें तो यह स्थिति केवल आज नहीं है। बहुत पहले से भी दिखती है। यह तो संयोग है कि निराला को रामविलास शर्मा मिल गए और वो अकेले उदाहरण हैं कि रामविलास शर्मा का नाम लो तो निराला याद आते हैं, निराला का नाम लो तो रामविलास शर्मा याद आते हैं। बाद में क्या हुआ? रामचन्द्र शुक्ल ने जितना काम किया—मध्यकाल पर किया, हजारी प्रसाद द्विवेदी का काम तो सारा अपभ्रंश और मध्यकाल पर है, नंद दुलारे वाजपेयी ने जरूर छायावाद पर काम किया। इसके बाद हिन्दी में केवल एक ही आलोचक पैदा हुए और वे हैं नामवर सिंह। दुर्भाग्य से नामवर सिंह की मौखिक आलोचना ज्यादा हो गई जिसको वे लोक-परम्परा की आलोचना कहते हैं। और मौखिक के चलते-चलते यह हुआ कि आलोचकों को एक रास्ता यह मिल गया कि बोलते वक्त तो वे कुछ भी बोल जाएँ लेकिन लिखते समय कुछ और। इसलिए इसका बुरा नतीजा यह निकला कि बहुत सारे हमारे वे आलोचक हैं जब वे हमारे शहर में आते हैं तो भगवत रावत का नाम चार बार लेते हैं क्योंकि भगवत रावत संयोजक भी होते हैं और कवि भी हैं लेकिन जब वे लेख लिखने बैठते हैं तो उनका नाम याद नहीं आता। ऐसे कई लोग हैं। खैर। मैं यह मानता हूँ कि अगर अच्छी आलोचना होती, अच्छी दृष्टि होती, तो निश्चित ही कविता का दृश्य बदलता, इसमें कोई शक नहीं है। मुक्तिबोध के बाद की पीढ़ी का दुर्भाग्य यह है कि उनमें आपस में संवादहीनता हो गई। बहुत से कारण होंगे, जिनको मैं नहीं जानता। देखें तो मुक्तिबोध के संवाद नेमिचंद जैन से कितने हुए। कितनी चिट्ठियाँ हैं, कितनी बातें

करते थे और जब भी ये लोग मिलते थे तो एक-दूसरे की कविता पर, एक-दूसरे के साहित्य पर बहस करते ही मिलते थे। परसाई जी भी जब भी आते थे तो इसके बारे में चर्चा करते। आज हमारी सारी पीढ़ी को देख लीजिए, चिट्ठियाँ लिखना तो दूर, जो उन्होंने किसी के बारे में लिखा, उसकी चर्चा तक नहीं करते, बातचीत ही नहीं करते, यानी संसक्ति नहीं है। अब आलोचना पर आइए। पता नहीं या तो प्रतिभावान आलोचक बहुत ज्यादा पैदा हुए नहीं, हुए तो उनकी समग्र दृष्टि नहीं बनी और अगर समग्र दृष्टि बनी भी, कुछ हुए भी तो वे सैद्धांतिक आलोचना में लग गए। हमारे अधिकांश वामपंथी मित्र, मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र लिखते रहे। अरे भई, क्या जरूरत है लिखने की? आपके माध्यम से ही हमको मार्क्सवाद पढ़ना है तो हम ओरिजनल क्यों न पढ़ें? कुछ और बात करो, जो मार्क्सवाद आपने पढ़ाया, जो वामपंथी दृष्टि आपने विकसित की उसके माध्यम से कुछ आलोचना करो, रचनाओं के बारे में बात करो। सैद्धांतिक पक्ष में बढ़ गये। अधिकांश वामपंथी आलोचक तो हमारे दूसरे लोगों को निपटाने में भी लग गए। फिर इसके साथ-साथ एक दुर्भाग्य वामपंथी आलोचना का यह भी हुआ कि जैसे वामपंथी पार्टियाँ विभक्त हुई उस तरह साहित्य में भी खेमेबाजी हो गई तो फिर खेमों की आलोचना होने लगी। ये दुर्भाग्य है। अच्छी स्वस्थ आलोचना होती है तो निश्चय ही रचनाशीलता बढ़ती है। इसमें कोई शक नहीं है। और मैं आज भी यह मानता हूँ कि थोड़ा-बहुत जो कुछ भी मुझमें सुधार हुआ है, जो कुछ भी मैं बन भी पाया हूँ, वह मेरे कुछ ऐसे मित्रों के कारण से है जिनसे मैं खुलकर अपनी कविता के बारे में बातचीत करता रहा हूँ। सोमदत्त उनमें से एक था। चंद्रकांत (देवताले) से बात कर लेता हूँ, सुदीप (बैनर्जी) से बात कर लेता हूँ। इस तरह के कुछ लोग हैं जिनसे मेरी बातचीत हो जाती है तो इससे कुछ सहारा मिलता है। और किसी भी लेखक को एक कंधा तो चाहिए ही होता है। कम से कम मेरे जैसे लेखक को तो चाहिए ही होता है। ऐसा कंधा जिस पर विश्वास हो कि वह बेईमानी नहीं करेगा, कि वह झूठ नहीं बोलेगा, तो जाकर अपनी बातें चुपचाप कह आँ उसको। जरा-सा भी नहीं मिलता तो बड़ा अकेलापन लगता है, बहुत खतरनाक लगता है। मेरे जैसा आदमी तो बहुत परेशान होता है। तब फिर मैं अपने लोगों को चुनता हूँ। इनमें अपने बच्चों को, पत्नी को चुनता हूँ, और किसी के पास जाता ही नहीं हूँ। कम से कम इनको तो हिन्दी आलोचना की राजनीति से मतलब नहीं है। तो इनकी अपनी समझ के अनुसार जो अच्छा बुरा लग रहा है, कह देंगे कि नहीं पापा ये गलत लग रहा है, समझ में नहीं आई ये कविता, ये क्या कर दिया आपने? मेरी पत्नी ने एक दिन कहा कि पहली बार तो इतने दिन बाद एक कविता देखी कि जिसमें कम से कम वो ही लोंग-तेल-मिर्ची नहीं है। तो लगा कि चलो एक आदमी तो खुश हुआ।

आशीष त्रिपाठी : क्या इस कमी ने ही आपको आलोचना की तरफ बढ़ने के लिए प्रेरित किया जैसा कि आमतौर पर हो रहा है कि मुकम्मल आलोचना के अभाव में खुद कहानीकारों के बीच में से या कवियों के बीच में से आलोचना की कोशिश दिखाई दे रही है?

भगवत रावत : कुछ चीजें मैं चाहता था कि मैं करूँ, पर मेरी अपनी शक्ति की सीमाएँ हैं। जीवित रहा और ताकत बची रही तो करूँगा जरूर कि बहुत आत्मीय आलोचनात्मक गद्य लिखा जाए। आज बहुत ही अनात्मीय गद्य लिखा जाता है। पहले ये तो सिद्ध करो ना यार कि तुम जो रचना पढ़ रहे हो उससे तुम्हारा आत्मिक संबंध बना। अब वह ही नहीं बना तो विश्वास किस बात पर करें हम। इसीलिए मैंने जो कुछ लिखा है, वह बिल्कुल उस तरह का आलोचकीय नहीं है, वह बहुत आत्मीय किस्म का गद्य है। अगर मैं सुदीप बनर्जी पर लिखता

हूँ तो इसलिए नहीं लिखता हूँ कि वह बहुत बड़ा कवि है या बहुत छोटा कवि है, वह मेरा दोस्त है, उसकी कविता मुझे पसंद आती है, इसलिए जब मैं लिखता हूँ, तो उसकी सारी कविताओं को पढ़कर के बहुत आत्मीयता से उसके अंदर प्रवेश करने की कोशिश करता हूँ। इसलिए उसको महिमामंडित नहीं करता हूँ, लेकिन उसके अंदर के अंतरंग कोने में जरूर बहुत आत्मीयता से जाने की कोशिश करता हूँ। ऐसे बहुत सारे मित्र हैं जिन पर मैं लिखना चाहता हूँ।

(लिप्यंतरण : सोहनलाल
पाठ-शोधन : रवि श्याम द्विवेदी)

(जून 2004 में भोपाल में भगवत रावत के आवास पर एक ही बैठक में हुई बातचीत)

माक्सवाद का प्रेत : निवारण के उपाय

याक दरीदा

(अनुवाद : रामकीर्ति शुक्ल, मंजरी तिवारी)

“समय चूल से खिसक गया है” : यह सूत्र समय की बात करता है; यह इस समय की भी बात करता है लेकिन एक एकवाची रूप में इस समय का, एक ‘इन समयों’ का इस समयों के समय, इस विश्व के समय का जो हेमलेट के लिए एक ‘हमारा समय’ था, केवल एक ‘विश्व’ का, इस काल का न कि अन्य का भी सन्दर्भ देता है। यह विधेय समय की किसी चीज की *बात करता है* और ‘होना’ क्रिया के वर्तमानकालिक रूप में कहता है (“समय चूल से खिसक गया है”), लेकिन यदि यह ‘तब’ उस दूसरे समय में, भूतकाल में ‘तब’, अतीत में एक समय कहता है तब यह सभी समयों के लिए कैसे वैध होगा? दूसरे शब्दों में, यह कैसे वापस आ सकता है और अपने को दुबारा नए रूप में, नया होकर उपस्थित कर सकता है? कैसे हो सकता है कि यह वहाँ फिर से पहुँच जाए जबकि इसका समय अब रहा ही नहीं? कैसे यह उन सभी समयों में वैध हो सकता है जिनके भीतर कोई ‘हमारा समय’ कहने की कोशिश करता है? किसी ऐसी विधेयात्मक प्रस्तावना में जो समय को और इसमें भी समय के वर्तमान रूप को संदर्भित करता है, प्रथम पुरुष निश्चयार्थ में, ‘होने’ क्रिया का व्याकरण—सम्मत वर्तमान, किसी और सभी आत्माओं (एक ऐसा शब्द जो प्रेतों के प्रति स्वागत समर्पित करने लिए हमेशा बहुवचन में ही प्रयोग किया जाना चाहिए) की वापसी का पूर्वनियत सम्मान करता प्रतीत होता है। ‘होना’ क्रिया रूप और विशेष कर, जब कोई इसमें क्रियार्थक संज्ञा के ‘उपस्थित होने’ का भाव प्राप्त करना चाहता हो, आत्मा का शब्द नहीं है, यह उसकी पहली शाब्दिक देह होती है।

इन समयों में विश्व का एक समय, आज, एक ‘नई’ विश्व व्यवस्था के वर्चस्व के एक अभूतपूर्व रूप की स्थापना के द्वारा एक नए, अनिवार्यतः नए, विश्वोभ को सुस्थिर करना चाह रहा है। लेकिन इस तरह, हमेशा की तरह यह मामला है युद्ध के एक नवीन रूप का। माक्सवाद

के विरुद्ध यह कम से कम एक नए 'अभिचार' जैसा लगता है, मार्क्सवाद का प्रेत अपसारण मार्क्सवाद के विरुद्ध, उसके विरुद्ध और उनके विरुद्ध जिनका मार्क्सवाद प्रतिनिधित्व करता है और करता रहेगा (एक नए इंटरनेशनल का विचार, प्रेत अपसारण द्वारा एक नए इंटरनेशनल के विचार के विरुद्ध) एक बार फिर एक और प्रयास, एक नया, हमेशा नया सैन्य अभियान।

बहुत नया पर उतना ही पुराना, यह अभिचार शक्तिशाली भी दिखता है और हमेशा की तरह चिन्तित, कमजोर और बेचैन भी। इस अभिचार में सम्मिलित शपथबद्ध लोगों द्वारा जिस शत्रु को भगाया जाना है, उसका निश्चित रूप से नाम है मार्क्सवाद। लेकिन लोग इस बात से चिन्तित हैं कि वे इसे पहचान नहीं पाएँगे। वे इस परिकल्पना से ही विचलित हैं कि **metamorphosis** की चर्चा मार्क्स प्रायः करते हैं (और 'कायान्तरण' मार्क्स के लिए आजीवन एक आकर्षक शब्द बना रहा) उसके चलते एक नए 'मार्क्सवाद' का चेहरा वह नहीं रहेगा जिसके आधार पर इसकी पहचान कर ली जाती थी और इसे दबा दिया जाता था। लोग शायद अब मार्क्सवादियों से भयभीत नहीं होते, लेकिन वे कुछ उन गैर-मार्क्सवादियों से अभी भी भयभीत हैं जिन्होंने मार्क्स की विरासत का त्याग नहीं किया है। ऐसे प्रच्छन्न मार्क्सवादी, छद्म अथवा परा-मार्क्सवादी जो ऐसे लक्षणों अथवा उद्धरणों के पीछे अपनी पारी की प्रतीक्षा करते मिलेंगे जिनका रहस्योद्घाटन करने में चिन्तित कम्युनिज़्म—विरोधी विशेषज्ञ पूर्णतयः प्रशिक्षित नहीं हैं।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त, हम कुछ अन्य कारणों से भी अभिचार के इस अलंकार को महत्व देंगे। हमें एक और मूलभूत अर्थ पर ध्यान देना है: ये कारण पहले ही सामने आने लगे हैं—अभिचार और मन्त्रबल से प्रेत-अपसारण के अतिरिक्त हमें अपने अभिचार की क्रिया पर ध्यान देना है, जिसमें शपथ लेना और इस अर्थात् उस तरह वादा करना, संक्षेप में एक उत्तरदायित्व लेना, निष्पादी विधि से अपने को वचनबद्ध करना शामिल होता है और साथ ही यह कमोवेश गुप्त करीके से और इस तरह कमोवेश सार्वजनिक रूप से, वहाँ जहाँ सार्वजनिक और व्यक्तिगत के बीच की यह सीमा लगातार पदच्युत की जा रही है, पहले की अपेक्षा कम आवश्यक रहते हुए, उस सीमा के रूप में होती है जो किसी को राजनैतिक की पहचान करने की अनुमति देती है। अगर यह महत्वपूर्ण सीमा स्थानभ्रंश की जा रही है तो इसलिए कि वह माध्यम जिसके भीतर यह प्रस्तुत की जा रही है अर्थात् स्वयं प्रचार माध्यमों का माध्यम (समाचारपत्र, प्रेस, दूरसंचार, तकनो-टेलि-तर्कमूलकता, तकनो-टेलि-मूर्तिकरण, वह जो सामान्य रूप से सार्वजनिक स्थान के *अन्तराल* को, सार्वजनिकता (*res publica*) की सम्भावना और राजनैतिक की परिघटनात्मकता को सुनिश्चित और नियमित करती है) ऐसा तत्व है जो स्वयं न तो जीवित है और न ही मृत, न उपस्थित, न अनुपस्थित यह प्रेतकरण करता है। यह सत्तामीमांसा प्राणियों के सत्व (*being*) के विमर्श से अथवा जीवन अथवा मृत्यु के तत्व से नहीं जुड़ा हुआ होता है। हम इस प्रवर्ग को इसके द्वारा सम्भव बनाए जाने वाली प्रत्येक वस्तु—सत्तामीमांसा, धर्मशास्त्र, सकारात्मक अथवा नकारात्मक सत्तामीमांसीय धर्माशास्त्र में अलघुकरणीय मानेंगे।

निष्पादी व्याख्या का यह आयाम, अर्थात् उस व्याख्या का आयाम जो व्याख्यागत विषय का रूपान्तरण कर देता है हमारे आज के व्याख्यान में एक अनिवार्य भूमिका निभाएगा। "व्याख्यागत विषय का रूपान्तरण करने वाली व्याख्या निष्पादी की एक ऐसी परिभाषा है जो वाक्क्रिया सिद्धान्त (*speech act theory*) के परिप्रेक्ष्य में इतनी अधिक रूढ़िमुक्त है जितनी कि यह फायरवाख के मत के ऊपर मार्क्स के ग्यारहवें प्रमेय के प्रति है ("दार्शनिकों ने अनेक प्रकार से इस विश्व की केवल व्याख्या की है; मुद्दा है इसे बदलने का")।

अगर मैं ऐसे अन्य महत्वाकांक्षी, अनिवार्य अथवा संकटापन्न (कुछ लोगों के हिसाब से) ऐतिहासिक परिसंवाद में शिरकत कर रहा हूँ; अगर बहुत लम्बे समय तक टाल-मटोल करते रहने के बाद और अपनी क्षमता की स्पष्ट सीमाओं के बावजूद मैंने यहाँ आने का आमन्त्रण स्वीकार किया तो प्रथमतः किसी दार्शनिक अथवा वैदुष्यपूर्ण प्रस्तुति के लिए नहीं। आने के पीछे एकमात्र कारण यह था कि इस उत्तरदायित्व से भागूंगा नहीं। और अधिक स्पष्ट कहूँ तो इसलिए आया ताकि आपके विचारार्थ इस उत्तरदायित्व की प्रकृति पर कुछ परिकल्पनाएँ प्रस्तुत कर सकूँ। हमारा (उत्तरदायित्व) क्या है? किस रूप में यह ऐतिहासिक है? और तमाम प्रेतों से इसका क्या लेना-देना है?

मुझे लगता है कि कोई भी इस तथ्य पर *सवाल* नहीं उठाएगा कि एक प्रकार का कट्टर मताग्रह विरोधाभासी और सन्देहास्पद स्थितियों में अपना विश्वव्यापी वर्चस्व स्थापित करना चाहता है। मार्क्स की कृतियों और चिन्तन पर, मार्क्सवाद (जो शायद वही चीज नहीं है) पर, समाजवादी इंटरनेशनल और सार्वभौमिक क्रान्ति पर, अपनी मार्क्सवादी प्रेरणा में क्रान्तिकारी मॉडल के कमोवेश धीमे विनाश पर, *घोषणापत्र* में प्रयुक्त 'पुराने योरप' में मार्क्सवाद को कार्यरूप देने का प्रयास करने वाले समाजों के तेजी से, अंधाधुंध, क्षरण पर एक प्रभुत्वकारी विमर्श, या यूँ कहे, प्रबलता की ओर अग्रसर विमर्श इस समय विश्व भर में छाया हुआ है। इस प्रभुत्वकारी विमर्श का स्वरूप प्रायः विक्षिप्त, उत्सवी और अभिचारपूर्ण है जिसे फ्रायड ने शोकाभिव्यक्ति के विजयी चरण का लक्षण माना था। यह अभिचारी मन्त्रोच्चार अपने को दोहराता और अपना अनुष्ठानीकरण करता है, यह किसी भी जीववादी जादू की तरह सूत्रों पर व्याख्यान देता है और सूत्रों से चिपका रहता है। जुलूस की ताल में ताल मिलाता हुआ यह उद्घोष करता है : मार्क्स की मृत्यु हो गई, मार्क्सवाद की मृत्यु, बहुत मृत्यु हो गई और इसके साथ ही इसकी उम्मीदें, इसका विमर्श, इसके सिद्धान्त और इसके व्यवहार भी। यह उद्घोष करता है : पूँजीवाद की जय, बाजार की जय, आर्थिक और राजनैतिक उदारवाद की जय।

अगर यह वर्चस्व अपने कट्टर स्वर समूह को विरोधाभासी और सन्देहास्पद स्थितियों में प्रतिष्ठापित करने की कोशिश कर रहा है तो प्रथमतः इसलिए क्योंकि यह विजयोन्मादी अभिचार वास्तव में इस तथ्य से आँखें चुराने और इसे छिपाने की कोशिश कर रहा है कि इतिहास में उस चीज का क्षितिज जिसके जीवित बचे रहने का उत्सव मनाया जा रहा है (पूँजीवादी और उदास विश्व के सारे पुराने मॉडल) कभी भी इतना अन्धकारमय, भयावह और भयाक्रान्त नहीं रहा है। और किसी ऐसी प्रक्रिया के पूर्णतया नवीन क्षण के भीतर कभी भी इतना 'ऐतिहासिक' नहीं रहा है जिसका तात्पर्य है कि यह किसी ऐसी प्रक्रिया के पूर्णतया नवीन क्षण के भीतर उत्कीर्ण नहीं रहा है जो सब कुछ के बावजूद आवृत्ति के विधान के अधीन रहती है।

एक *प्रबलकारी* विमर्श और इसके *अविवादी* आत्मसाक्ष्य के बारे में प्रारम्भिक वक्तव्य देते समय हम क्या कर रहे हैं?

कम से कम *दो बातें*। स्पष्टतः हम प्राप्त अवधारणाओं का सहारा ले रहे हैं : 1. वर्चस्व की अवधारणा (प्रभुत्वशाली विमर्श) और 2. प्रमाण की अवधारणा (*निर्विवाद* आत्म-साक्ष्य)। हमें इन पर सोचना है और इन्हें न्यायसंगत सिद्ध करना है।

(1) हमने परोक्ष रूप से इसका सन्दर्भ दिया है (विशेषकर इसलिए ताकि उस चीज के बारे में बात कर सकें जिस पर विवाद उठाने का कोई स्वप्न भी नहीं देख सकता) जो सार्वजनिक स्थान में हर कहीं सार्वजनिक अभिव्यक्ति अथवा साक्ष्य व्यवस्थित करता है और

प्राप्त करता है। विचारगत है हमारी संस्कृति के तीन पूर्णतया सम्बद्ध स्थानों अथवा उपकरणों द्वारा निर्मित अनुक्रम :

(अ) प्रथमतः वह संस्कृति जिसे कमोवेश समुचित रूप से राजनैतिक कहा जाता है (विश्व में सत्ताधारी दलों और राजनीतिज्ञों के आधिकारिक विमर्श, प्रायः हर कहीं राजनैतिक व्यवस्था का पश्चिमी मॉडल फैला हुआ है, फ्रांस में इसे ही राजनैतिक वर्गों की भाषा अथवा वाग्मिता कहा जाता है)।

(ब) फिर वह जिसे किंचित भ्रामक रूप से जन संचार संस्कृति कहा जाता है : 'सम्प्रेषण' और व्याख्याएँ, उन समाचार चैनलों के माध्यम से सूचना का चुनिन्दा और श्रेणीबद्ध उत्पादन जिनकी ताकत बिल्कुल अभूतपूर्व ढंग से बढ़ी है और ऐसी लय से बढ़ी है जो सटीक रूप से मार्क्सवादी मॉडल पर बनी हुई सरकारों के पतन की सम्पाती है (और ऐसा महज संयोग से बिल्कुल ही नहीं हुआ है), ऐसा पतन जिसमें इसका (जन संचार संस्कृति का) अवदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है लेकिन—और यह कोई कम महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं है—यह अवदान विनियोजन की ऐसी विधियों और रूपों में तथा इतनी तीव्र गति वाला रहा है कि इसने तथाकथित उदार लोकतन्त्रों में सार्वजनिक स्थान की अवधारणा को भीतर से प्रभावित कर दिया है। और अपने अलघुकरणीय प्रेतीय अयामों में दूर-संचार वाले प्रचार माध्यमों की प्रौद्योगिकी, अर्थव्यवस्था और शक्ति का प्रश्न इस संगोष्ठी में होने वाले सभी विचार-विमर्शों के केन्द्र में होना चाहिए। इसके ऊपर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों पर विचार करने और इसे बदलने के लिए हम मार्क्सवाद के वर्गीकरणों का उपयोग कैसे करें? जिस अवस्थिति का पक्ष समर्थन में करने जा रहा हूँ उसे एक शब्द में कहा जाय (और जो मैं यहाँ प्रस्तावित करने जा रहा हूँ वह ऐसी अवस्थिति द्वारा अपेक्षित, पूर्वकल्पित अथवा पूर्वरूपांकित कार्य की अपेक्षा अवस्थिति लेने से ज्यादा सम्बन्धित है) तो ये वर्गीकरण (schemas) अपरिहार्य लगने के साथ अपने वर्तमान रूप में अपर्याप्त भी लगते हैं। मार्क्स अतीत के उन दुर्लभ चिन्तकों में से हैं जिन्होंने कम से कम सैद्धान्तिक स्तर पर, प्रविधि और भाषा के उत्पत्तिगत अवियोजन और परिणामतः दूर-प्रविधि (tele-technics) (क्योंकि प्रत्येक भाषा एक दूर-प्रविधि होती है) के अवियोजन को गम्भीरता से लिया था। ऐसा कहना उनके महत्व को घटाना नहीं है, वस्तुतः ऐसा कहना मार्क्स की आत्मा के अनुरूप कहना है, उनकी भविष्यवाणियों को शब्दशः उद्धृत करना है, ऐसा कहना यह कहने के लिए प्रमाणित और पुष्ट करना है : जहाँ तक दूर-प्रविधि और इस प्रकार, विज्ञान की बात है, उस अनुभव और उस पूर्वानुमान तक उनकी पहुँच नहीं हो सकती थी जो आज हमें प्राप्त है।

(स) फिर अकादमिक और वैदुष्य की संस्कृति, मुख्यतः इतिहासकारों, समाजविज्ञानियों और भाषाशास्त्रियों, साहित्य के सिद्धान्तकारों, नृवैज्ञानिकों, दर्शनिकों, विशेषकर राजनीतिक दार्शनिकों की संस्कृति जिनके विमर्श को अकादमिक और व्यावयायिक प्रेस के साथ ही सामान्य प्रचार-माध्यम प्रसारित करते हैं। कोई भी यह पहचानने में असफल नहीं होगा कि संस्कृति के जिन तीन स्थानों, रूपों और शक्तियों की पहचान मैंने अभी-अभी की है (स्पष्टतः 'राजनैतिक वर्ग' का राजनैतिक रूपों विमर्श, प्रचार माध्यमों का विमर्श और बौद्धिक, वैदुष्यगत अथवा अकादमिक विमर्श) वे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक एक दूसरे में घुले-मिले हैं और यह काम उन्हीं तन्त्रों/उपकरणों द्वारा सम्पादित किया गया है जिन्हें उनसे अलग नहीं किया जा सकता। ये तन्त्र अथवा उपकरण निस्सन्देह अत्यधिक जटिल, विभेदी, संघर्षी और अतिनियामित हैं। फिर भी, उनके आपसी द्वन्द्व, असमानताएँ अथवा अतिनियामन जो भी हो, वर्चस्व अथवा साम्राज्यवाद को आश्वस्त करने वाली ताकतों को जन्म देने के लिए उनमें पारस्परिक सहयोग

और संवाद हमेशा बना रहता है। और उनके ऐसा कर पाने का सारा श्रेय उसके द्वारा किए गए मध्यस्थन को दिया जाता है जिसे सर्वाधिक व्यापक, सर्वाधिक सचल तथा तकनीकी विकास की गति को ध्यान में रखते हुए प्रौद्योगिक रूप से सर्वाधिक आक्रामक अर्थ में मीडिया कहा जाता है। इस सीमा तक और ऐसे विविध रूपों में पहले कभी नहीं हुआ है कि बौद्धिक अथवा विमर्शात्मक प्रभुत्व की तरह राजनैतिक-आर्थिक वर्चस्व तकनो-प्रचार माध्यमों की शक्ति से होकर गुजरता हो—अर्थात् उस शक्ति से होकर जो एक ही समय, भेदीकृत और अन्तर्विरोधी विधि से, किसी भी लोकतन्त्र को *अनुकूलित* और संकटग्रस्त करती है। अब, इस शक्ति, शक्तियों के विभेदीकृत अनुक्रम का विश्लेषण अथवा सम्भावित विरोध, कहीं समर्थन और कहीं विरोध तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि हम अनेक प्रकार के प्रेतीय प्रभावों, प्रतिकृति के छायाभास (हम इस शब्द को इसके प्रेतीय अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं), संश्लेषी अथवा कृत्रिम-अंगी छवि और आभासी घटना, साइबर स्पेस तथा निगरानी, नियन्त्रण, विनियोजन और सट्टेबाजियों पर विचार नहीं करते जो आज के दौर में अभूतपूर्व रूप से शक्ति सम्पन्न बन गए हैं। क्या मार्क्स और उनके उत्तराधिकारियों ने इन सबके बारे में सोचने और इस परिघटना का लेखा-जोखा करने में हमारी सहायता की है? अगर हम कहें कि इस सवाल का जवाब एक ही साथ *हाँ* और *ना*, एक मामले में *हाँ*, दूसरे में *ना*, है और यह कि हमें सवालों को छानना, चुनना, विभेदीकृत करना और पुनर्संचित करना होगा तो केवल, अत्यधिक शुरुआती तरीके से, अपने निष्कर्षों के स्वर और रूप की घोषणा करने के लिए : अर्थात् इसलिए कि हमें मार्क्सवाद की *विरासत को अनिवार्यतः* मान लेना चाहिए, इसके सर्वाधिक 'सजीव' अंश को मान लेना चाहिए, जिसका मतलब विरोधाभासी ढंग से हुआ वह, जो जीवन, आत्मा, अथवा प्रेतीय के सवाल को और जीवन-मृत्यु की विरोधात्मकता के परे जीवन-मृत्यु के प्रश्न को श्यामपट पर वापस रखता, उकेरता रहा है। इस उत्तराधिकार को इसके अनिवार्य आमूल रूपान्तरण द्वारा अवश्य ही पुनर्प्रतिज्ञापित किया जाना चाहिए। इस प्रकार का पुनर्प्रतिज्ञापन मार्क्स की अपील में, मार्क्स के निषेधादेशों के निहितार्थ में झंकृत होने वाली किसी चीज के प्रति वफादार होने के साथ ही सामान्य रूप से विरासत की अवधारणा के भी अनुरूप होगा। विरासत कभी भी कोई *प्रदत्त* चीज नहीं होती, यह हमेशा एक कार्यभार होती है। यह हमारे सामने उसी तरह निर्विवाद रूप में बनी रहती है जैसे जान पाने और इनकार करने के पहले ही हम मार्क्सवाद के उत्तराधिकारी हैं और सभी उत्तराधिकारियों की तरह हम शोक मना रहे हैं। शोक मना रहे हैं विशेषकर उसके लिए जिसे मार्क्सवाद कहा जाता है। 'होना', वह शब्द जिसमें हमने पहले प्रेत का शब्द देखा था, उसी कारण, विरासत पाने का भी अर्थ देता है। 'होने' अथवा 'न होने' के विषय से जुड़े सारे सवाल विरासत के सवाल होते हैं। इस तरह के अनुस्मरण में कोई पश्चगामी उच्चाप, कोई परम्परावादी रस नहीं है। प्रतिक्रिया, प्रतिक्रियावादी अथवा प्रतिक्रिया करना और कुछ नहीं विरासत की व्याख्याएँ ही हैं। हम वारिस हैं, इसका मतलब यह नहीं कि हमारे पास यह है या वह अथवा हम यह या वह प्राप्त करते हैं, अर्थात् कोई ऐसी विरासत जो किसी दिन हमें इस या उस तरीके से समृद्ध करती है अपितु यह कि हमारे चाहने अथवा न जानने से परे हम जो हैं वह *होना* प्रथमतः विरासत होता है। और, जैसा होल्डरलिन ने कहा है, हम केवल इसके साक्षी हो सकते हैं। साक्षी होने का मतलब होगा इस बात का साक्षी होना कि हम जो हैं वह इसलिए क्योंकि हम विरासत पाते हैं। और यह कि—यह घेरे, अवसर अथवा सीमितता का स्थल होता है—हम उसी चीज की विरासत प्राप्त करते हैं, जो हमें उसका साक्षी बनने की अनुमति देती है। जहाँ तक होल्डरलिन का सवाल है, वे इसे भाषा कहते हैं, मनुष्य

को दी गई, “सर्वाधिक खतरनाक वस्तु जिससे वह जो है उसे विरासत में पाने का साक्ष्य देता है।”¹

(2) जब हम कम से कम यह परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं कि मार्क्सवाद और मार्क्सवादी समाजों के अन्त को लेकर चलाया जा रहा प्रचार इस समय ‘प्रभुत्वशाली विमर्श’ है तो हम अभी भी मार्क्सवाद के ही सूत्र में बात कर रहे हैं। इस प्रकार के संकेत के समस्याग्रस्त चरित्र से हमें भागना नहीं चाहिए और न ही छिपाना चाहिए। जो इसके घुमावदार होने की बात करते हैं अथवा इस पर शंका करते हैं वे पूरी तरह से गलत नहीं होंगे। कम से कम थोड़े समय के लिए हम वास्तव में अपना विश्वास मार्क्सवाद से विरासत के रूप में मिले आलोची विश्लेषण में व्यक्त कर रहे हैं : किसी प्रदत्त स्थिति में, बशर्ते कि यह स्थिति किसी सामयिक-राजनैतिक विरोध की स्थिति के रूप में नियामित की जा सके अथवा नियामित हो चुकी हो, एक प्रबल वाग्मिता और विचारधारा किसी वर्चस्वकारी शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रतीत होती है, फिर इस वर्चस्वकारी शक्ति के प्रधान अथवा गौड़ अन्तर्विरोधों, अतिनियामनों और इस वर्गीकरण को बाद में जटिल बना देने वाले प्रसारणों के पारस्परिक द्वन्द्व जो भी हों। यही प्रसारण बाद में प्रभुत्वकारी (शक्तियों) और इनके शिकारों के बीच के प्रत्यक्ष विरोध पर अथवा द्वन्द्वरत शक्तियों के अन्तिम नियामन पर अथवा और अधिक उग्रता से इस विचार के अन्तिम नियामन पर शंका करने के लिए हमें विवश करते हैं कि बल निर्बलता की तुलना में कहीं अधिक ताकतवर होता है (नील्सो और बेन्यामिन ने अपने-अपने तरीके से हमें इस बात पर शंका करने के लिए उकसाया है, खासतौर से बेन्यामिन ने जब वे ‘ऐतिहासिक भौतिकवाद’ को किसी ‘कमजोर मसीहाई शक्ति’ की विरासत से जोड़ते हैं)।² आलोची विरासत : इस तरह हम उदाहरण के लिए प्रभुत्वशाली विमर्श अथवा प्रभुत्वशाली प्रतिनिधिकरणों और विचारों की बात कर सकते हैं और इस तरह किसी श्रेणीबद्ध और संघर्षी क्षेत्र का सन्दर्भ, सामाजिक वर्ग की उस धारणा को अनिवार्यतः माने बिना भी दे सकते हैं, जिसके आधार पर मार्क्स प्रायः विशेष रूप से *द जर्मन आइडियलॉजी* में, शक्तियों का निर्धारण करते हैं जो वर्चस्व पर नियन्त्रण के लिए अथवा सीधे-सीधे राज्य पर नियन्त्रण के लिए संघर्षरत होती है। उदाहरण के लिए जब विचारों के इतिहास का सहारा लेते हुए, *घोषणापत्र* यह घोषित करता है कि “प्रत्येक युग के शासक विचार हमेशा ही इसके शासक वर्ग के विचार रहे हैं” (पृ. 26), तब किसी चुनिन्दा क्रिटीक के लिए इस कथन की विरासत में से इसे या उस बात को ग्रहण करने के लिए इसे छानना असम्भव नहीं होता। शक्तियों के किसी क्षेत्र में प्रभुत्व की बात केवल हम उसी समय नहीं करते रह सकते हैं जब हम उस अन्तिम आधार के सन्दर्भ को निलम्बित कर रहे होते हैं जो किसी सामाजिक वर्ग की पहचान और आत्म-पहचान होता है अपितु उस समय भी जब हम विचार, संरचना के नियामन का विचार, आदर्श अथवा विचारधारात्मक प्रतिनिधिकरण और वास्तव में इस प्रतिनिधिकरण के विमर्शी रूप को दिए गए गौरव को भी निलम्बित कर रहे होते हैं। इसीलिए और भी क्योंकि विचार की अवधारणा का अर्थ होता है उस प्रेतीय का अलघुकरणीय जन्म जिसे हम यहाँ पुनर्परीक्षित करने की तैयारी कर रहे हैं।

लेकिन थोड़ी देर के लिए अपने इस प्रारम्भिक परिचय के क्षण के लिए प्रभुत्वकारी विमर्श के वर्गीकरण को सामने रखें। अगर भू-राजनीतिक (बौद्धिक अथवा अकादमिक क्षेत्र के सर्वाधिक दृश्यमान अंशों में, राजनैतिक व्यक्तियों की वाग्मिता में, प्रचार-माध्यमों की सहमति में) के नए मंच पर यह विमर्श आज दबदबा बना रहा है तो इसलिए कि यह वह विमर्श है जो सभी प्रकार के स्वयं और दृढ़ आत्मविश्वास के साथ मार्क्सवादी मॉडल के आधार पर बनाए गए समाजों

के अन्त की ही नहीं अपितु पूरी मार्क्सवादी परम्परा के अन्त, यहाँ तक कि मार्क्स की कृतियों के उद्धरणों-सन्दर्भों के अन्त की भी पहचान कर रहा है, इतिहास, कालखंड के अन्त का तो कहना ही क्या। उदार लोकतन्त्र और बाजार अर्थव्यवस्था के समारोह में यह सारा कुछ अन्ततः नियोजित हो जाएगा। यह विजयोन्मादी विमर्श अपेक्षाकृत अधिक एकरूपी बहुधा अत्यधिक मताग्रही, कभी-कभी राजनैतिक रूप से द्विअर्थी और सभी मतवादों, सभी अभिचारों की भाँति गुप्त रूप से चिन्तित और खुले रूप से चिन्ताजनक प्रतीत होता है। इस संगोष्ठी की विज्ञप्ति में फ्रांसिस फुकुयामा की पुस्तक *द एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लॉस्ट मेन* (इतिहास का अन्त और अन्तिम मनुष्य) का जिक्र किया गया है।¹ क्या यह इतिहास के अन्त के रूप में मार्क्सवाद की मृत्यु पर सबसे अधिक शोरगुल करनेवाला, प्रचार-माध्यमों द्वारा सर्वाधिक प्रचारित, सर्वाधिक 'सफल' 'सुसमाचार' ही तो नहीं है? यह सच है कि फुकुयामा की पुस्तक उतनी निरर्थक या फालतू नहीं जितना इसके उस उन्मत्त प्रचार के कारण किसी को लग सकता है जिसमें इसे ऐसे उदार लोकतन्त्र में विजयी पूँजीवाद की सर्वोत्तम विचारधारात्मक उपलब्धि के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है जो यदि अपने यथार्थ में नहीं तो अपने आदर्श के पूर्ण पल्लवन के चरण तक अन्ततः पहुँच चुका है। वास्तव में अलन ब्लूम द्वारा आगे बढ़ाई जाने वाली लियो स्त्राउस की परम्पर से जुड़ी यह पुस्तक किसी नौजवान, परिश्रमी और थोड़ा-सा विलम्ब से कोयेव (और कुछ अन्य लोगों) को पढ़ने वाले छात्र की अभ्यास पुस्तिका जैसी भी लग सकती है तो भी हमें मानना पड़ेगा कि यत्र-तत्र यह पुस्तक बेसुरी और निर्णय को निलम्बित करती भी लगती है। इसमें विस्तार से जिन प्रश्नों की चर्चा अपने ढंग से ही गई है उनके साथ यह चतुराई से, सभी आधारों को समेटने के क्रम में उसे भी जोड़ देती है जिसे यह "दक्षिण और वाम से क्रमशः मिलने वाली दो प्रतिक्रियाएँ" कहती है (पृ. XXII)। इसी कारण इस पुस्तक का विश्लेषण बड़े ध्यान से किया जाना चाहिए। यहाँ इस पुस्तक में उस प्रमेय की सामान्य संरचना तक ही विचार-विमर्श सीमित रखा जाएगा जो इसकी पूरी तर्क पद्धति की संरचना का अपरिहार्य अंश है अर्थात् इसके मार्क्सवाद-विरोधी अभिचार का सूत्रीकरण।

थोड़ी देर पहले इस पुस्तक को एक 'सुसमाचार' जान-बूझ कर कहा गया है। सुसमाचार क्यों? यहाँ प्रस्तुत सूत्र नव-साक्ष्य क्यों? यह पुस्तक इस प्रश्न के प्रति एक 'सकारात्मक प्रतिक्रिया' प्रस्तुत करने का दावा करती है जिसके सूत्रीकरण और रूपांकन अपने आप में कभी भी प्रश्नांकित नहीं किए जाते। प्रश्न यह है, क्या 'मानवजाति का सुसम्बद्ध और दिशायुक्त इतिहास' अन्ततः 'मानवता के बृहत्तर अंश' को फुकुयामा द्वारा रहस्यात्मक, तथा एक ही साथ विनम्र और उद्धत स्वर में अभिहित 'उदार लोकतन्त्र' की ओर ले जाएगा (पृ. XII)। इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देते हुए फुकुयामा उसी पृष्ठ पर उस प्रत्येक चीज के प्रति स्वयं सचेत होना स्वीकार करते हैं जिससे किसी को भी उनके 'हाँ' उत्तर पर शंका करने की छूट मिल जाती है : दो विश्वयुद्ध, तानाशाहियों—नात्शीवादी, फासीवादी, स्तालिनवादी की भयावह क्रूरताएँ, पॉल-पॉट सत्ता द्वारा किया गया नरसंहार इत्यादि, इत्यादि। हम कल्पना कर सकते हैं कि इस भयावह सूची को वे बढ़ा भी सकते थे लेकिन वे करते नहीं और ऐसा क्यों नहीं करते इससे आश्चर्य होता है। उनसे यह भी पूछा जा सकता है कि क्या उन्होंने इस सूची को एकाएक रोक दिया है या फिर यह कोई बहुत महत्वपूर्ण सूची है ही नहीं। लेकिन इस विचित्र दावे की तर्क पद्धति का शुरु से अन्त तक व्यवस्थित करने वाले वर्गीकरण के अनुसार ये सारी विभीषकाएँ (आतंक, दमन, उत्पीड़न, मानव विनाश नरसंहार, इत्यादि), ये 'घटनाएँ' अथवा ये 'तथ्य' अनुभवाश्रितता से, 'बीसवीं सदी के द्वितीय अर्द्धांश में घटनाओं के अनुभूतिक प्रवाह' (पृ. 70) से जोड़ दी

जाएँगी, 'अनुभवगत साक्ष्य' द्वारा प्रमाणित 'अनुभवगत परिघटनाएँ' (पृ. XX) बनी रहेगी। उनका पुंज मानवता के विशालतर अंश की उदार लोकतन्त्र की ओर आदर्श यात्रा को खंडित नहीं कर पाएगा। अपने रूप में, विकास के चरम लक्ष्य के रूप में, इस यात्रा को एक आदर्श अन्तिम परिणति का रूप प्राप्त हो जाएगी। इस आदर्श के साथ सामंजस्य न बैठा पाने वाली प्रत्येक चीज फिर वह चाहे जितनी विशाल, प्रलयकारी, और भूमंडलीय और बहुतल और लगातार घटित होने वाली क्यों न हो ऐतिहासिक अनुभवाश्रितता से जोड़ दी जाएगी। अगर कोई व्यक्ति अनुभवाश्रित यथार्थ और आदर्श अन्तिमत्व के बीच इस सारांशी भेद के सपाट स्वरूप को स्वीकार भी कर ले, तो भी वह यह नहीं जान पाएगा कि किस तरह यह परिपूर्ण उन्मुखता, इतिहास का यह निरैतिहासिक चरम लक्ष्य सटीक तौर से, हमारे दौर में, आज के दौर में, हमारे समय में किसी ऐसी घटना को जन्म दे देता है जिसे फुकुयामा 'सुसमाचार' कहते हैं और जिसे वे बड़ी स्पष्टता से "बीसवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश के सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास" की तिथि से जोड़ते हैं (पृ. XII)। निस्सन्देह, वे स्वीकार करते हैं कि जिसे वे दक्षिण और वाम के विश्वव्यापी पतन के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं उसने हमेशा 'स्थायी उदार लोकतन्त्रों को जन्म' नहीं दिया है (वही)। लेकिन उनका विश्वास है कि वे स्पष्ट रूप से यह कह सकते हैं कि आज के दिन तक और यही सुसमाचार है, एक बासी समाचार, "उदार लोकतन्त्र एक ऐसी एकमात्र सुसम्बद्ध राजनैतिक आकांक्षा है जो इस भूमंडल के विभिन्न क्षेत्रों और संस्कृतियों में शेष है।" फुकुयामा के अनुसार "पूरे भूमंडल में राजनैतिक स्वतन्त्रता की ओर इस ललक" के साथ, "कभी आगे और कभी पीछे, आर्थिक चिन्तन में एक उदार क्रान्ति" भी आई होती। बीसवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश का सुसमाचार है उदार लोकतन्त्र और 'मुक्त बाजार' का गठजोड़। प्रचारवादी रूपक काफी आग्रही है और चूँकि यह भू-राजनैतिक स्तर पर फैला है अथवा फैला होने का दावा करता है। अतः यह बलाघात की अपेक्षा रखता है।

(इस तरह हम इसे रेखांकित करते जा रहे हैं और साथ ही उस 'प्रतिश्रुत भूमि' को भी जो दो कारणों से इसके निकट होने के साथ ही इससे अलग भी है और इन कारणों की **ppkzge dksdksaghd j ldrsga ,d vlg** वाइबिल के अलंकारिक रूप एक ऐसी भूमिका निभाते हैं जो उनके सरल अलंकारिक पिष्टोक्ति होने का अतिक्रमण करती प्रतीत होती है), दूसरी ओर ये रूपक इसी कारण और अधिक ध्यान की अपेक्षा रखते हैं क्योंकि यह महज संयोग नहीं है कि उस विश्वव्यापी संकट का जिसके भीतर 'मार्क्सवाद किधर?' का सवाल उत्कीर्ण है उस विश्वव्यापी संकट में जो अभी भी अलघुकरणीय बना हुआ है उसके लक्षणों और सादृश्यताओं के सर्वाधिक संकेन्द्रण का अपना स्थान, अपना रूप अथवा इसके स्थान का मध्य-पूर्व है। तीन अन्य मसीहाई युगान्त विज्ञान पूरे विश्व की और पूरी 'विश्व व्यवस्था' की ताकतों को उस खूँखार युद्ध में लामबन्द कर रहे हैं जो वे एक-दूसरे के विरुद्ध प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से लड़ रहे हैं; ये युगान्त विज्ञान एक ही साथ राज्य और राष्ट्र-राज्य की पुरानी अवधारणाओं, अन्तरराष्ट्रीय विधान की अवधारणाओं, दूरसंचार प्रौद्योगिकी—प्रचार तन्त्र—आर्थिक और वैज्ञानिक सैन्य शक्तियों, दूसरे शब्दों में, अत्यधिक पुरानी और अत्यधिक आधुनिक प्रेतीय शक्तियों को सक्रिय करने अथवा उन्हें परखने के लिए लामबन्द कर रहे हैं दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति, विशेष कर इजराइल की स्थापना के बाद उसे उनके विश्वव्यापी ऐतिहासिक साझेदारियों के असीमित विस्तार में उस हिंसा का विश्लेषण करना पड़ेगा तो इजराइल की स्थापना के पहले, स्थापना के समय, स्थापना के बाद इसके सभी ओर घटित हुई, जो उसी समय उस अन्तरराष्ट्रीय विधान के अनुरूप और उसका उल्लंघन करते हुए घटी जो आज एक

ही साथ कहीं अधिक जरूरी लगता है। इस तरह का विश्लेषण 'यरुशलम के विनियोजन' के लिए युद्ध में इन तीन मसीही युगान्त विज्ञानों की नियामक भूमिका स्वीकार करने से अब नहीं बच सकता। 'यरुशलम के विनियोजन' के लिए युद्ध आज विश्वयुद्ध है। यह युद्ध चारों ओर हो रहा है, यही विश्व है, विश्व के 'चूल से हटे' होने का यह एकमात्र रूपक है। अभी भी एक न्यूनपदीय प्रणाली में हम कह सकते हैं कि मध्य-पूर्व में होने वाली हिंसा को मसीही युगान्त विज्ञानों के मुक्त प्रवाह और पवित्र सहबन्धों (एक ऐसा शब्द जिसे बहुवचन में इसलिए प्रयोग किया जाना चाहिए ताकि पवित्र ग्रन्थ में धर्म माने गए तीनों धर्मों के त्रिकोण के इस सहबन्धों में परिवर्तित होने की बात को समझा जा सके) की उनकी असीमित मिली-जुली सम्भावनाओं के रूप में निर्धारित करने के लिए मार्क्सवाद अभी भी अपरिहार्य और संरचनात्मक स्तर पर अपर्याप्त बना हुआ है : यह अभी भी जरूरी है लेकिन शर्त यह है कि इसे नई स्थितियों के हिसाब से, विचाराधात्मक की एक नई सोच के हिसाब से रूपान्तरित और अनुकूलित किया जाए, बशर्ते तकनी-आर्थिक कारणताओं और धार्मिक प्रेतों की नई अभिव्यक्तियों का तथा पूँजी के अन्तर्गत स्वयं पूरी तरह स्वतन्त्र न रहने वाले राज्यों अथवा सामाजिक-आर्थिक सत्ताओं का विश्लेषण करने में इसका उपयोग किया जाए (लेकिन अतीत या वर्तमान में केवल पूँजी ही नहीं रही है, न ही एकवचन में पूँजीवाद रहा है, इसका स्वरूप बहुरंगी होता है—राज्य पूँजीवाद अथवा निजी पूँजीवाद, यथार्थ अथवा प्रतीकात्मक पूँजीवाद, जो प्रेतीय ताकतों से जुड़े रहते हैं या फिर उन्हें हम पूँजीकरणों की संज्ञा दे सकते हैं जिनकी पारस्परिक शत्रुताएँ कम नहीं की जा सकतीं)।

मार्क्सवाद का यह रूपान्तरण और यह खुलापन जिसे मार्क्सवाद की आत्मा कहा जाता है मार्क्सवाद के अनुरूप है। अगर मार्क्सवाद विश्लेषण जैसा विश्लेषण आज भी अपरिहार्य बना हुआ है तो भी यह वहाँ बहुत अधिक पर्याप्त लगता है जहाँ यह मार्क्सवाद विज्ञान अथवा क्रिटीक की प्रयोजना को स्थापित करते हुए, तमाम आधुनिक और उत्तर-आधुनिक नकारों के बावजूद, एक मसीहाई युगान्त विज्ञान *अपने साथ लिए रहता है और इसे अनिवार्यतः लिए रहना चाहिए*। कम से कम इस बिन्दु पर, विरोधाभासी रूप से और इस तथ्य के बावजूद कि यह अनिवार्यतः उनमें सहभागी होता है, इसे उन विचारधाराओं और धर्माचारों के साथ आसानी से नहीं रखा जा सकता जिनका क्रिटीक अथवा विरहस्यीकरण इसका घोषित उद्देश्य होता है। यह सब कहने में हम यह दावा नहीं करेंगे कि यह मसीहाई युगान्त विज्ञान जो इसके द्वारा आलोकित धर्मों में तथा मार्क्सवादी क्रिटीक में एक समान तत्व होता है उसे सीधे-सीधे विखंडित कर दिया जाना चाहिए। विषयवस्तु के अपवाद के साथ, जहाँ यह दोनों का समान तत्व है, (लेकिन दोनों में से कोई भी विषय वस्तु के अपवाद पर सहमत नहीं होगा जबकि हम, इसे दूसरे के बारे में और आसन्न घटना के बारे में सोचने के रूप में, सामान्यतः मसीहाई के लिए अनिवार्य मानते हैं) वहीं यह बात भी है कि प्रतिश्रुति की इसकी औपचारिक संरचना या तो उनके आगे निकल जाती है अथवा उनकी पूर्ववर्ती हो जाती है। किसी भी विखण्डन के लिए जो अलघुकरणीय बना रह जाता है, जो विखंडन की स्वयं सम्भावना के रूप में अ-विखण्डनीय बना रह जाता है, शायद वह मुक्तिकारी प्रतिश्रुति का कोई अनुभव होता है; शायद किसी संरचनात्मक मसीहावाद की औपचारिकता होती है, एक धर्मरहित मसीहावाद, मसीहावाद से रहित मसीहावाद, न्याय का एक प्रत्यय—जिसे हम अधिकार के विधान, मानवाधिकार के विधान से अलग करते हैं—लोकतन्त्र का कोई प्रत्यय—जिसे हम इसकी प्रचलित अवधारणा से, इसके आज के निर्धारित विधेयों से अलग करते हैं। लेकिन शायद यह वही है जिसे सोचा जाना

चाहिए, जिसे अन्यथा सोचा जाना चाहिए ताकि कोई अपने से पूछ सके कि मार्क्सवाद किधर ले जा रहा है और इसे किधर ले जाया जाना है : इसकी व्याख्या करते हुए इसे किधर ले जाया जाए, जो बिना रूपान्तरण के सम्भव नहीं, न कि जैसा यह है अथवा जैसा यह रहा होगा उस रूप में हमें किधर ले जाएगा।

अब हम फुकुयामा की नव-धर्मप्रचारक वाग्मिताप की ओर वापस आते हैं : “सौम्य लोकतान्त्रिक राजनैतिक अभ्यासों के स्वास्थ्य और सुरक्षा के सम्बन्ध में भविष्य के अशुभ समाचारों की उम्मीद के हम अब तक इतने आदी हो चुके हैं कि जब कोई शुभ समाचार आता भी है तो उसे पहचानने में हमें समस्या होती है। लेकिन फिर भी *शुभ समाचार* आ चुका है” (पृ. XV)। नव-धर्म प्रचारवादी आग्रह कई कारणों से महत्वपूर्ण है। थोड़ा आगे बढ़ने पर यह ईसाई रूप ‘प्रतिश्रुत भूमि’ की यहूदी मान्यता से मिल जाता है लेकिन ऐसा इसलिए ताकि इसाई रूप तत्काल इससे दूर हट जाए। अगर आधुनिक भौतिकी का विकास शुभ समाचार के आने में इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह उस प्रौद्योगिक से जुड़ा है जो ‘धन के असीमित संग्रह’ और ‘मानव समाजों के अधिकाधिक एकरूपीकरण’ को सम्भव बनाती है, तो यह ‘प्रथमतः’ इसलिए क्योंकि यह ‘प्रौद्योगिकी उन देशों को निर्णायक सैनिक लाभ प्रदान करती है जिनके पास यह (प्रौद्योगिकी) है’ (पृ. XIV)। अब फुकुयामा द्वारा घोषित ‘शुभ समाचार’ के आगमन के लिए हालाँकि यह अपरिहार्य है, तो भी फुकुयामा कहते हैं कि यह भौतिक-प्रौद्योगिक-सैन्यशक्ति हमें ‘प्रतिश्रुत भूमि’ के केवल द्वार तक ही ले जाती है : “लेकिन यह आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान हमें उदार लोकतन्त्र की प्रतिश्रुत भूमि के द्वार तक ले तो जाता है, तो भी यह हमें उस ‘प्रतिश्रुत भूमि’ को सौंप नहीं पाता, क्योंकि आर्थिक रूप से अनिवार्य कोई ऐसा कारण नहीं है कि विकसित औद्योगिकरण राजनैतिक स्वतन्त्रता पैदा ही करे।” (पृ. XV)।

अतिव्याख्या से हमें बचना चाहिए लेकिन इस वाग्मिता के आग्रह को हमें गम्भीरता से लेना चाहिए। आखिर यह वाग्मिता हमसे कहना क्या चाह रही है? यह कि ‘प्रतिश्रुत भूमि’ की भाषा और इस तरह प्रतिश्रुत लेकिन अप्रदत्त भूमि की भाषा *कम से कम अपने से* भौतिकी के भौतिकवाद और अर्थवाद के लिए अधिक अनुकूल है। अगर इस तथ्य पर ध्यान दिया जाए कि फुकुयामा ‘प्रतिश्रुत प्रदेश’ के एक खास यहूदी विमर्श को अर्थवादी भौतिकवाद की शक्तिहीनता अथवा प्राकृतिक विज्ञान के बुद्धिवाद की शक्तिहीनता के साथ जोड़ देते हैं; अगर इस बात पर ध्यान दिया जाए कि अन्यत्र वे इस तथ्य को एक लगभग उपेक्षणीय अपवाद के रूप में लेते हैं कि जिसे वे बड़ी भद्रता से ‘इस्लामी विश्व’ कहते हैं वह उस ‘सामान्य सहमति’ में प्रवेश नहीं करता जो उनके अनुसार ‘उदार लोकतन्त्र’ को लेकर बनने की प्रक्रिया में है (पृ. 211)। तो इस तरह की परिकल्पना बन सकती है कि युगान्त वैज्ञानिक त्रिकोण (यहूदी, ईसाई और इस्लामी) के किस कोण को फुकुयामा प्रतिष्ठा देते हैं। उदार राज्य के जिस मॉडल के प्रति वे खुलकर अपना दावा पेश करते हैं वह केवल हीगल का ही नहीं है अर्थात् वह हीगल जो सम्मान के लिए संघर्ष की बात करता था, यह उस हीगल का है जो (इस तरह के राज्य की) ‘ईसाई परिकल्पना’ को प्रतिष्ठित करता है। अगर ‘राज्य का अस्तित्व संसार में ईश्वर का आना है’, जैसा कि फुकुयामा द्वारा हीगल की पुस्तक *द फिलॉसफी ऑफ राइट* (अधिकार का दर्शन) से दिए गए उद्धरण से ज्ञात होता है, तो इस ‘आने’ में एक ईसाई घटना भी प्रतिध्वनित हो रही है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति वह घटना हुई होती ‘जिसने स्वतन्त्रता और समानता के समाज की ईसाई कल्पना को स्वीकार किया और धरती पर स्थापित कर दिया’ (पृ. 199 और आगे)। इतिहास का यह अन्ततः मूलतः एक ईसाई युगान्त विज्ञान है। यह योरोपीय समुदाय की धारणा

पर पोप के वर्तमान उपदेश के सदृश्य है: इस तरह एक ईसाई राज्य अथवा महाशक्ति बनने के लिए नियमितबद्ध यह समुदाय फिर भी एक पवित्र मोर्चा (होली अलायन्स) से जुड़ा होगा। इस तरह यह सहबन्ध *घोषणापत्र* में स्पष्ट रूप से उल्लिखित सहबन्ध से असम्बद्ध नहीं है, घोषणापत्र से भी उस समय पोप का सन्दर्भ दिया गया था। उदार राज्य के एंग्लो-सैक्सन मॉडल (हॉब्स, लॉक) को उस हीगलीय 'उदारवाद' से विभेदित करने के बाद जो प्रथमतः 'बौद्धिक सम्मान' की भी तलाश में रहता है, फुकुयामा कोयेव के दो वक्तव्यों में अन्तर करते हैं। जब कोयेव सार्वभौमिक और एकरूपी राज्य को आदर्श रूप में रूपान्तरित करने की बात करते हैं तो वे लॉक और एंग्लो-सैक्सन मॉडल को अपना आधार बना रहे होते हैं। हीगल ने इन दोनों की आलोचना की है। दूसरी ओर उनकी बात उचित है कि युद्धोत्तर अमरीका अथवा योरोपीय समुदाय 'सार्वभौमिक स्वीकृति वाले हीगल के राज्य के साकार रूप को संस्थापित करता है।' (पृ. 203) दूसरे शब्दों में, परिणामतः और उसी शुभ तर्क के अनुसार, एक ईसाई राज्य। एक पवित्र मोर्चा।

इन भविष्यवाची, अनुमानाश्रित भविष्यवाणियों के विरोध में किसी फूहड़ 'अनुभवाश्रित' साक्ष्य को हम नहीं प्रस्तुत करेंगे। अनुभवाश्रितता की समस्या पर हम बाद में लौटेंगे। अगर कोई आज, योरोप में कोयेव और फुकुयामा की घोषणाओं की लिथि पर विचार करें तो 1992 में प्रकाशित और अनूदित किसी पुस्तक के पीछे की क्षीणकारी परिस्थितियों की बात करने में उसे कठिनाई होती है। और एक बार फिर हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि स्वीकृति के लिए संघर्ष की और इस तरह योरोपीय समुदाय के उदारहण की ईसाई व्याख्या के नाम पर ही *द एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मैन* {क्रिश्चियन मैन} (इतिहास का अन्त और अन्तिम मनुष्य {ईसाई मनुष्य}) का लेखक मार्क्स की आलोचना करता है और उनके स्पष्ट घोषित भौतिकवादी अर्थवाद को सुधारने और उसे 'पूरा करने' की बात प्रस्तावित करता है : मार्क्स के पास स्वीकृति का हीगलवाद ईसाईवादी 'स्तम्भ' अथवा आत्म का 'वाल्थग्रन्थि' वाला तत्व नहीं होगा। सार्वभौमिक और एकरूपी राज्य, इतिहास के अन्त का राज्य 'अर्थशास्त्र और स्वीकृति' के जुड़वा स्तम्भों पर टिका होना चाहिए। जैसे कि घोषणापत्र के समय में था, एक योरोपीय मोर्चा रूप लेता है जो जिसे यह निष्क्रमिक करता है, जिससे लड़ता है और जिसका दमन करता है उसी से बाधाग्रस्त रहता है। इस नवधर्मवाद का निहितार्थ—अतीत का अथवा भावी—बाद में चर्चा के केन्द्र में आएगा।

इस तर्क पद्धति के अनुसार अर्थवादी भौतिकवाद अथवा आधुनिक भौतिकी का भौतिकवाद को 'शुभ समाचार' की अध्यात्मवादी भाषा के लिए स्थान खाली कर देना चाहिए। इसलिए फुकुयामा के लिए "स्वीकृति (सम्मान) के लिए संघर्ष पर आधारित हीगलवादी इतिहास की गैर-भौतिकवादी आख्यायिका" का सहारा लेना लाजमी लगता है। वास्तविकता यह है कि (फुकुयामा की) पूरी पुस्तक (हीगल की पुस्तक) *फिनॉमेनॉलॉजी ऑफ स्पिरिट* में उल्लिखित स्वामी—सेवक द्वन्द्वात्मकता की इसी सरलीकृत—और अत्यधिक ईसाईकृत—रूपरेखा की अपरीक्षित सूक्तियों में उत्कीर्ण है। तो भी इच्छा की और चेतना की द्वन्द्वात्मकता भी बड़े दृढ़ विश्वास के साथ मैकियावेली, हाब्स और लॉक होती हुई हीगल तक चले आने वाले प्लेटों के Thymos सिद्धान्त की अविच्छिन्नता के रूप में प्रस्तुत की गई है बावजूद इस तथ्य के कि इन राजनीतिक विचारकों में अनेक असहमतियाँ और मतभेद भी रहे हैं। आधुनिक उदारवाद की एंग्लो-सैक्सन अवधारणा भी इस सन्दर्भ में विशिष्ट रहेगी ही। इसमें इस सारी megalothymia (जो स्तालिन, हिटलर और सद्दाम हुसैन का लक्षण रहा है (पृ. 190) को भी बाहर रखने का प्रयास किया

गया होगा, चाहे फिर “स्वीकृति की इच्छा isothymia के रूप में हमारे चारों ओर बनी ही रहे।” फुकुयामा द्वारा प्रस्ताविक आर्थिक बुद्धिवाद और स्वीकृति की इच्छा के ‘जुड़वा स्तम्भों’ को जैसे ही राज्य जोड़ देगा उसी समय सारे अन्तर्विरोध समाप्त हो जाएँगे। कम से कम फुकुयामा जिस रूप में कोयेब के मत की व्याख्या करते हैं और साथ में समर्थन भी उसके अनुसार ऐसा ही होगा और यह पहले ही घटित हो गया होगा। फुकुयामा कोयेब को इस बात का श्रेय देते हैं कि उन्होंने उस समय इस “एक महत्वपूर्ण सत्य को पहचान लिया था जब उन्होंने यह घोषित किया था कि युद्धोत्तर अमरीका और योरोपीय समुदाय हीगल के सार्वभौमिक स्वीकृति वाले राज्य के साकार रूप को संस्थापित करते हैं।” (पृ. 203)।

‘महत्वपूर्ण सत्य’ पद को हमें रेखांकित कर लेना चाहिए। इस पुस्तक के प्रवाह को आगे बढ़ाने और इसके स्वर को निर्धारित करने वाले परिष्कृत भोलेपन अथवा रुक्ष वितण्डा के अनुवाद के लिए ये दोनों शब्द बहुत उपयुक्त हैं। ये दोनों शब्द पुस्तक की किसी भी प्रकार की विश्वसनीयता से भी वंचित कर देते हैं क्योंकि फुकुयामा अपनी प्रस्थापना के समर्थन में पर्याप्त साक्ष्य जुटाना चाहते हैं : ‘शुभ सामाचार’ में कोई अनुभवाश्रित और देखी जा सकने वाली घटना के रूप में ‘शुभ समाचार’ (सार्वभौमिक स्वीकृति वाले हीगल के राज्य के साकार रूप) का यह ‘महत्वपूर्ण सत्य’ है) और/अथवा अभी तक पहुँच के बारह ऐसे आदर्श के साधारण संकेत के रूप में ‘शुभ सामाचार’ जो किसी ऐतिहासिक घटना, और विशेषकर किसी तथाकथित अनुभवाश्रित ‘असफलता’ से नहीं मापा जा सकता।

दूसरी ओर, राजनैतिक—आर्थिक उदारवार की पवित्र कथा के लिए उस शुभ समाचार की घटना की जरूरत है जिसमें सम्मिलित है वह जो प्रसिद्ध रूप से वास्तव में घटित हुआ है (विशेषकर, बीसवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश में घटित हुआ है अर्थात् मार्क्सवाद की कल्पित मृत्यु, उदार लोकतन्त्र वाले राज्य का कल्पित उद्भव)। इस घटना का सहारा लिए बिना यह कुछ नहीं कर सकता; दूसरी ओर चूँकि वास्तविक इतिहास और तमाम ऐसी यथार्थताएँ, जिनका चेहरा अनुभवाश्रित है, परिपूर्ण लोकतन्त्र के इस आगमन का खंडन करती हैं, अतः इस परिपूर्णता को एक नियामक और परा ऐतिहासिक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाना जरूरी होता है। इसे फुकुयामा कैसे अपने पक्ष में कर सकते हैं और अपने प्रमेय के समर्थन में इसका उपयोग कर सकते हैं, इसे ध्यान में रखते हुए वे यहाँ उदार लोकतन्त्र को एक वास्तविक यथार्थ के रूप में और अन्यत्र एक साधारण आदर्श के रूप में परिभाषित करते हैं। घटना अब साकार हो गई है, साकार होने का समाचार दे रही है। जब हम इस विचार को गम्भीरता से ले भी रहे होते हैं कि आगमन का कोई संकेत अथवा प्रतिश्रुति एक अलघुकरणीय घटना का रूप निर्माण करता है, तभी हमें घटना के इन दानों प्रकारों के घालमेल से बचना चाहिए। जिस चीज का इस तरह के विमर्श में सबसे अधिक अभाव है वह निश्चित रूप से इस घटना पर चिन्तन ही है।

अगर हम प्रारम्भ से ही प्रेत की तर्क पद्धति पर इतना अधिक जोर देते रहे हैं तो इसलिए क्योंकि यह घटना के ऊपर ऐसी सोच का संकेत दे रही है जो अनिवार्यतः द्विअंगी द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति से आगे निकल जाती है, जो वास्तविकता अथवा यथार्थता (या तो वर्तमान, अनुभवाश्रित, सजीव अथवा नहीं) और आदर्शात्मकता (नियामी अथवा पूर्ण अ—उपस्थिति) को एक दूसरे से अलग अथवा एक दूसरे के विरोध में प्रस्तुत करती है। यथार्थता अथवा वास्तविकता की तर्कणा सीमित उपयोग को प्रतीत होती है। यह सच है कि सीमा नई नहीं है; मार्क्सवाद विरोधी भाववाद के साथ ही ‘द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद’ पर हमेशा अपना छाप छोड़ती रही है।

लेकिन वैज्ञानिक क्षेत्र में और इसलिए तकनी-प्रचार माध्यमों के क्षेत्र में तथा इसीलिए राजनीतिक क्षेत्र में भी छायाभासी, प्रेतीय, 'संश्लेषी', 'अभावपूर्ति करने वाली', आभासी घटनाओं द्वारा यह पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से प्रदर्शित की जाती हुई प्रतीत होती है। यह उसके द्वारा और अधिक स्पष्ट कर दी जाती है जो घटना, घटना के घटनापन के क्षेत्र में कर्म और सम्भावना के विरोध के रूप में अलघुकरणीय छायाभास में गति उत्कीर्ण करता है।

घटना पर चिन्तन की और अधिक विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा के बाद फुकुयामा दो बिल्कुल अलग किस्म के विमर्शों के बीच भ्रमात्मक रूप से झूलते रहते हैं। हालाँकि वे 'महत्वपूर्ण सत्य' के प्रभावी यथार्थकरण में विश्वास तो करते हैं लेकिन फुकुयामा इस उदार लोकतान्त्रिक राज्य के आदर्श की आदर्शत्मकता को उस सारे साक्ष्य के विरोध में रखने में संकोच नहीं करते जो इस तथ्य का भरपूर समर्थन करता है कि न तो संयुक्त राज्य अमरीका और न ही योरोपीय समुदाय सार्वभौमिक राज्य अथवा उदार लोकतन्त्र की पूर्णता को अभी उपलब्ध कर पाए हैं और न ही वे इसके नजदीक आ पाए हैं। और हम उस आर्थिक युद्ध को नजरअन्दाज कैसे कर सकते हैं जो इन दोनों के बीच और योरोपीय समुदाय के भीतर चल रहा है? 'गैट' सन्धि को लेकर चल रहे विवादों को और यह सन्धि जिस सारे कुछ का प्रतिनिधित्व कर रही है (जिसे संरक्षणवाद की पेचीदा रणनीतियाँ रोजाना सामने ला रही हैं) उसको अथवा जापान के साथ आर्थिक युद्ध सम्पन्न देशों और शेष विश्व के बीच व्यापार सम्बन्धों के अन्तर्विरोध, दरिद्रीकरण और 'विदेशी ऋण' की भयावहता की परिघटना, घोषणापत्र द्वारा अभिहित 'अतिउत्पादन की महामारी' के प्रभाव तथा सभ्य कहे जाने वाले समाजों में 'अतिउत्पादन' के चलते पैदा होने वाली 'क्षणिक बर्बरता की स्थिति' (23) इत्यादि, इत्यादि को कैसे नजर अन्दाज किया जा सकता है? इन युद्धों और इन शत्रुताओं की तर्कणा के विश्लेषण के लिए मार्क्सवादी परम्परा (problematics) से जुड़ी कोई समस्या (अथवा प्रश्न) लम्बे समय तक अपरिहार्य बनी रहेगी। लम्बे समय तक के लिए और हमेशा के लिए क्यों नहीं? हम मार्क्सवादी परम्परा की समस्या की बात की रहे हैं, इसके उस प्रारम्भ और अनवरत रूपान्तरण की बात कर रहे हैं जिसे इसका लक्षण होना चाहिए और होना होगा, न कि कट्टर मार्क्सवादी मतवाद की जो रूढ़िवाद के तन्त्र से जुड़ा हुआ है।

एक विमर्श के नीचे दूसरा विमर्श घुसा देने से फुकुयामा को कोई गुरेज़ नहीं है और इसका कारण है : सम्मान की तीव्र आकांक्षा के साथ विषम रूप से जुड़े हुए हिंसा, अन्याय और एकाधिकारवादी संकेतों से वे उपहासास्पद बने बिना आँख नहीं मूँद सके, उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि ये सारी चीज़ें अधूरे उदार लोकतन्त्र वाले पूँजीवादी देशों में बदस्तूर जारी हैं और जिनकी 'पहचान' उन्होंने 'महत्वपूर्ण सत्यों' के रूप में की थी उनको उपर्युक्त तथ्य खंडित करते हैं। वास्तविक "शुभ समाचार" की घोषणा के लिए, इसकी प्रभावी, परिघटनीय, ऐतिहासिक और अनुभवाश्रित रूप से अनुवीक्ष्य घटना के स्थान पर वे आदर्श शुभ समाचार, सोद्देश्यपरक—युगान्तकारी शुभ समाचार की घोषणा करते हैं जो किसी अनुभवाश्रितता के अनुकूल नहीं होता। एक बार इस तरह इसे निरैतिहासिक बनाने के लिए विवश हो जाने के बाद, फुकुयामा इस शुभ समाचार में 'प्रकृति' (यह उन्हीं का शब्द है और पुस्तक की एक प्रमुख अवधारणा भी) की भाषा की पहचान कर लेते हैं और इसकी पहचान उस 'कसौटी' के आधार पर करते हैं जिसे वे 'इतिहास-अतिक्रामी' कहकर विशेषित करते हैं। अनगिनत आपदाओं, उदार लोकतन्त्र की स्थापना में अनेक वास्तविक असफलताओं को देखते हुए फुकुयामा हमें यह याद दिलाते हैं कि वे अपनी बात 'सिद्धान्तों के स्तर' पर कह रहे हैं। वे कहते हैं कि वे उदार लोकतन्त्र

के *आदर्श* को परिभाषित करने तक ही अपने को सीमित रखेंगे। 1989 में प्रकाशित अपने पहले निबन्ध 'इतिहास का अन्त?' को याद करते हुए वे वास्तव में लिखते हैं : "जबकि वर्तमान में कुछ देश स्थिर उदार लोकतन्त्र उपलब्ध करने में असफल हो सकते हैं और कुछ दूसरे देश धर्मतन्त्र और सैन्य तानाशाही जैसे दूसरे, अपेक्षाकृत अधिक आदिम शासन-व्यवस्थाओं की ओर वापस जा सकते हैं, उदार लोकतन्त्र के *आदर्श से बेहतर* कोई व्यवस्था नहीं हो सकती (पृ. . XI) (बलाघात फुकुयामा का) यह सिद्ध करना बहुत ही आसान होगा कि उदार लोकतन्त्र की स्थापना करने में असफलता के आधार पर, यथार्थ और आदर्श के बीच का अन्तराल केवल धर्मतन्त्र और सैनिक तानाशाही जैसी इन तथाकथित आदिम शासन-व्यवस्थाओं में ही नहीं दिखाई पड़ता (यह मान लेने के बाद भी कि सभी प्रकार का धर्मतन्त्र में उदार लोकतन्त्र के आदर्श राज्य के लिए विजातीय होता है अथवा इसी धारणा ही के साथ विषमांगी होता है)। लेकिन यह असफलता और यह अन्तराल कारण-कार्य नयाय और परिभाषित स्तर पर प्राचीनतम और सर्वाधिक स्थिर तथाकथित पश्चिमी लोकतन्त्रों सहित सभी लोकतन्त्रों का लक्षण होता है। यहाँ जो दाँव पर लगा हुआ है वह है एक ऐसी प्रतिश्रुति की अवधारणा के रूप में लोकतन्त्र की अवधारणा जो इसी तरह के अन्तराल (असफलता, अननुकूलता, प्रतिकूलता और 'चूल से खिसके' होने) में ही जन्म ले सकती है। इसी कारण हम हमेशा *आनेवाले* लोकतन्त्र की बात करने की प्रस्तावना की बात करते हैं, न कि भावी वर्तमान में किसी भावी लोकतन्त्र की, काण्टीय अर्थ में किसी नियामनकारी प्रत्यय अथवा कल्पनालोक की कम से कम उस सीमा तक जहाँ उनकी अनुपलब्धता अभी भी किसी *भावी वर्तमान* का, *जीवित वर्तमान* के भावी रूपात्मकता का कोई कालिक रूप बचाए हुए होगी।

(अपने क्लासिकी रूप में नियामक विचार की सीमा के बाहर आने वाले लोकतन्त्र का विचार यदि वह अब भी वही है जो वह है, किसी ऐसे प्रतिज्ञापित निषेधादेश की घटना के रूप में इसका 'विचार', जो किसी को उस चीज को प्रस्तुत करने का आदेश देता है जो एक पूर्ण उपस्थिति के रूप में अपने को कभी भी प्रस्तुत नहीं करेगी, किसी असीमित प्रतिश्रुति (जो हमेशा कम से कम इस कारण तर्कसंगत नहीं होती क्योंकि यह एकांतिकता और दूसरे की एकांतिकता और असीमित विकल्पता के सीमित सम्मान की उतनी ही अपेक्षा रखती है जितना कि अनाम एकान्तिकाओं के बीच गणनीय, अनुमन्य, व्यक्तिनिष्ठ समानता के सम्मान की) तथा इस प्रतिश्रुति से जिसकी तुलना की जाएगी उसके निश्चित, आवश्यक किन्तु अनिवार्यतः अपर्याप्त रूपों के बीच इस अन्तराल का द्वार है। इस सीमा तक लोकतान्त्रिक प्रतिश्रुति की वास्तविकता अथवा यथार्थता, कम्युनिस्ट प्रतिश्रुति की वास्तविकता अथवा यथार्थता की भाँति, इसी के भीतर रहेगी और इसे ऐसा करना ही है, यह पूर्णरूप से अनियमित मसीहाई आशा जो इसके हृदय में है, किसी आने वाली घटना से, किसी एकांतिकता से, किसी अनुमन्य विकल्पता से यह युगांत वैज्ञानिक सम्बन्ध। प्रतीक्षा की क्षितिज के बिना प्रतीक्षा करते हुए, जिसकी अब या कभी भी आशा नहीं की जा सकती उसकी प्रतीक्षा करते हुए, असीमित सत्कार, उस आगंतुक को पूरी तरह चकित कर देने वाला पहले से ही दिया जाने वाला अभिनन्दन जिसके बदले में कुछ भी नहीं माँगा जाएगा और जिससे किसी भी स्वागत करने वाली सत्ता (परिवार, राज्य, राष्ट्र, क्षेत्र, जन्मभूमि अथवा रक्त, भाषा, संस्कृति, यहाँ तक कि मानवता भी) के पारिवारिक संविदा से प्रतिबद्ध होने के लिए कभी नहीं कहा जाएगा, बस वह खुलापन जो सम्पत्ति के अधिकार अथवा सामान्य रूप से सभी प्रकार के अधिकार का त्याग कर देगा, जो आने वाला है उसकी मसीहाई शुरुआत, अर्थात् उस घटना की शुरुआत जिसकी *घटना के रूप में* प्रतीक्षा

नहीं की जा सकती, अथवा जिसे पहले से पहचाना नहीं जा सकता, स्वयं विजातीय के रूप में घटना की शुरुआत, उसकी (स्त्री अथवा पुरुष की) शुरुआत जिसके लिए हमेशा आशा की स्मृति में एक रिक्त स्थान छोड़ना होता है—यही प्रेतीयता का स्थान होता है। यह सिद्ध करना अत्यधिक आसान होगा कि इस तरह का निर्बाध सत्कार, जो वास्तव में घटना की और इस तरह इतिहास की शर्त है (कोई भी चीज, कोई भी व्यक्ति अन्यथा नहीं पहुँचेगा, ऐसी परिकल्पना जिसे कोई भी दरकिनार नहीं कर सकता) स्वयं असम्भावना है और यह कि घटना की *सम्भावना की शर्त*, विषय वस्तु-रहित मसीहवाद-रहित मसीहाई की विचित्र अवधारणा की तरह, इसकी *असम्भावना की भी शर्त* है जो अन्धे व्यक्ति की तरह यहाँ हमारा मार्गदर्शन करती है। लेकिन यह सिद्ध करना भी उतना ही आसान है कि असम्भव के इस अनुभव के बिना न्याय और घटना दोनों से हाथ धोना पड़ सकता है। यह और भी अधिक उचित अथवा स्पष्ट होगा। हमें अपनी बची-खुची मन की शुचिता से भी हाथ धोना पड़ सकता है। हम आर्थिक गुणा-भाग को भी स्वीकार कर सकते हैं और उन सभी अवरोध बिन्दुओं की घोषणा कर सकते हैं जो नैतिकता, सत्कार अथवा अनेक प्रकार की मसीहाई प्रतिश्रुतियाँ *आगंतुक* की जाँच-पड़ताल के लिए घटना की सीमाओं पर स्थापित करती हैं।)

हम फिर फुकुयामा की ओर लौटें। उनकी तर्कणा में निर्विवाद की अपेक्षा अधिक मौलिक है यह तथ्य है यह आदर्श को किसी असीमित नियामी आदर्श और अन्तहीन कार्यभार के स्तम्भ के रूप में नहीं प्रस्तुत किया जाता यद्यपि प्रायः (और यह एक अतिरिक्त असंगति है) वे यह घोषणा करते हैं कि “उदारवाद के प्रति वर्तमान यह झुकाव”, “पीछे हटने की प्रवृत्ति के बावजूद”, “एक लम्बे दौर में विजयी होने का *आश्वासन देता है*” (पृ. 212)। फुकुयामा इस आदर्श को एक घटना भी मानते हैं। क्योंकि यह *पहले ही घट चुकी होती*, क्योंकि आदर्श ने अपने को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया होता, इस घटना में पहले ही सीमित इतिहास के अन्त का संकेत दे दिया होता। यह आदर्श एक ही समय *असीमित और सीमित* होता है : *असीमित* इसलिए क्योंकि यह किसी निर्धारित अनुभवाश्रित यथार्थ से भिन्न होता है अथवा ‘एक लम्बे दौर में’ एक प्रकार की प्रवृत्ति बना रहता है, फिर भी यह *सीमित* होता है क्योंकि आदर्श के रूप में यह पहले ही घटित हो चुका है और इस तरह इतिहास समाप्त हो गया है। इसलिए फुकुयामा की पुस्तक अपने को हीगलीय और मार्क्सिय के रूप में परिभाषित करती है। इतिहास के अन्त के इस दो प्रतिभाओं के अनुशासन में एक अभ्यास के रूप में। इन दोनों प्रतिभाओं को साक्षी के रूप में प्रस्तुत करने और उनकी अभिपुष्टि को अपने तरीके से सुनने के पश्चात् (और यह सब कुछ बहुत जल्दीबाजी में किया गया लगता है) फुकुयामा ने अपनी रुचि स्पष्ट कर दी है। वे लिखते हैं—

हीगल और मार्क्स दोनों का विश्वास था कि मानव समाजों का विकास अनन्त नहीं था और यह उस समय रुक जाएगा जब मानवता ऐसा समाज उपलब्ध कर लेगी जो इसकी गहनतम और सर्वाधिक बुनियादी इच्छाओं को सन्तुष्ट कर देगा। दोनों चिन्तकों ने इस तरह ‘इतिहास के अन्त’ की अवधारणा प्रस्तुत की। हीगल के लिए यह उदार राज्य था जबकि मार्क्स के लिए यह साम्यवादी समाज था। (पृ. XII)

इस तरह शिष्य ने दो गुरुओं में से अपना चुनाव कर लिया है और उसने उदार राज्य के चिन्तक का वरण किया है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं¹ एक ईसाई परम्परा में, लेकिन एक प्रकृतिवादी परम्परा में भी, चाहे यह तात्विक ईसाइयत के साथ संगत लगता हो अथवा नहीं।

संवेदित होता है अथवा माँग होने पर ही प्रतिक्रियाशील होता है। निस्सन्देह इसकी सफलता का श्रेय इस सुखदायी भ्रम और 'शुभ समाचार' की अवसरवादी तर्कणा को ही है।

इस सब के बावजूद, ऐसा लगता है कि इस पुस्तक की नियति के लिए फुकुयामा को दोष देना न तो न्यायसंगत होगा और न ही रुचिकर। ज्यादा अच्छा होगा यह सवाल पूछना कि 'शुभ समाचार' देने वाली यह पुस्तक क्यों एक प्रकार का मीडिया प्रॉडक्ट बन गई है और इस चिन्ताग्रस्त पश्चिम के विचारधारात्मक सुपर मार्केट में क्यों यह इतनी अधिक चर्चित हो गई है जहाँ इसे उसी तरह खरीदा जा रहा है जैसे किसी युद्ध के आरम्भ होने की खबर मिलते ही लोग राशन-पानी इकट्ठा करने लगते हैं।³ मीडिया द्वारा इसका इतना प्रचार-प्रसार क्यों? ऐसा क्यों है कि इस तरह का कोई विमर्श उन लोगों द्वारा तलाशा जा रहा है जो उदार पूँजीवाद की विजय और उदार लोकतन्त्र के साथ इसके पूर्वनिर्धारित गठजोड़ का उत्सव केवल इस तथ्य को छिपाने के लिए और प्रथमतः अपने से छिपाने के लिए मना रहे हैं कि यह विजय कभी भी इतनी मरणासन्न, भुरभुरी, भयाक्रान्त और कुछ मामलों में महाविपत्तिकारी, संक्षेप में शोकसंतप्त, नहीं रही है। शोकसंतप्त उसके द्वारा जिसका प्रतिनिधित्व मार्क्स का प्रेत आज भी कर रहा है और जिसे एक बार फिर उत्सवी और विक्षिप्त तरीके से अभिचार द्वारा भगा देने की जरूरत होगी (फ्रायड के अनुसार, किसी असफल शोकाभिव्यक्ति का एक अनिवार्य बिन्दु) लेकिन यह अपने लिए भी शोकसंतप्त है। इन सारी असफलताओं और खतरे की आशंकाओं को स्वयं से छिपाने के लिए लोग उससे भी आँख चुराना चाहते हैं जिसे हम मार्क्सवादी क्रिटीक का सिद्धान्त अथवा व्यंग्योक्ति अलंकार का सहारा लेते हुए, मार्क्सवादी क्रिटीक की आत्मा की सम्भावित शक्ति और वास्तविकता कहते हैं। पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक अपरिहार्य लगने वाली मार्क्सवादी क्रिटीक की इस आत्मा को एक ही समय सत्तामीमांसा, दार्शनिक अथवा तत्वमीमांसीय पद्धति के रूप में मार्क्सवाद से, 'द्वन्द्वत्मक भौक्तिकवाद' के रूप में मार्क्सवाद से, ऐतिहासिक भौक्तिकवाद अथवा प्रणाली के रूप में मार्क्सवाद से और दल, राज्य तथा श्रमिकों के इंटरनेशनल में समावेशिक मार्क्सवाद से अलग करने का लोभ हमें हो सकता है। लेकिन इसको जिसे विखंडन कहा जा सकता है उससे हम वहाँ अलग करेंगे जहाँ विखंडन महज एक क्रिटीक भर नहीं होता है और जहाँ किसी क्रिटीक अथवा प्रश्न से इसके द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्न कभी भी मार्क्सवाद, मार्क्सवादी सत्तामीमांसा अथवा मार्क्सवादी क्रिटीक जैसी किसी चीज से अपने को जोड़ने अथवा समानुपातिक रूप से इनका विरोध करने की स्थिति में कभी नहीं रहे हैं।

अगर फुकुयामा के विमर्श जैसा कोई विमर्श इससे अपेक्षित चैनल—अवरोधी और शोकसंतप्त अस्वीकरण की भूमिका प्रभावशाली ढंग से निभा लेता है तो इसलिए कि कुछ लोगों के लिए चालाकी से और कुछ लोगों के लिए डिठाई से यह हाथ की सफाई का काम करता है—एक हाथ से यह उस अनुभवाश्रित घटना की तर्कपद्धति को मान्यता देता है जिसकी आवश्यकता इसे तब पड़ती है जब अन्ततः इसके सामने तथाकथित मार्क्सवादी राज्यों की अन्तिम पराजय को और साथ ही हरेक उस चीज़ को अन्तिम रूप से प्रमाणित करने की बात आती है जो आर्थिक और राजनैतिक उदारवाद द्वारा 'प्रतिश्रुत भूमि' में प्रवेश को रोकती है; लेकिन दूसरे हाथ से, पराऐतिहासिक और प्राकृतिक आदर्श के नाम पर यह इस तथाकथित अनुभवाश्रित घटना की उसी तर्कपद्धति को बदनाम कर देता है, इसे इस तर्कपद्धति को निलम्बित करना होता है ताकि यह इस आदर्श और इसकी अवधारणा को जो भी निर्ममता से खंडन करने वाला हो, संक्षेप में, पूँजीवादी राज्यों में और उदारवाद में, उस दुनिया में जहाँ ऐसी दूसरी शक्तियों

का दबदबा है जिनका वर्चस्व इस तथाकथित पराऐतिहासिक अथवा प्राकृतिक (अथवा देशीकृत) **वर्चस्व** है अथवा ठीक से काम नहीं कर रहा है उसे इस आदर्श और इसकी अवधारणा के खाते में डालने से बच सके : आज के विश्व में जो कुछ व्यक्तिक्रमित और विशृंखलित हो रहा उसके मुख्य कारणों पर आगे विचार किया जाएगा। जहाँ तक इतिहास और प्रकृति के बीच, ऐतिहासिक अनुभवाश्रितता और सोद्देश्यवादी अतीन्द्रियता के बीच, घटना के तथाकथित अनुभवाश्रित यथार्थ और उदारवादी चरम लक्ष्य की पूर्णतम: प्रत्ययात्मकता के बीच की हाथ की सफाई का सवाल है, इसे केवल एक नई सोच अथवा घटना के एक नए अनुभव और छायाभास के साथ इसके सम्बन्ध की एक और तर्कपद्धति से मिटाया जा सकता है। इस पर हम बाद में बात करेंगे। इस नवीनता की तर्कपद्धति अनिवार्य रूप से सर्वाधिक प्राचीन प्राचीनता के तर्क का विरोधी नहीं है।

लेकिन एक बार फिर हमें पुस्तक के साथ अन्याय नहीं करना चाहिए। यद्यपि ऐसी कृतियाँ आकर्षक बनी रहती हैं तो भी उनकी अपनी असम्बद्धता और कभी-कभी उनका निराशाजनक आदिम स्वरूप किसी ऐसे लाक्षणिक संकेत की भूमिका निभाते हैं जिसे हमें यथासम्भव सिद्ध करना पड़ता है। किसी क्षण की विचारधारात्मक बाजियों की भू-राजनीति पर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए और विश्वव्यापी सांस्कृतिक बाजार के स्तर पर उनका प्रयोग करते हुए ऐसी रचनाएँ हमें उस पेचीदगी की याद दिलाती है जिसकी चर्चा पहले मैं कर चुका हूँ। उन्हें स्पष्ट किया जाना चाहिए। अगर अन्त (इतिहास का अन्त, मनुष्य का अन्त, 'अन्तिम मनुष्य' का 'रूपक', किसी उत्तर-मार्क्सवाद में प्रवेश आदि) की ये सारी विषयवस्तुएँ, 1960 के दशक के प्रारम्भ में ही मेरी पीढ़ी के दार्शनिकों की बुनियादी संस्कृति का अंग बन चुकी थीं, तो हम आज उनके सीधे-सपाट दुराव में नहीं उलझे हुए हैं क्योंकि यह भी सच है कि इस बुनियादी घटना से इस दूसरी घटना को, अभी भी चल रही और अब तक अविश्लेषित घटनाओं की शृंखला को, उन घटनाओं को नहीं निकाला जा सकता जो दशकों बाद सामने आईं और इस लय में आईं और आ रही हैं कि उनको कोई भी पहले, कुछ महीने पहले, आकलित नहीं कर सकता था। (1981 में जब मैं तत्कालीन सत्ताधारियों द्वारा प्राग की जेल में बन्द कर दिया गया था, तब मैंने मासूमियत में बड़े विश्वास से अपने से कहा था: "यह बर्बरता शताब्दियों तक जारी रह सकती है...।") हमें इसी बाद वाली घटना को सोचना है लेकिन जिसे अवधारणा कहा जाता है उसका सर्वाधिक प्रतिरोध इसी से होता है। और इसे तब तक नहीं सोचा जाएगा जब हम यथार्थ वर्तमान की यथार्थ उपस्थिति अथवा जीवित वर्तमान और इसकी प्रतीय प्रतिकृति के बीच, वास्तविक अथवा प्रभावी और अ-वास्तविक अथवा अ-यथार्थ के बीच सपाट (आदर्श, यान्त्रिक अथवा द्वन्द्ववात्मक) विरोध पर विश्वास करते रहेंगे जिसका यह भी मतलब होता है कि जब तक हम उस सामान्य कालिकता अथवा ऐतिहासिक कालिकता पर विश्वास करते रहेंगे जिसका निर्माण स्व-सदृश्य और स्व-समकालिक वर्तमानों की गतानुगतिक शृंखला से होता है।

यह नव-उदारवादी वाग्मिता, जो उत्सवी और चिन्तित, विक्षिप्त और शोकाकुल दोनों होती है तथा जो अपने उत्साह में प्रायः अश्लील होती है, दो क्षणों के बीच अन्तराल में उत्कीर्ण घटनायता को प्रशानकित करने के लिए विवश करती है। ये दोनों क्षण क्रमशः हैं : वह क्षण जब किसी अन्त के रहस्य का आह्वान किया गया था और वह क्षण जब मार्क्स के नाम पर बनाए गए एकाधिकारवादी राज्यों और समाजों का वास्तविक पतन हुआ था। अव्यक्ति का काल, जिसका न तो कोई प्रतिनिधिकरण करने में सफल हुआ और उससे भी कम न ही कोई पहले से जिसका अनुमान लगा पाया, महज कोई कालिक माध्यम नहीं होता। कोई भी वस्तुनिष्ठ

और एकरूपी कालानुक्रम इसे माप नहीं सकता। तमाम तरह के रूपान्तरणों (विशेषकर प्रौद्योगिक, वैज्ञानिक, आर्थिक और प्रचार माध्यमों के रूपान्तरण) का कोई अनुक्रम मार्क्सवादी विमर्श के पारम्परिक प्रदत्तों और इसके विरोध में उपस्थित किए गए उदारवादी विमर्श के प्रदत्तों से आगे निकल जाता है। चाहे उनके विश्लेषण को प्रस्तुत करने के लिए कुछ मूलभूत संसाधन हमें विरासत में मिले हों तो भी पहले यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि ये रूपान्तरण सत्तामीमांसी—धर्मशास्त्रीय वर्गीकरणों अथवा तकनीकों के दर्शनों में क्षोभ पैदा कर देते हैं। वे राजनैतिक दर्शनों और लोकतन्त्र की सामान्य अवधारणाओं को व्यग्र कर देते हैं, राज्य और राष्ट्र, व्यक्ति और नागरिक, निजी और सार्वजनिक के बीच के सम्बन्धों पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य कर देते हैं।

और इसी बिन्दु पर इतिहास की तत्वमीमांसीय अवधारणाओं और इतिहास के अन्त के परे ऐतिहासिकता पर एक दूसरे प्रकार का चिन्तन हमारा ध्यान खींचने लगता है, फिर चाहे इस चिन्तन का स्रोत हीगल हों अथवा मार्क्स। इसी बिन्दु पर किंचित अधिक दृढ़ता के साथ उत्तर-इतिहास और उत्तर-ऐतिहासिक जीवों पर कोयेव के 'पुनश्च' के दो क्षणों को क्रियाशील किया जा सकता है। निश्चित ही कोयेव के कभी विनोदी, कभी भोले उच्छृंखलवाद पर विचार करना आवश्यक है। फुकुयामा इस पर बहुत अधिक ध्यान नहीं देते बावजूद इसके कि कोयेव के कुछ उत्तेजित करने वाले वक्तव्यों की विडम्बनात्मकता पूरी तौर से उनकी आँखों से ओझल नहीं होती। लेकिन उस लम्बी और प्रसिद्ध पादटिप्पणी के अनेक कालानुक्रमिक और तार्किक वक्तव्यों को सभी सम्भव अनुशासन और दृढ़ता के साथ विश्लेषित करना भी अनिवार्य होगा। जैसा कि अपनी टिप्पणी के पुनश्च में वे बताते हैं, कोयेव 1959 में जापान गए। योरोपीय समुदाय के एक महत्वपूर्ण राजकीय अधिकारी के रूप में की गई इस यात्रा से लौटने के पश्चात् कोयेव इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'उत्तर-ऐतिहासिक' जापानी सम्भ्यता एक ऐसे रास्ते पर चल पड़ी है जो 'अमरीकी रास्ते' की पूरी तरह से विरोधी है और इसके लिए वे जापानी समाज के सांस्कृतिक रूपवाद के 'शुद्ध राज्य में दम्भवाद' को जिम्मेवार मानते हैं। फिर भी कोयेव के अनुसार उनके मत में जो बहुत महत्वपूर्ण बात है उस पर कायम रहते हैं और वह बात है अमरीकी उत्तर इतिहास का उनके द्वारा किया गया पहले का रोग—परीक्षण। बात इस इतनी है कि उन्हें अब एक अविश्वसनीय और भद्दी झाँकी अर्थात् 'मार्क्सवादी कम्युनिज़्म के अन्तिम चरण के रूप में' संयुक्त राज्य अमरीका के चित्र में कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा। कोयेव केवल इस विचार पर सवाल उठाते हैं कि यह अमरीकी अन्त अन्तिम का अर्थात् वर्तमान के रूप में, न कि भविष्य के रूप में 'इतिहास के हीगलीय-मार्क्सवादी अन्त' का अन्तिम रूप व्यक्त करता है। अपनी पहली परिकल्पना का संशोधन और विरोध करते हुए कोयेव इस विचार तक पहुँचते हैं कि अमरीकी (अथवा जैसा कि वे अन्यत्र कहते हैं, कैलिफोर्नियायी) 'सुखद अन्त' की अपेक्षा इतिहास का एक और अन्तिम अन्त अभी शेष है। एक ऐसा अन्त जो कहीं अधिक युगान्तविज्ञानी अन्त और आत्यन्तिक जापानी महासंकट (दो ऐसे पूँजीवादियों के बीच स्पर्धा जिनके बीच सम्भावित युद्ध आणुविक विनाश की शुरुआत कर देगा) से भी अधिक संकटकारी अन्त अभी शेष है। कोयेव के अनुसार, युद्धोत्तर अमरीका में कम्युनिज़्म का अन्तिम चरण मनुष्य को पशुता में बदल देगा (और ऐसा इसे करना ही है)। लेकिन कोई और अधिक बनावटी और 'दम्भी' चीज बाकी है, जो इतिहास के अन्त में एक मूल तत्व है और वह है जापान की उत्तर-ऐतिहासिकता। अपनी संस्कृति के 'दम्भवाद' के चलते जापानी उत्तर-ऐतिहासिकता उत्तर-ऐतिहासिक मनुष्य को पाशविकता की आदिम अवस्था में प्रत्यावर्तित होने से बचाने में सफल हो जाएगी। फिर भी,

और इस बात पर जोर दिए जाने की आवश्यकता है, 1959 में अपनी जापान यात्रा के पश्चात्, इस बात को खेद सहित स्वीकार करने के बावजूद कि इतिहास के अन्त के बाद जापान दौड़ में काफी आगे निकल गया है, कोयेव युद्धोत्तर अमरीका में मनुष्य के पशुता की ओर वापस जाने वाली अपनी बात पर सन्देह नहीं करते। यह एक अतिशयोक्तिपूर्ण बात है, इसलिए नहीं कि यह मनुष्य की तुलना पशुओं से करती है अपितु प्रथमतः इसलिए कि लगे हुए काम पर एक निश्चिन्त और दम्भी अज्ञान को यह सन्देहयुक्त प्रभावों की सेवा में लगा देता है, उस पर पर्दा डाल देता है; और इस बिन्दु पर कोयेव की निर्लज्ज टिठाई की तुलना उन लोगों में जादुई अभिचार से करना उचित होगा जो, फुकुयामा की तरह, “मानवीय राजसत्ता के अन्त-बिन्दु के रूप में पश्चिमी उदार लोकतन्त्र के सार्वभौमीकरण” और ‘वर्ग समस्या’ के ‘सफल समाधान’ में सक्षम पूँजीवाद की विजय का उत्सव मना रहे हैं (जहाँ तक कोयेव की बात है तो वे इस उत्सव में शरीक नहीं हैं)।¹ क्यों और कैसे कोयेव यह सोचने में समर्थ हो गए कि अमरीका पहले ही ‘मार्क्सवादी ‘कम्युनिज़्म’ के ‘अन्तिम चरण’ में पहुँच चुका है? उन्होंने वहाँ क्या देखा था, क्या देखना चाहते थे? उत्तर : प्रत्येक उस चीज का भरपूर विनियोजन जो आवश्यकता अथवा आकांक्षा के काम आ सकती है, आकांक्षा और आवश्यकता के बीच अंतराल की निरस्त किसी विशेष कार्य में अतिरेक, किसी प्रतिकूलता को निलम्बित कर देती है। इससे बिल्कुल ही आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि प्रतिकूलता (‘चूल से खिसके’ होने) का यह अन्त ‘शाश्वत वर्तमान का पूर्व-संकेत है।’ लेकिन इस पूर्व-संकेत और स्वयं अपनी ही उपस्थिति के सामने जिसका यह प्रतिनिधित्व करता है उसके बीच अन्तराल का क्या किया जाए?

व्यवहारतः (यह ‘व्यवहारतः’ इस आडम्बरी निर्णय का भद्दा हस्ताक्षर है) एक ‘वर्गहीन समाज’ के सभी सदस्य अब (1946 में) वहाँ जिस भी चीज को चाहें उसे, उसके लिए अपनी इच्छा से अधिक काम किए बिना, विनियोजित कर सकते हैं।

(1948 और 1958 के बीच) संयुक्त राज्य अमरीका और संयुक्त समाजवादी सोवियत गणराज्य की अनेक तुलनात्मक यात्राओं ने मेरे ऊपर यह छाप डाली है कि अगर अमरीकी उन चीनी-सोवियतों जैसे लगते हैं जो सम्पन्न हो गए हैं तो इसलिए क्योंकि रूसी और चीनी अभी भी दरिद्र अमरीकी लगते हैं, जो समृद्धि के मार्ग पर तेजी से बढ़ रहे हैं। मुझे यह निष्कर्ष निकालना पड़ा कि *अमरीकी जीवन शैली* (मूल पाठ में यह अंग्रेजी में ही है) उत्तर-इतिहास काल की उचित जीवन-शैली थी और यह कि आज विश्व में अमरीका की उपस्थिति सारी मानवता के भावी ‘शाश्वत वर्तमान’ का पूर्व-संकेत है। इस तरह पशुता की ओर मनुष्य की वापसी अभी भी आने वाली सम्भावना अब नहीं लगती अपितु पहले से ही यह वर्तमान निश्चितता है।

अपनी हाल की (1959 में) जापान यात्रा के पश्चात् मैंने इस बिन्दु पर अपना मत लगभग पूरी तरह बदल दिया।

अब कौन यह कह सकता है कि (हीगल की पुस्तक) *द फिनाँमेनॉलॉजी ऑफ़ स्ट्रिट* का कोयेव का यह नव-मार्क्सवादी और परा-हाइडगरवादी पाठ आकर्षक नहीं है? द्वितीय विश्व युद्ध के ठीक पहले और तत्काल बाद के फ्रेंच बुद्धिजीवियों की एक पीढ़ी-विशेष पर कई दृष्टियों में इसका निर्णायक प्रभाव पड़ा था। इस सन्दर्भ में चीजें इतनी आसान नहीं जितना कि लोग मानते हैं लेकिन हमारा मुद्दा यह नहीं है। दूसरी ओर कोई, अगर कोई गम्भीरता से उस चीज का अध्ययन करना चाहता है जो किसी तरह पूरी गम्भीर नहीं है, अर्थात् मानव के उत्तर-इतिहास के रूप में उत्तर-मार्क्सवाद पर कोयेव की टिप्पणी और पुनश्च, तो उसे कम से कम कुछ बिन्दुओं को रेखांकित अवश्य करना पड़ेगा। सबसे पहले, इस टिप्पणी का अन्तिम लेकिन सबसे अधिक

उलझा हुआ वाक्य जिसे हम उद्धृत करने जा रहे हैं, एक प्रकार का आदेशात्मक वाक्य बना हुआ है। किसी ने कभी इसको पढ़ा है? इस 'पुनश्च' की शायद यह सबसे अधिक आकर्षक शुरुआत है। यह उत्तर-ऐतिहासिक मनुष्य के भविष्य के लिए किसी कार्यभार अथवा किसी कर्तव्य को परिभाषित करता है और वह भविष्य उस समय का संकेत करता है जब, कोयेव के शब्दों में, रूस सहित पश्चिम का 'जापानीकरण' हो जाएगा। कोयेव लिखते हैं, 'उत्तर-ऐतिहासिक मनुष्य...' (यहाँ कोयेव फ्रेंच भाषा का एक ऐसा क्रियापद ('doit') का इस्तेमाल करते हैं जो आदेश अथवा औचित्य ध्वनित करती है) को करना है। क्या इस क्रिया को 'अवश्व करणीय' अथवा 'करणीय' के रूप में अनूदित किया जाए? इस क्रिया का स्वरूप अथवा उसकी विषयवस्तु को लेकर स्थिति जो भी हो, इस आदेशात्मकता की जो भी भविष्य के लिए 'यह जरूरी है'। अपने अर्थ में यह कितना ही अनिश्चित क्यों न हो, चाहे 'यह जरूरी है (कि आगे) कोई भविष्य रहे' की ही बात हो, कोई न कोई इतिहास, कोई न कोई भविष्य रहेगा ही, शायद उत्तर-ऐतिहासिक मनुष्य की ऐतिहासिकता की शुरुआत, अब तक मनुष्य और इतिहास को जिस रूप में जाना जाता रहा है उसके पार की ऐतिहासिकता की शुरुआत ही हो। हमें इस निश्चित बिन्दु पर दृढ़ता से आग्रह करना ही है क्योंकि इससे निश्चितता के अभाव, एक ऐसी अनिश्चितता का संकेत मिलता है जो अन्ततः भविष्य का चरम लक्षण है : फिर इस अनिवार्यता, इस कर्तव्य, इस आदेश अथवा इस निषेधादेश, इस प्रतिज्ञा, इस कार्यभार, इस प्रतिश्रुति, इस आवश्यक प्रतिश्रुति का स्वरूप अथवा उसकी विषयवस्तु के बारे में स्थिति जो भी हो, इस 'यह आवश्यक है' की आवश्यकता बनी रहेगी और यही विधान है। विषयवस्तु के प्रति यह उदासीनता कोई उदासीनता नहीं है, यह उदासीनता का कोई दृष्टिकोण नहीं है बल्कि इस सबका विलोम है। घटना के प्रति और भविष्य के प्रति किसी रास्ते को चिन्हित करते हुए, यह किसी भी चीज में रुचि, न कि उसके प्रति सामान्य रूप से सभी विषयवस्तु के प्रति उदासीनता, को अनुकूलित करता है। इसके बिना न तो कोई अभिप्राय होगा, न ही आवश्यकता और आकांक्षा, आदि। इस एकवाची उदासीनता की अवधारणा हमारे पाठ द्वारा कोयेव के पाठ पर प्रक्षेपित नहीं होती। कोयेव इसकी चर्चा करते हैं। कोयेव के अनुसार यह एक ऐसे भविष्य का लक्षण है जो जिसे अब तक इतिहास कहा जाता रहा है उसे आगे तक ले जाएगी। ऊपर से 'रूपवादी' लगने वाली विषयवस्तु के प्रति इस उदासीनता का शायद मूल्य है किसी के लिए अनिवार्यतः शुद्ध और शुद्ध रूप से अनिवार्य भविष्य के रूप में भविष्य को चिन्तन के लिए प्रस्तुत करना, इसके अनिवार्यतः प्रतिश्रुत, निर्धारित, नियत, आदेशित, इसकी सम्भावना की अनिवार्यतः औपचारिक अनिवार्यता में, संक्षेप में, इसके विधान में। यही वह विधान है जो किसी भी वर्तमान को उसकी स्व-समकालीनता से बाहर फेंक देता है। चाहे प्रतिश्रुति इसकी या उसकी प्रतिश्रुति करती है या नहीं, कभी यह पूरी की जाती है या नहीं अथवा यह पूरी किए जाने लायक है या नहीं, इन सबके बावजूद कोई न कोई प्रतिश्रुति होती अवश्य है और इसलिए आने वाले भविष्य के रूप में ऐतिहासिक भी होती है। इसी को हमने मसीहाई तत्व में रहित मसीहवाद का उपनाम दे रहे हैं। समयाभाव के कारण, हम इस वाक्य को पढ़ भर लें जिस पर किसी अन्य प्रसंग में और कसी अन्य लय में और अधिक गम्भीर ध्यान की अपेक्षा होती है—

जिसका मतलब हुआ कि जिस समय समुचित रूप से वह आगे उसे सब कुछ जो दिया गया है उसकी बात करता है, उत्तर-ऐतिहासिक मनुष्य के लिए 'रूपों' को उनकी 'विषय-वस्तुओं' से अवश्य ही अलग करते रहना चाहिए (कोयेव 'अलग करते रहना' को रेखांकित करते हैं; 'अवश्य' के लिए उन्होंने फ्रेंच शब्द 'doit' का प्रयोग किया जो निश्चित रूप से 'आवश्यक'

के दो रूपों की सम्भावना की उभयनिष्ठ स्थिति की ओर वापस ले जाती है और ये दो रूप हैं 'चाहिए' और 'अवश्य करणीय') लेकिन 'विषयवस्तु' को सक्रियता से रूपान्तरित करने के लिए नहीं अपितु एक शुद्ध 'रूप' के रूप में अपने, (बलाघात कोयेव का) अपने और 'विषयवस्तु' के किसी प्रकार के रूप दूसरों के विरुद्ध रखने के लिए (पृ. 437)।

क्या कोयेव की इन पंक्तियों का किसी अन्य रूप में पुनर्पाठ किया जा सकता है? क्या इसे उस रूक्ष छलयोजना से मुक्त किया जा सकता है जिसमें इसे फुकुयामा ने उतना नहीं घसीटा है (फुकुयामा जैसे भी इस तरह के गूढ़ निष्कर्षों से आकृष्ट नहीं होते) जितना उन लोगों ने घसीटा है जो फुकुयामा का इस्तेमाल करते हैं। किसी अभिनेता की युक्ति को ध्यान में रखते हुए (और कोयेव इसकी अपेक्षा करते हैं) और इसलिए थोड़ा अधिक दार्शनिक, राजनैतिक अथवा 'विचारधारात्मक' दृष्टि से पढ़े जाने पर ये पंक्तियाँ प्रतिरोध करती हैं। यह सम्भवतः उनके शब्द भी जीवित बची रह जाती हैं जो इसका अनुवाद करने में और इसे दार्शनिक प्रचार के हथियार के रूप में प्रदर्शित करने में समय नष्ट नहीं करते। उद्धृत प्रमेय की 'तर्कपद्धति' शायद किसी विधान, विधान के समतुल्य हो। यह विधान हमें निम्नलिखित संकेत देगा : उसी स्थान में, उसी सीमा पर, जहाँ इतिहास समाप्त होता है, जहाँ इतिहास की कोई नियमित अवधारणा अपने अन्त पर पहुँचती है, ठीक वहीं इतिहास की ऐतिहासिकता शुरू होती है, वहीं इसे अपने को घोषित करने का, अपने को प्रतिश्रुत करने का अवसर होता है। वहाँ जहाँ मनुष्य, मनुष्य की किसी नियत-निर्धारित अवधारणा का अन्त होता है वहाँ मनुष्य की, दूसरे मनुष्य की, दूसरे के रूप में मनुष्य की मानवता का प्रारम्भ होता है। ऊपर से अमानवीय अथवा मानव-निरपेक्ष विधि में। अगर ये प्रमेय अभी भी आलोची अथवा विखंडनात्मक सवालों की अपेक्षा करते हैं तो भी इतिहास के अन्त के रूप में पूँजीवादी स्वर्ग के प्रचलित पाठ में उन्हें लघुकृत नहीं किया जा सकता।

(यहाँ बहुत संक्षेप में उस एक खास विखंडनात्मक प्रक्रिया का, कम से कम उस प्रक्रिया का स्मरण करना चाहूँगा, जिसको समझने की चेष्टा करने की बात मैंने सोची थी, जिसमें प्रारम्भ से ही इतिहास की सत्तामीमांसीय-धर्मशास्त्रीय ही नहीं अपितु, पुरातात्विकीय—सोद्देश्यवादी अवधारणा भी—हीगल में, मार्क्स में और हाइडगर की युगान्तकारी सोच में भी शामिल थी। इतिहास के किसी अन्त अथवा किसी निरैतिहासिकता के विरोध में इसे रखने के उद्देश्य से नहीं अपितु, इसके विपरीत, यह सिद्ध करने के उद्देश्य से कि यह सत्तामीमांसी-धर्मशास्त्रीय-पुरातात्विक-सोद्देश्यवाद अन्ततः ऐतिहासिकता को अवरुद्ध, तटस्थीकृत और निरस्त कर देता है। इस तरह यह किसी अन्य प्रकार की ऐतिहासिकता की बात सोचने जैसा था—कोई नया इतिहास नहीं, उससे भी कम कोई 'नव इतिहासवाद' नहीं, बल्कि ऐतिहासिकता के रूप में किसी घटना की घटनीयता को खोलना जो किसी को मसीहावाद और प्रतिश्रुति के रूप में मुक्तकारी प्रतिश्रुति का परित्याग करने की इजाजत देने की बजाय उनके प्रति एक सकारात्मक सोच तक पहुँचने का रास्ता सुलभ कराता हो: प्रतिश्रुति के रूप में, न कि किसी सत्तामीमांसीय-धर्मशास्त्रीय अथवा सोद्देश्यवादी-युगान्तकारी कार्यक्रम अथवा अभिप्राय के रूप में। यही नहीं कि किसी को भी मुक्तकारी आकांक्षा को त्यागना नहीं चाहिए, अपितु पहले की अपेक्षा इस पर और अधिक आग्रह करना और 'यह आवश्यक है' कि अनश्वरता पर आग्रह करना जरूरी है। यह शर्त है एक पुनर्जातीयकरण की, शायद राजनीति की एक नई अवधारणा की।

लेकिन किसी खास बिन्दु पर प्रतिश्रुति और निर्णय अर्थात् उत्तरदायित्व अपनी सम्भावना के लिए अनिर्णयात्मकता की यन्त्रणा के ऋणी होते हैं और उनकी ऐसी ही स्थिति बनी रहेगी।

और वे सारी गम्भीर बाजियाँ जिन्हें हमने अभी थोड़े से शब्दों में व्यक्त किया है इस सवाल पर टिक जाएँगी कि मार्क्स के साथ और मार्क्स के बाद उस वास्तविकता, प्रभाव, संचालनता, कर्म, श्रम, सजीव कर्म से कोई ऐसा क्या समझता है। जो उस प्रेतीय तर्क के विरुद्ध है जो छायाभास, प्रतिकृति, 'शोकाभिव्यक्ति' का कार्य, प्रेत, मृतात्मा, आदि के प्रभावों को भी शासित करता है और उस न्याय के प्रभाव के बारे में कोई क्या समझता है जो उनका प्राप्य है। दूसरे शब्दों में, प्रतिच्छाया (ट्रेस) पुनरावृत्ति (इंटरबिलिटी), कृत्रिमअंगी संश्लेषण, पूरकता आदि की विखंडनवादी सोच इस विरोधात्मकता के पार, इसके द्वारा कल्पित सत्तामीमांसा के पार चली जाती है। दूसरे के प्रति सन्दर्भ की सम्भावना और इस तरह क्रान्तिकारी दूसरेपन और विषमांगता, भेद/स्थगन, तकनीयता, उपस्थिति की घटना में ही, उस वर्तमान की उपस्थिति में प्रत्ययात्मकता की सम्भावना जिसे यह इसलिए पहले से ही विखंडित किए रहती है ताकि इसे सम्भव (और इस तरह अपने प्रति इसकी पहचान और इसकी समकालीनता में असम्भव) बनाने के लिए यह पहले ही चूल से हटा देता है, उत्कीर्ण करते हुए यह अपने को उन साधनों से वंचित नहीं करता जिनके द्वारा प्रेतों के प्रभावों के, प्रतिकृति के, 'संश्लेषी बिम्बों' के और मार्क्सवादी संकेतों के अनुसार, विचारधाराओं के प्रभावों को ध्यान में रखता है, फिर चाहे ये आधुनिक प्रौद्योगिकी द्वारा प्रदत्त नए रूपों को ही क्यों न अपना ले। यही कारण है कि इस तरह का विखंडन कभी भी वैसे ही मार्क्सवाद नहीं रहा है, जैसे यह गैर-मार्क्सवादी नहीं रहा है हालाँकि यह मार्क्सवादी की एक विशेष आत्मा के अथवा कम से कम तमाम आत्माओं में से एक के प्रति वफादार रहा है, क्योंकि इसे हमेशा दुहराया नहीं जा सकता, वे एक से अधिक हैं और विषमांगी हैं।

टिप्पणियाँ

1. गाँधी जी।
1. जर्मन कवि जो गेटे के मित्र भी थे।
2. बेन्यामिन अपने एक पाठ के प्रारम्भ में एक आटोमेटन (स्वचलित यन्त्र) का उल्लेख किया है। यह आटोमेटन इस तरह बनाया गया है कि यह शतरंज का कोई भी खेल खेल सकता है और अपने विरोधी की हर चाल का जवाब दे सकता है। यह एक ऐसी मेज पर बैठता है जिसे दर्पणों की एक व्यवस्था द्वारा पारदर्शी बना दिया गया है। [अंग्रेजी में मेज के लिए टेबल (Table) शब्द का इस्तेमाल किया जाता है जिसका मतलब कोई सारिणी अथवा अंक तालिका भी होता है।] यह आटोमेटन किसी दार्शनिक 'प्रतिपक्ष' की तलाश करता है जो 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' नाम से जानी जाने वाली एक कठपुतली" है। "अगर यह धर्मशास्त्र को अपने पक्ष में कर ले, जो अब बहुत बूढ़ा हो गया है और जिसे छिप कर रहना पड़ता है, तो यह आटोमेटन किसी भी प्रतिपक्ष का सामना कर सकता है।" अगले पैराग्राफ में मसीहावाद, अथवा ठीक से कहा जाए मसीहावाद के बिना मसीहाई, किसी 'कमजोर मसीहाई ताकत' का उल्लेख होता है। यहाँ हम उस गद्यांश को उद्धृत कर सकते हैं यह देखने के लिए कि तमाम अन्तर्गत के बावजूद, किसी विषमांगी और बेचूल समय में, उत्तराधिकार और पीढ़ियों की उस प्रेतीय तर्कपद्धति में जो भविष्य की ओर उतनी ही उन्मुख है जितनी की अतीत की ओर किसी मसीहाई बंचना के विषय में हम जो कहने की कोशिश कर रहे हैं उससे कितना मिलता-जुलता है। जिसे बेन्यामिन दावा, अनुरोध, प्रश्न, सम्बोधन कहते हैं वह जिसे हम निषेधदेश शब्द से संकेतित करना चाहते हैं उससे बहुत दूर नहीं है: "अतीत अपने साथ एक गुप्त अनुक्रमणिका लिए रहता है जिसके द्वारा यह उद्धार, मुक्ति को संदर्भित होता है...। बीती हुई और वर्तमान पीढ़ियों के बीच एक गुप्त सहमति होती है। पृथ्वी पर हमारा आना प्रतिक्षित था। अपनी प्रत्येक पूर्ववर्ती पीढ़ी की तरह, हम एक कमजोर मसीहाई शक्ति से युक्त हैं, एक ऐसी शक्ति जिस पर अतीत का दावा है। उस दावे का आसानी से निस्तारण नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक भौतिकवादी इसे जानते हैं।" इल्यूमिनेशन्स (फ्रैंकफर्ट, 1955), पृ. 183-84; 'थीसिज़ ऑन द फिलॉसफी ऑफ हिस्टरी',

- इल्यूमिनेशन्स (न्यूयॉर्क, 1969), पृ. 253-54) यहाँ हम इन सभी अंशों को उद्धृत और पुनः पढ़ना चाहिए जो अत्यन्त गहन, गूढ़ और ज्वलन्त हैं और उस 'चैली' (चिप्पी, अथवा टुकड़े) के सन्दर्भ तक पहुँचना चाहिए जिसे मसीहाई मसीहा के वर्तमान की देह में मसीहा के आगमन के लिए 'तंग द्वार' तक उत्कीर्ण कर देता है। क्योंकि "इसका मतलब यह नहीं होता कि यहूदियों के लिए भविष्य एकरूपी, छूटे समय में बदल गया" (पृ 264)।
3. फुकुयामा की पुस्तक 'दि एण्ड ऑफ हिस्ट्री एण्ड द लास्ट मैन' 1992 में फ्रीप्रेस, न्यूयॉर्क से प्रकाशित हुई और उसी वर्ष उसका फ्रेंच अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। पृष्ठ सं. 1992 के संस्करण पर आधारित है। (अनु.)
 4. Revenant फ्रेंच भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है जो आता है अथवा जो आनेवाला है। दरीदा ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अपनी पुस्तक अपोरियाज़ (स्टैनफोर्ड प्रेस, 1993) में भी लिया है। (अनु.)
 5. वही, पृ. 203।
 6. वही, पृ. 139 जब 'लोकतन्त्र के सामने चुनौतियों के अनुभवाश्रित साक्ष्य' का होता है तब 'अनुभवाश्रित' शब्द से उद्धरण चिन्ह हट जाते हैं।
 7. यहाँ सन्दर्भ इस तथ्य की ओर है कि यही नहीं कि फुकुयामा की पुस्तक का फ्रेंच में (और अन्य भाषों में भी) अनुवाद उसी वर्ष प्रकाशित हुआ, जिस वर्ष मूल पुस्तक प्रकाशित हुई अपितु इसे टेलीविजन सहित फ्रेंच मीडिया में बड़-चढ़ कर प्रचारित-प्रसारित भी किया गया।
 8. कई अर्थों में महत्वपूर्ण पुस्तक है इतिवेनिबलिबा की 'द फिलॉसफी ऑफ मार्क्स' (फ्रेंच संस्करण, पेरिस, 1993) जो तब प्रकाशित हुई जब मैं अपनी पुस्तक लिख चुका था। लेखक ने इस बात की ओर ध्यान खींचा है कि 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' नामक सूत्र को अक्षरशः न मार्क्स ने और न ही एंगेल्स ने इस्तेमाल किया है (पृ. 4)। अन्य अनेक बहुमूल्य अवदानों के अतिरिक्त पुस्तक मार्क्सवाद के एक पूरे इतिहास (मुख्यतयः पिछले कुछ दशकों के दौरान फ्रेंच मार्क्सवाद के इतिहास) की बहुत गहरी व्याख्या करती है और उस इतिहास को स्थानच्युत करती है। मैं क्रम से कुछ ऐसे बिन्दुओं का जिक्र करूँगा जो प्रस्तुत सन्दर्भ में बहुत महत्वपूर्ण हैं : मार्क्स में 'निषेधादेशों' (यह शब्द पुस्तक में बहुतायत से प्रयुक्त हुआ है) के प्रतीक पर विचार करने की आवश्यकता; 2. बाजार मूल्यों की दुनिया में रूप में 'मन्त्रमुग्ध' दुनिया की विषयवस्तु जो 'अनैट्रिक ऐन्ट्रीक' के चारों ओर फैली हुई है; 3. मसीहाई अथवा अ-मसीहाई आसन्नता का प्रवर्ग, मुख्य रूप से 'संतरण' का प्रवर्ग, एक ऐसा प्रवर्ग जिसे 'ऐतिहासिक समय की अपने प्रति अ-समकालीनता के एक राजनैतिक संकेत के स्वरूप के रूप में 'मार्क्स' ने देखा था" लेकिन जो मार्क्स के द्वारा अस्थायी (प्राविजनल) में उत्कीर्ण बना रहता है। वास्तव में चलते-चलते किसी विचार-विमर्श की न तो शुरुआत की जा सकती है और न ही सहमति व्यक्त की जा सकती है। ऐसा करना शुरू करने के लिए मैं मार्क्स के दर्शन अथवा सत्ता मीमांसा के बारे में जो कहने की कोशिश कर रहा हूँ उसे बलिबा जो अपनी पुस्तक में प्रस्तुत कर रहे हैं उसके साथ पुनर्व्यवस्थित करना पड़ेगा : "मार्क्सवादी दर्शन न तो है और न कभी होगा" (पृ. 3) लेकिन यह किसी को भी 'मार्क्स के दर्शनी' (पृ. 7) की तलाश करने से रोक नहीं सकता। यहाँ जिसे मैं मार्क्स का दर्शन अथवा सत्ता मीमांसा कह रहा हूँ वह बलिबा द्वारा विश्लेषित उक्तियों से जुड़ा है और न ही उस स्तर का है...। विमर्श के नियमों के अनुसार ऐसा करना अत्यधिक विस्तार की अपेक्षा करता है। लेकिन मुझे उम्मीद है कि प्रस्तुत लेख के सन्दर्भ में इस तरह का विमर्श पठनीय होगा।
 9. मिशेल सूर्या द्वारा लिगनीज़, 18, 1993, पृ. 21 और 29 पर उद्धृत।
 10. अलेक्साद्रे कोयेव, इन्ट्रोडक्शन टू द रीडिंग ऑफ हीगल (फ्रेंच संस्करण, पेरिस, 1947), पृ. 436-371

भारत में भाषायी अस्मिता का आरम्भ और विकास

बसंत त्रिपाठी

भारत में भाषायी आधार पर अस्मिता एवं आत्मगौरव की दावेदारी का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश का विकास तथा मध्यकाल में आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म नए जन-समुदायों के उदय तथा सत्ता के प्रबलीकरण के खिलाफ जन-असन्तोषों के उभार के कारण सम्भव हुआ। इसलिए यथास्थितिवादी ढाँचे को चुनौती देने वाले जिस भी धर्म-पन्थ अथवा सम्प्रदाय का विकास हुआ उसने शासन की स्वीकृत भाषा की बजाय जन-भाषाओं का प्रयोग किया। भक्तिकालीन साहित्य में लोक भाषाओं की प्रतिष्ठा का एक मुख्य कारण शक्ति-तन्त्र में असन्तुलन एवं नए शक्ति-तन्त्रों का विकास भी है। लेकिन ये समस्त भाषायी आन्दोलन धार्मिक और सम्प्रदायवादी आधार पर खड़े थे। आधुनिक राष्ट्र की उत्पत्ति के अभाव में इन भाषायी आन्दोलनों ने अपनी पहचान को केवल एक पन्थ के आरम्भ और विकास की भूमिका में खपा दिया।

भारत में आधुनिक अर्थों में भाषायी अस्मिता का आरम्भ बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही हुआ। पहले कम्पनी राज के अधीन होने और बाद में ब्रिटेन का उपनिवेश बनने के बाद भारत में व्यापक पैमाने पर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए। अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा में रचा-बसा प्रभु वर्ग एक ओर यदि अंग्रेजी को साम्राज्य के प्रति निष्ठा, देश-विदेश के ज्ञान और रोजगार प्राप्ति के साधन के रूप में देख रहा था तो दूसरी ओर वह इसे सामाजिक और सांस्कृतिक अस्मिता के विरुद्ध एक खतरे में रूप में भी समझ रहा था। अंग्रेजी को नए ज्ञान-विज्ञान का माध्यम मानने के बावजूद भारतीय चिन्तकों एवं राजनीतिज्ञों ने भारतीयता को सर्वप्रथम भाषायी आधार पर ही परिभाषित किया। भाषायी अस्मिता की इस शुरुआत ने ही कालान्तर में स्वराज्य की संकल्पना को जन्म दिया। स्वराज्य का 'स्वभाषा' या 'राष्ट्रभाषा' से सम्बन्ध कितना गहरा है, यह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम एवं बीसवीं

सम्पर्क : 62, वैभव नगर, दिवोरी, उमरेड रोड, नागपुर-440034 (महाराष्ट्र), मो. 09850313062

शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भाषा और शिक्षा सम्बन्धी चिन्तनों में देखा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में आधुनिक राष्ट्रवाद गर्भावस्था में था और किसी ने भी आधुनिक अर्थों में 'स्वराज्य' की कल्पना नहीं की थी। यद्यपि भाषा और राज्य के अन्तर्संबन्धों को परिभाषित करती हुई रूसो की संकल्पना अस्तित्व में आ चुकी थी। रूसो ने 'एसेज़ ऑन ओरीजिन ऑफ लैंग्वेजेस' में लिखा—“भाषा को राज्य की उत्पत्ति के पूर्व विकसित होना चाहिए। भाषा ही एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से अलग करती है।”¹ रूसो की यह मान्यता जहाँ एक ओर 'एक राजभाषा' का प्रस्ताव करती है वहीं दूसरी ओर भाषा को राज्य के मुख्य विभेदक तत्व का आधार मानती है।

भारत के भाषा और राज्य के सम्बन्ध की संकल्पना रूसो के माध्यम से ही अस्तित्व में आई, यह कहना तो गलत होगा लेकिन इतना ज़रूर है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों ने इस सम्बन्ध को स्थायित्व दिया। भारतीय चिन्तकों एवं राजनीतिज्ञों का यह प्रयास दो स्तरों पर प्रभावी हुआ। एक ओर उन्होंने अंग्रेजी विरोध के साथ-साथ देशी भाषाओं के विकास एवं ब्रिटिश भारत में शिक्षा की माध्यम भाषा में परिवर्तन की माँग की तो दूसरी ओर प्रान्तों को प्रशासनिक सुविधाओं के आधार पर पुनर्गठित करने की माँग की। यह माँग बाद में लोक-प्रिय एवं जन-रुचि आधारित राजनीति का प्रमुख तत्व बन गई।

ब्रिटिश भारत की शिक्षा नीति के प्रति असन्तोष एवं राष्ट्रभाषा की आवश्यकता न केवल भारत में समान्तर चिन्तनधारा के रूप में विकसित हुई बल्कि इनके पारस्परिक सम्बन्ध भी अत्यन्त सुदृढ़ थे। बंगाली नव-जागरण को आधुनिक एवं सांस्कृतिक अर्थ देने वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक निबन्ध 'शिक्षा में हेर-फेर' में लिखा—“अंग्रेजी भाषा के साथ हम ऐसे घनिष्ट आत्मीय भाव से परिचित नहीं हो सकते जिससे साहित्य का स्वाधीन भावोच्छ्वास सहज ही प्रकाशित हो सके। अंग्रेजी भाषा पर चाहे उसका जितना प्रभुत्व हो, कोई भी बंगाली उस भाषा में अपना जीवन्त रूप व्यक्त नहीं कर पाता। जो विशेष माधुर्य, जो विशेष स्मृति-सम्पदा हमें आत्म-प्रकाशन के लिए उत्तेजित करती है, जिन संस्कारों से हमारे मन का विशेष रूप से गठन हुआ है, वे सब विदेशी भाषा में कदापि यथार्थ मुक्तिलाभ नहीं कर सकते।”² ऊपरी तौर पर लगता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर साहित्य के भाषायी माध्यम को व्याख्यायित कर रहे हैं लेकिन असल में यह बंगाल की जातीय अस्मिता को तलाशने का उपक्रम था। अंग्रेजी भाषा ने भारत की जातीय अस्मिता को नष्ट कर दिया है, यह आधुनिक राष्ट्रवादियों का सर्व-स्वीकृत मंतव्य था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उक्त निबन्ध में आगे लिखा—“ 'बंगदेश' के परम दुर्भाग्य से उनकी यह लज्जाशीला, तेजस्विनी, नन्दिनी बंगभाषा ऐसे 'अच्छे लड़कों' का समुचित आदर नहीं करती—और अच्छे लड़के भी नाराज होकर बंगला भाषा के प्रति सम्पर्क नहीं रखते—यहाँ तक कि बंगला में पत्र-व्यवहार तक नहीं करते, मित्रों से मिलने पर यथा सम्भव बंगला में बातचीत नहीं करते, बंगला पुस्तकों को उपेक्षापूर्वक घर में बन्द करके रखते हैं। इसको कहते हैं छोटे पाप का भारी दंड।”³ यहाँ 'छोटे पाप' से तात्पर्य बंगला भाषा की वह अक्षमता है जिसके कारण शिक्षित प्रभु-वर्ग अंग्रेजी भाषा की शरण में जाता था। भाषायी-स्वाभिमान, जातीय-स्वाभिमान या राष्ट्रीय-स्वाभिमान का पहला चरण है। यही नव-जागरणकालीन चिन्तकों का मत था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था—

निज भाषा उन्नति अहे
सब उन्नति को मूल'

शिक्षा और साहित्य के देशीकरण के अलावा आधुनिक राष्ट्रवाद के उभार का मुख्य आधार 'राष्ट्रभाषा' की तलाश भी है जो हिन्दी पर जाकर खत्म होती है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकारे जाने के सम्बन्ध में भ्रम की स्थिति बिल्कुल नहीं थी। बल्कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिए जाने की माँग सर्वप्रथम गैर—हिन्दीभाषी प्रदेशों से ही उठी। मराठी विद्वान वामन पेटे अपने एक निबन्ध 'राष्ट्रभाषा' (1895) में पहली बार हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने की माँग की। उक्त लेख में उन्होंने अंग्रेजी को राष्ट्र की उन्नति में बाधक मानते हुए हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के निम्नलिखित कारण बताए—

1. **फैलाव**—भारत की कुल 28 करोड़ आबादी में से अनुमानतः 10 करोड़ लोगों की जन्म-भाषा है। इस आबादी के 20 करोड़ लोग हिन्दी को सरलता से समझ सकते हैं और शेष 18 करोड़ लोगों के बारे में यह सहसा नहीं कहा जा सकता कि वे हिन्दी नहीं समझ सकते।

2. **सुलभता**—हिन्दी भाषा जैसी सरल एवं सुलभ भाषा भारत में आज दूसरी कोई भी नहीं है। सबसे क्लिष्ट अंग्रेजी और सबसे सरल हिन्दी है।

3. **उत्तमता**—राष्ट्रभाषा का सम्मान पाने योग्य वही भाषा है जो अपर भाषाओं की अपेक्षा प्रौढ़ होती है। भारत की समस्त भाषाओं में हिन्दी, मराठी और तमिल यही भाषाएँ प्रौढ़ हैं।

4. **अन्तिम और परम गुरुतापूरित कारण**—उसका नैसर्गिक झुकाव राष्ट्रभाषा होने का दिखाई पड़ता है। रेल और व्यापार के आदान-प्रदान के कारण कालान्तर में अन्य बोलियाँ और भाषाएँ हिन्दी में मिल जाएँगी।⁵

वामन पेटे का यह प्रदीर्घ लेख भाषायी अस्मिता और राष्ट्र-गौरव के पारस्परिक रिश्ते का आरम्भ है। राष्ट्रवाद के उत्तरोत्तर विकास के चरणों में राष्ट्रभाषा के सवाल को राजनीतिज्ञों, भाषा-शास्त्रियों एवं साहित्य-चिन्तकों ने लगातार उठाया। 1905 में काशी नागरी प्रचारिणी की सभा की वार्षिक बैठक की अध्यक्षता करते हुए लोकमान्य ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया। साथ ही सभी भारतीय भाषाओं को इंडो-आर्यन एवं द्रविड़ लिपि में लिखे जाने की बात कही।⁶ राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की आवश्यकता विशुद्ध रूप से राजनीतिक होने के साथ-साथ प्रशासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने की भी है, इसे मानने में राजनीतिज्ञों में कोई मतभेद नहीं था। स्वराज की माँग के जोर पकड़ने के दिनों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी इसका समर्थन किया था। 1923 में कानपुर में हो रहे साहित्य सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन में सभापति की हैसियत से उन्होंने कहा—“मान लीजिए आपको स्वराज्य मिल गया या दे दिया गया, या आप ही ने ले लिया और इस देश में प्रजासत्तात्मक या प्रतिनिधि सत्तात्मक राज्य की व्यवस्था हो गई। ऐसा होने पर भारतीय संयुक्त राज्य की स्थापना हो चुकने पर—आपने प्रान्त में प्रतिनिधि कौंसिलों की स्थापना कर दी और शासन का प्रबन्ध भी आपने अलग-अलग कर दिया।... इस दशा में प्रान्तीय कौंसिलों और मन्त्रिमंडल का काम किस भाषा में होगा? अंग्रेजी भाषा का तो नाम ही न लीजिए, उस दशा में उस भाषा का प्रयोग तो सर्वथा ही असम्भव होगा। क्योंकि प्रान्तिक प्रजा के ऐसे अनेक प्रतिनिधि वहाँ पहुँच सकेंगे जो अपनी भाषा छोड़कर अन्य भाषा न समझ सकते होंगे और न बोल सकते होंगे।”⁷ महावीर प्रसाद द्विवेदी के उक्त वक्तव्य में यह आशा निहित है कि स्वराज्य में शासन-व्यवस्था के भागीदार केवल प्रभु-वर्ग ही नहीं होंगे बल्कि सामान्य जन भी होंगे। भाषायी-अस्मिता से सामान्य जन के जुड़ने का यह मुख्य कारण था।

भारतीय इतिहास में बंगाल का विभाजन और उसकी तीखी प्रतिक्रिया भाषायी राजनीति

का वह तीखा मोड़ है, जिसने ब्रिटिश-साम्राज्य के विरुद्ध जन-असन्तोषों को संगठित करने में निर्णायक भूमिका निभाई। 1905 में लार्ड कर्जन के निर्देश के फलस्वरूप बंगाल को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। लार्ड कर्जन ने यद्यपि इसे प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से जरूरी माना, लेकिन राष्ट्रवादियों ने इसे ब्रिटिश निरंकुशता का उदाहरण बताकर जनता को संगठित किया। परिणाम यह हुआ कि जनता के हृदय में पहली बार राष्ट्रवादी विचारों ने जगह बनानी शुरू की। बंग-बंग के विरोध का चरित्र भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को रूप देने में निर्णायक सिद्ध हुआ। स्कूलों एवं कॉलेजों का बहिष्कार, देशी शिक्षण संस्थानों की शुरुआत, ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक लूट का खुलासा, सार्वजनिक सभाओं का आयोजन इस विरोध का मूल चरित्र था। बंग-भंग विरोधी आन्दोलन न केवल बंगाल में उग्र रूप धारण किया बल्कि इसका प्रभाव महाराष्ट्र, मध्य-प्रान्त, पंजाब एवं दक्षिणी इलाकों में भी देखा गया। बंगाल का विभाजन यद्यपि 1911 में रद्द कर दिया गया लेकिन पूर्ववत् स्थिति नहीं आई बल्कि यह तीन हिस्सों में बाँट दिया गया—(1) असम, (2) बंगाल, (3) बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर।

बंगाल के विभाजन ने भारतीय भाषायी राजनीति में राष्ट्रभाषा और देशी भाषाओं में शिक्षा के सवाल को ज्यादा गम्भीरता से उठाने में मदद की। राष्ट्रभाषा का सवाल, जो अब तक मूलतः सैद्धान्तिक था, उसने बुनियादी और व्यावहारिक राजनीति में अपनी जगह बनाई। महात्मा गाँधी ने 1909 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में अंग्रेजी भाषा पर प्रत्यक्ष आक्रमण करते हुए लिखा—“क्या यह कम अत्याचार की बात है कि मुझे यदि अपने देश में न्याय प्राप्त करना है तो मुझे अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करना पड़े?”⁸ अंग्रेजी भाषा का विरोध बिना किसी विशेष राजनीतिक प्रयास के ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़ जाता था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके राजनीतिज्ञ इस तथ्य को सुविधानुसार समय-समय पर उठाते रहे। 6 फरवरी, 1916 को 'काशी हिन्दू विद्यापीठ' में भाषण देते हुए महात्मा गाँधी ने 'स्वराज्य' का सवाल उठाने से पूर्व स्वभाषा का सवाल उठाया।⁹ अक्टूबर, 1916 में 'आधुनिक शिक्षा' निबन्ध में शिक्षण प्रणाली पर चिन्ता प्रकट करते हुए लिखा—“अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देना ही मूल दोष है।”¹⁰ राष्ट्रीय एकता को भाषायी एकता के रूप में परिभाषित करने का यह प्रारम्भिक चरण था और इसके स्पष्ट कारण थे। प्रेमचन्द के अनुसार—“कोई समय था, जब धर्म की एकता ही मनुष्यों के एकीकरण का मुख्य साधन थी और एक धर्म के मानने वाले बहुधा सामाजिक और सांस्कृतिक बातों में भी एक हो जाते थे। समाज और संस्कृति, जीवन और दृष्टिकोण सभी का उद्गम धर्म था। लेकिन नई जागृति ने धर्म को उस ऊँचे स्थान से हटा दिया और उसकी जगह जिन व्यवस्थाओं को बिठाया, उनमें भाषा अगर मुख्य नहीं है तो किसी से गौण भी नहीं है।”¹¹

असहयोग आन्दोलनों के दिनों में विभिन्न धारा के राजनीतिज्ञों को हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकारने में किसी तरह की हिचक नहीं थी। दक्षिण भारतीय प्रान्तों को छोड़कर उत्तर, पश्चिम, पूर्व एवं मध्य प्रान्तों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में पूरी तरह स्वीकार कर लिया था। कभी नवजागरण के दो प्रमुख केन्द्र रहे बंगाल और महाराष्ट्र में भी हिन्दी विरोध का कोई स्वर नहीं उठा। कदाचित् इसका एक कारण यह भी हो कि ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान में उक्त भौगोलिक क्षेत्र से सम्बन्धित भाषाएँ एक ही भाषा परिवार की मानी गई हैं और उसमें भी हिन्दी की व्यापकता सभी भाषाओं की अपेक्षा अधिक थी। दक्षिण भारत को छोड़कर उक्त अ-हिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी आन्दोलन को गैर हिन्दी भाषियों ने ही शुरू किया था या फिर इस आन्दोलन के प्रति अपनी सहमति दिखाई थी। वि.दा.सावरकर, लोकमान्य तिलक, महात्मा

गाँधी, भगत सिंह जैसे अनेक लोग मिलेंगे जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्रीय एकता का मुख्य आधार माना। हिन्दी क्षेत्रों में आर्य समाज, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, साहित्य सम्मेलन जैसी संस्थाओं ने हिन्दी का प्रचार तो किया ही, अ-हिन्दी भाषी राजनीतिज्ञों के कारण हिन्दी आन्दोलन का विस्तार ज्यादा हुआ। इसमें भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका महात्मा गाँधी की थी। 1920 में उन्होंने होमरूल का सभापतित्व ग्रहण करते हुए बयान दिया—“मेरी राय में स्वराज्य शीघ्र प्राप्त करने का साधन स्वदेशी, हिन्दू-मुस्लिम एकता, हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा मानना और प्रान्तों को भाषाओं के अनुरूप नए सिरे से निर्माण करना है।”¹² महात्मा गाँधी ने स्वराज्य प्राप्त करने के जिन चार साधनों का जिक्र किया है उनमें अन्तिम दो का सीधा सम्बन्ध भाषा से है। 1924 में भी बेलगाँव कांग्रेस में सभापति का पद स्वीकारते हुए उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति के जो रास्ते बताए उनमें देशी भाषाओं में सरकारी कामकाज किया जाना तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानना विशेष रूप से उल्लेखनीय है।¹³

महात्मा गाँधी और कांग्रेस ने हिन्दी के स्थान पर ‘हिन्दुस्तानी’ का प्रयोग किया। हिन्दुस्तानी से उनका आशय हिन्दी और उर्दू का मिला-जुला लोक-रूप था। इस तरह इस एक शब्द के द्वारा ही उन्होंने हिन्दू-मुसलमान, हिन्दी-अहिन्दी भाषियों के बीच फैले वैमनस्य को कम कर सामंजस्य पैदा करने की कोशिश की। महात्मा गाँधी का भाषायी आधार पर सन्तुलन तलाशने का उपक्रम उन्हें अन्य राजनीतिज्ञों से अलग करता है। हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा घोषित करने के अलावा उन्होंने इसका प्रचार ‘अन्तरप्रान्तीय भाषा’ के रूप में भी किया। ‘हिन्दी साहित्य सम्मेलन’ के आठवें अधिवेशन में उन्होंने मदन मोहन मालवीय के हवाले से हिन्दुस्तानी को ‘अन्तरप्रान्तीय भाषा’ तो कहा ही, कानूनी सभाओं और अदालतों में राष्ट्रीय भाषा और प्रान्तीय भाषाओं में काम करने की माँग की।¹⁴ यह असहयोग आन्दोलन से पूर्व मार्च, 1918 की घटना है।

भारत में भाषायी राजनीति के उभार का दूसरा चरण बीसवीं शताब्दी का चौथा दशक है। चौथे दशक की शुरुआत से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सविनय अवज्ञा आन्दोलन, पूर्ण स्वराज्य की माँग तथा भारतीय राजनीति में मुस्लिम लीग का पूरी ताकत के साथ प्रवेश हो चुका था। साथ ही स्वराज्य की आकांक्षा भी प्रबल हो चुकी थी। इन तमाम घटनाओं ने प्रत्येक भाषा के भीतर एक नए नेतृत्व वर्ग को जन्म दिया। यह नेतृत्व वर्ग समन्वय की कांग्रेसी नीति के अलावा भविष्य के ‘स्वराज्य’ में अपनी सुनिश्चित जगह चाहता था। भारतीय राजनीति में दलितों के उभार ने भी अच्छा-खासा असर पैदा किया था। इस तरह राजनीतिक सक्रियता इन दिनों चरम पर थी। चौथे दशक में जो दो मुद्दे भाषायी राजनीति पर छाये रहे, वे थे—उर्दू और हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए व्यक्तिगत और सांस्थानिक तौर पर अनेक प्रयास किए और हिन्दुस्तानी के लिए दो लिपियों—फारसी और नागरी के प्रयोग का समर्थन किया था। बावजूद इसके उक्त दोनों मुद्दों पर सहमति नहीं बन पाई और अन्तरिम सरकार के गठन के पश्चात् तो इन मुद्दों ने क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक रूप ले लिया।

चौथे दशक में भाषायी राजनीति, भावनात्मक पक्षों का आधार ग्रहण कर चुकी थी। कांग्रेस का राष्ट्रीय नेतृत्व राज्यों के पुनर्गठन तथा राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाओं के बीच समन्वय की नीति को अपने घोषणापत्रों में शामिल करने के बावजूद आत्म सहमति बनाने में असफल ही रहा। चौथे दशक में अन्तरिम सरकार के लिए चुनावों में कांग्रेस ने 5 प्रान्तों में स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर मन्त्रिमंडल का गठन किया। कांग्रेस की यह सफलता चुनौतियों से भरी थी। राष्ट्रभाषा के रूप में जब उन्होंने हिन्दुस्तानी की अनिवार्यता की घोषणा कि तब “दक्षिण भारत में हिन्दी के अनिवार्य अध्ययन के विरोध में एक आन्दोलन चला।”¹⁵ कांग्रेस

की हिन्दी-नीति को सबसे बड़ी चुनौती दक्षिण से ही मिली। जिस 'स्वराज्य' की संकल्पना को अंग्रेजी-विरोध के माध्यम से प्राप्त किया गया था, वह एक भाषा के नाम पर हिन्दी को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं था। कारण स्पष्ट थे—दक्षिण भारतीय प्रभु वर्ग हिन्दी की तुलना में अंग्रेजी के प्रयोग में ज्यादा स्वाभाविक था। वह हिन्दी के लागू कर दिए जाने की घटना को राजनीतिक नेतृत्व के उत्तर भारतीयों के हाथों संचालित हो जाने के अर्थ में देखता था। एक अन्य महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि वह स्वयं को उत्तर भारतीयों की अपेक्षा प्रगतिशील मानता था। हिन्दी को लागू कर दिए जाने का सीधा अर्थ यह था कि भाषायी नीतियों के निर्णय का सम्पूर्ण अधिकार उत्तर भारतीयों और मुख्यतः हिन्दी वालों को सौंप दिए जाएँ। उनकी यह आकांक्षा निर्मूल नहीं थी। उर्दू-हिन्दी विवाद के सन्दर्भ में जवाहरलाल नेहरू सैयद महमूद को 25 सितम्बर, 1936 को लिखे पत्र में कहते हैं—“हिन्दुस्तानी क्या है, इस सवाल को, हिन्दुस्तान के हिन्दुस्तानी न बोलनेवाले क्षेत्रों, जैसे दक्षिण भारत के हवाले से नहीं तय किया जा सकता। हम सिर्फ उत्तर भारत का खयाल करके और हिन्दी तथा उर्दू के विभिन्न रूपों से एक सामान्य भाषा तैयार करके हिन्दुस्तानी का स्वरूप निश्चित कर सकते हैं। हिन्दुस्तान की दीगर भाषाओं के खयाल को मिलाकर इस विकास को प्रभावित करने की कोई भी कोशिश निश्चित रूप से असफल होगी।”¹⁶

हिन्दी और दक्षिण भारतीय भाषाओं के विवाद के अलावा चौथे दशक की भाषायी राजनीति में उर्दू बनाम हिन्दी का मुद्दा पूरी तरह छाय़ा रहा। यह मुद्दा केवल दो भाषायी-राष्ट्र का नहीं था बल्कि दो सम्प्रदायों की प्रतिस्पर्धा का मुद्दा भी था। 'हिन्दी' की जगह 'हिन्दुस्तानी' जैसे शब्द को गढ़कर भी इस मुद्दे का दीर्घकालिक निवारण नहीं खोजा जा सका था। इसके हल की जो दूसरी बड़ी कोशिश कांग्रेस और तत्कालीन नेतृत्व ने की, वह थी, हिन्दुस्तानी के लिए उर्दू और नागरी दोनों लिपियों की स्वीकृति। उर्दू लिपि के द्वारा पंजाब प्रान्त में उर्दू का व्यवहार करने वालों तथा मुसलमानों को जो भाषायी आधार पर अलग अस्मिता का दावा करने वाली राजनीतिक शक्तियों से भावनात्मक रूप से जुड़ने लगे थे, समन्वय बनाने की कोशिश की गई। नेहरू ने 'भाषा का सवाल' नामक अपने प्रदीर्घ निबन्ध में लिखा—“राज्य के मामले में हर सूबे की सरकारी भाषा उस सूबे की भाषा होनी चाहिए, लेकिन हर जगह अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी को जाब्ता तौर पर मान लेना चाहिए और उसमें कानूनी कागजात को, देवनागरी और उर्दू, दोनों लिपियों में मंजूर करना चाहिए।”¹⁷ हालाँकि यह पूरी प्रतिस्पर्धा शहरी मध्यवर्ग तक ही सीमित थी, लेकिन शहरी मध्यवर्ग, संख्या में अपेक्षाकृत कम होने के बावजूद, राजनीतिक राय बनाने में जिम्मेदार वर्ग था। यह वर्ग भाषायी दावेदारी के माध्यम से राजनीतिक वर्चस्व को प्राप्त करने के किसी भी सूत्र को छोड़ना नहीं चाहता था। इसका एक रूप 1938 के कांग्रेस अधिवेशन में सामने आया। यह अधिवेशन गुजरात के हरिपुरा क्षेत्र में हुआ। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने पोस्टर, होर्डिंग्स, बैनर और परिपत्र गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी लिपि में जारी किए। उर्दू अखबारों ने इस अधिवेशन का प्रतिवाद करते हुए लिखा कि इसमें उर्दू लिपि की उपेक्षा हुई और कांग्रेस ने अपनी लिपि-सम्बन्धी नीतियों का पालन नहीं किया।¹⁸ दरअसल कांग्रेस ने 1931 के कराची कांग्रेस में भारतीयों के मौलिक अधिकारों और कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए जो प्रस्ताव पास किया था उसके धारा-1 अनुच्छेद-3 में यह कहा गया था कि “अल्पसंख्यक जातियों और भिन्न भाषा-भाषी वर्ग की संस्कृति, भाषा और लिपि की रक्षा की जाएगी।”¹⁹

भारत में एक भाषा की ज़रूरत और अंग्रेजी विरोध ने स्वराज्य की चेतना को जन्म

ज़रूर दिया लेकिन इस चेतना का वास्तविक विकास तब हुआ, जब प्रान्तीय कमेटियों को निर्देश दिए गए कि वे प्रान्तीय स्तर पर अपनी भाषाओं में राजनीतिक कार्यों का संचालन करें। यह केवल राजनीतिक कार्यों तक ही सीमित नहीं था बल्कि चौथे दशक में, शिक्षा की माध्यम भाषा प्रान्तीय भाषाएँ ही होनी चाहिए, यह मुद्दा राजनीतिक नेतृत्व के द्वारा बार-बार उठाया जाता रहा। चौथे दशक की राजनीति में जवाहरलाल नेहरू की उपस्थिति और उनकी सोच भविष्य के भारत के रूप-निर्धारण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी। यद्यपि नेहरू का भाषायी मानस पूरी तरह अंग्रेजी भाषा के सम्पर्क में निर्मित हुआ था। इसमें केवल राजनीतिक नेतृत्व ही भागीदारी नहीं कर रहा था, बुद्धिजीवी और संस्कृतिकर्मी भी अपना योगदान दे रहे थे। राष्ट्रभाषा के साथ-साथ मातृभाषा में शिक्षा का सवाल जनतन्त्र के विस्तार की आकांक्षा से निर्मित हुआ था। इसलिए मध्यवर्गीय प्रभु-वर्ग के लिए इसे स्वीकार करना आसान नहीं था। मध्यवर्ग के इस अन्तर्विरोध को स्पष्ट करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा—“हमारे देश में जब तक मातृभाषा को शिक्षा के आसन पर प्रतिष्ठित करने का सुझाव दिया गया तब अंग्रेजी जानने वाले विद्वान बेचैन हो उठे। उन्हें आशंका थी कि जिन थोड़े से लोगों को अंग्रेजी भाषा का व्यवहार करने का सहयोग प्राप्त है उनका अधिकार कम न हो जाए।”²⁰ एक वर्ष पश्चात् पुनः एक व्याख्यान में कहा—“अंग्रेजी भाषा में अवगुण्ठित विद्या हमारे मन की सहवर्तिनी होकर नहीं चल पाती। इसलिए हममें से अनेक लोग जिस मात्रा में शिक्षा पाते हैं उस मात्रा में विद्या नहीं पाते। चारों ओर के वातावरण से यह विद्या विच्छिन्न है। हमारे घर और स्कूल के बीच ट्राम चलती है, मन नहीं चलता। स्कूल के बाहर हमारे देश हैं, दोनों में कोई सहयोग नहीं बल्कि विरोध ही है।”²¹ यह भाषा के माध्यम से भविष्य के जनतन्त्र से वचितों को जोड़ने का उपक्रम था। चौथे दशक में, विशेषकर ‘पूर्ण स्वराज्य’ की माँग के पश्चात्, भारतीय राजनीति अचानक कई अन्तर्विरोधों में एक साथ प्रवेश कर गई। सामान्य जनता की भागीदारी एवं दलितों की भागीदारी ने प्रभु-वर्ग पर अनेक सवाल उठाए। प्रेमचन्द ने उपन्यास ‘गबन’ में देवीदीन के माध्यम से प्रभु-वर्ग के ‘इच्छित स्वराज्य’ का विरोध किया। इसमें देवीदीन एक राष्ट्रवादी साहब बहादुर से पूछे प्रश्न का रमानाथ को यों हवाला देता है—“साहब, सच बताओ, जब तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाए घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा। तुम्हारी और तुम्हारे भाई-बन्दों की जिन्दगी भले आराम और ठाठ से गुजरे, पर देश का तो कोई भला न होगा। बस, बगलें झाँकने लगे।”²² स्वराज्य का यह अन्तर्विरोधी चरित्र ही भारत की भाषायी राजनीति का चरित्र बनता चला गया। इसके एक उदाहरण नेहरू भी हैं जिन्होंने इन्दिरा गाँधी को लिखे तमाम पत्रों में जितना फ्रेंच, जर्मन और रूसी सीखने पर जोर दिया उतना भारतीय भाषाओं को सीखने पर नहीं। बंगला और हिन्दी के लिए केवल सन्तोष जताया। यही नहीं, 1928 को लिखे एक लेख ‘हिन्दुस्तान और अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों की आवश्यकता’ में उन्होंने हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे लोगों से अपील की कि उन्हें कम से कम एक विदेशी भाषा ज़रूर सीखनी चाहिए ताकि इंग्लैंड के अलावा दूसरे देशों में जाने में सहूलियत हो। वे यह तो कहते हैं कि ‘अंग्रेजी बुद्धिजीवियों की सौतेली भाषा बन गई है’ लेकिन किसी भाषा को सीखने का प्रस्ताव नहीं करते।²³ इसलिए भारतीय भाषाओं के सवाल पर वे लम्बे समय तक मौन साधे रहे। बल्कि इसे वे प्रायोजित और बनावटी ही मानते रहे। चौथे दशक में भाषाओं के विषय पर खुलकर बोलने और लिखने के बावजूद हिन्दी-उर्दू विवाद पर सैयद महमूद को लिखा—“जो दुनिया तकलीफ में है और जिसे ऐसे मसलों का सामना करना है, जो हमारे मुल्क के पूरे भविष्य पर, इसमें बसने वाले

करोड़ों लोगों पर और खुद सभ्यता पर असर डालते हैं, उसमें यह मामला मुझे बनावटी जैसा लगता है।”²⁴

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक तक जवाहरलाल नेहरू के लिए भाषा का मुद्दा बहुत विचारणीय नहीं था। भाषा को लेकर उनकी सोच यद्यपि राष्ट्रवादी थी लेकिन इसे स्वराज्य प्राप्ति के एक उपकरण तथा इसके भावनात्मक रूप का वे अन्दाजा नहीं लगा सके। वे महसूस करते थे कि जैसे एक संगठित राष्ट्रवाद का उभार और विकास होगा, स्थानीयताएँ और क्षेत्रीय विशिष्टताएँ अपनी पहचान खोती चली जाएँगी। स्थानीय या क्षेत्रीय बोलियों के सन्दर्भ में भी उनका यही विचार था—“उत्तरी और मध्य हिन्दुस्तान के बहुत से हिस्सों में हिन्दुस्तानी जिस तरह बोली और लिखी जाती है, उसमें बहुत फर्क है। बहुत-सी बोलियाँ उठ खड़ी हुई हैं। लेकिन यह शिक्षा न होने का लाजिमी नतीजा है और जनता में शिक्षा फैलने के साथ ये बोलियाँ गायब हो जाएँगी और भाषा का कुछ मानकीकरण हो जाएगा।”²⁵ फिर भी नेहरू ने चौथे दशक में उभरे भाषायी विवाद की पूरी तरह उपेक्षा नहीं की। अन्तरिम सरकार के बनने के बाद जब शासन को सुचारु रूप से चलाने का सवाल सामने आया तब उन्होंने यह महसूस किया कि भाषा के सन्दर्भ में राज्य की नीति स्पष्ट होनी चाहिए। इसी का नतीजा था, उनका प्रदीर्घ निबन्ध—‘भाषा का सवाल’। भाषा का मुद्दा जहाँ अब तक अंग्रेजी विरोध और प्रान्तों के विभाजन की सीमा निर्धारित करने तक सीमित था अब आज़ादी की सम्भावनाओं को देखते हुए अपना निश्चित आकार लेने लगा था। नेहरू स्वयं जनतंत्र की अकांक्षाओं को भाषा से संबंधित होते हुए देख रहे थे। इसलिए अन्तरिम सरकार के चुनाव से पूर्व उन्होंने प्रान्तीय भाषा में ही हो सकता है। यह चौथे दशक की राजनीति का मुख्य भाषायी निष्कर्ष था। नेहरू भी इस निष्कर्ष पर यँ ही नहीं पहुँचे थे, उनका प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें यह स्वीकारने पर बाध्य कर रहा था। ‘भाषा का सवाल’ निबन्ध में ही लिखा—“जबसे कांग्रेस ने अपना काम करने के लिए सूबों की इन भाषाओं का इस्तेमाल करना शुरू किया है, जनता के साथ तेजी से हमारा सम्पर्क बढ़ा है और सारे मुल्क में कांग्रेस की ताकत और इज्जत में इजाफा हुआ है, कांग्रेस का सन्देश बहुत दूर-दराज के गाँवों में पहुँचा है और जनता की राजनीतिक चेतना में बढ़ोत्तरी हुई है। इसलिए हमारी शिक्षा और नागरिकों के काम की पद्धति प्रान्तीय भाषाओं पर आधारित होनी चाहिए।”²⁶ आज़ादी के पश्चात् भारत में त्रिभाषा का जो सूत्र लागू किया, उसके बीज बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में ही बोए गए थे। इस पूरे दौर में भाषाओं को लेकर विचार-विमर्श दस बड़ी भाषाओं तक सीमित रहा। सुदूर आदिवासी भाषाएँ तथा उत्तर-पूर्व की भाषाओं पर तो बात ही नहीं हुई। इस तरह भाषायी राजनीति दस बड़े भाषायी राष्ट्रों के समन्वय और प्रतिस्पर्धा के दो ध्रुवों पर टिकी रही।

12 जून, 1936 को बंगलोर में हिन्दी प्रचार सभा के दीक्षान्त समारोह की अध्यक्षता करते हुए महात्मा गाँधी ने हिन्दी और प्रान्तीय भाषाओं के बीच सहयोग को ध्यान में रखते हुए कहा—“जैसे-जैसे हम हिन्दी का अधिक प्रचार करेंगे, वैसे-वैसे हम अपनी प्रान्तीय भाषा के सहयोग को न केवल विशेष प्रोत्साहन देंगे, बल्कि उनकी शक्ति भी बढ़ाएँगे।”²⁷ उन्होंने अपने वक्तव्य में यद्यपि स्पष्ट कहा था कि हिन्दी किसी भी प्रान्तीय भाषाओं के स्थान पर नहीं बल्कि उसके साथ सिखाई जाएगी और यही भविष्य में अंग्रेजी का विकल्प होगी, लेकिन फिर भी दक्षिण भारत में इसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई। उक्त भाषण का प्रतिवाद करते हुए एक सज्जन ने उन्हें पत्र लिखा—स्वराज्य का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वालों पर एक ही भाषा लाद दी जाए। प्रथम स्थान मातृभाषा को ही मिलना चाहिए।

सच्ची प्रेरणा और प्रगति तो मातृभाषा से ही मिल सकती है। अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी के प्रयोग को गैरज़रूरी बताते हुए उक्त प्रश्नकर्ता ने गाँधीजी से प्रश्न किया कि फिर उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' 'और दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' गुजराती में क्यों लिखा? पत्र-लेखक ने इसके साथ-साथ एक और ज़रूरी सवाल उठाया कि नागरी और उर्दू दोनों लिपियों में लिखे जाने की बात क्यों कहते हैं? गाँधीजी ने स्पष्ट किया—“इस समय हिन्दुओं और मुसलमानों में संघर्ष है। पढ़े-लिखे हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए एक-दूसरे के प्रति अधिक से अधिक आदर और सहिष्णुता दिखाना ज़रूरी और बुद्धिमानी का काम है। इसलिए मेरी यह राय है

fi fyfi dseleyseansukgh ;kmzdk fd'yi jg*

भाषा के मुद्दे पर महात्मा गाँधी चौथे दशक के अन्य राजनीतिज्ञों की तरह समन्वयवादी ढंग से सोच रहे थे। इसका एक अन्य उदाहरण नेहरू के निबन्ध 'भाषा का सवाल' की प्रतिक्रिया में दिखाई पड़ता है। नेहरू ने उक्त निबन्ध में शिक्षा और सरकारी कामकाज के लिए जिन भाषाओं को ज़रूरी माना, वे थे—हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू दोनों), बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, उड़िया, असमिया, सिन्धी और शायद पश्तो और पंजाबी। गाँधी जी ने 'शायद' शब्द को हटा देने का सुझाव दिया। इसी तरह पश्तो और पंजाबी लिपि के सन्दर्भ में लिखा—“खान साहब पश्तो को कभी नहीं छोड़ेंगे। मेरा खयाल है वह किसी लिपि में लिखी जाती है, किसमें लिखी जाती है यह मैं भूल गया हूँ। और पंजाबी? गुरुमुखी में लिखी पंजाबी के लिए सिख तो मर मिटेंगे। उस लिपि में कोई सुन्दरता नहीं है। लेकिन मुझे बताया गया है कि सिन्धी की तरह भी सिखों से हिन्दुओं को अलग करने के लिए खास तौर पर ईजाद की गई है। यह बात हो या न हो, फिलहाल तो सिखों को गुरुमुखी छोड़ने को राजी करना मुझे असम्भव लगता है।”²⁹ चौथे दशक में भारत एक राष्ट्र के रूप में जिस तरह से संगठित हो रहा था, उसमें भाषायी विवाद को टालने की पुरजोर कोशिश की जाती रही। इसलिए समन्वय के अतिरिक्त इसके किसी और रूप पर गम्भीरता से विचार नहीं किया गया।

चौथे दशक में ही राष्ट्रभाषा की दृष्टि से भारत में एक महत्वपूर्ण घटना घटी। बड़ोदा रियासत में हिन्दी को राज्यभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। बड़ोदा एक मराठा राज्य था और इसके अधिकांश निवासी गुजराती थे। फिर भी रियासत में यह निर्णय लिया गया। इसकी सकारात्मक प्रतिक्रिया केवल प्रेमचन्द में ही दिखाई पड़ी। 26.12.1932 को इस पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा—“इस रियासत का ताजा महान कार्य है हिन्दी को राज्यभाषा स्वीकार कर लेना। ब्रिटिश प्रान्तों में सबसे पहले यह सुधार मध्य प्रान्त में ही हुआ था कि हिन्दी को ही अदालती भाषा स्वीकार किया गया था। इसके बाद शायद बड़ोदा ही इतना बड़ा स्थान है जहाँ हिन्दी का अब साम्राज्य होगा।”³⁰ हालाँकि प्रेमचन्द के इस मन्तव्य से कि 'हिन्दी का अब साम्राज्य होगा' किसी को भी एतराज हो सकता है। 'साम्राज्य' से तात्पर्य यहाँ साधारण जनता की भाषा का साम्राज्य है।

भारत में भाषायी राजनीति का तीसरा चरण आज़ादी के पश्चात् हिन्दी को राजभाषा बनाने के मुद्दे को लेकर आरम्भ हुआ। यद्यपि इस दौर में भाषायी मुद्दा भाषावार प्रान्त रचना का ही था लेकिन दक्षिण भारत, जो चौथे दशक में हिन्दी को लागू किए जाने के सन्दर्भ में अपनी राय कायम कर चुका था, आज़ादी के पश्चात् भी उस पर दृढ़ रहा। फलतः भारत में एक वोट की बढ़त के आधार पर हिन्दी राजभाषा तो बनाई गई। लेकिन अगले 15 वर्षों तक के लिए अंग्रेजी के व्यवहार को पूर्ववत् रखने तथा इस दौरान हिन्दी के विस्तार पर सार्वजनिक राय बनाने की दिशा में काम करने का निर्णय लिया गया। इस स्थिति को अब हिन्दी भाषी

राज्यों की जनता ने जहाँ अपने पक्ष में लिया गया निर्णय माना, वहीं हिन्दी भाषी और उसके समर्थक चिन्तकों ने एक बड़े खतरे के रूप में देखा।

भारत में राजभाषा के रूप में हिन्दी का मुद्दा, एक ओर यदि अंग्रेजी विरोध से जुड़ा था तो दूसरी ओर अ-हिन्दी भाषी प्रान्तों में प्रान्तीय भाषाओं को चुनौती देता हुआ प्रतीत होता था। आज़ादी के पूरे आन्दोलन के दौरान हिन्दी (या हिन्दुस्तानी) को शेष भारत से समन्वय और संवाद के एक प्रतीक के रूप में स्वीकारे जाने पर जोर था। लेकिन आज़ाद भारत में हिन्दी को राजभाषा के नाम पर यह पद देने को अ-हिन्दी भाषी प्रान्त तैयार नहीं थे। डॉ. अम्बेडकर ने इसे आगामी समय में भारत के लिए एक बड़े खतरे के रूप में देखा और लिखा—“मेरे विचार से इस खतरे से तभी निपटा जा सकता है, जब संविधान में यह व्यवस्था रखी जाए कि क्षेत्रीय भाषा किसी भी राज्य की राजभाषा नहीं होगी। राज्य की राजभाषा हिन्दी रहेगी और जब तक भारत इस प्रयोजन के योग्य न हो जाए, अंग्रेजी बनी रहेगी। क्या भारतवासी इसे स्वीकार करेंगे? यदि वे इसे स्वीकार नहीं करते तो भाषावार राज्य सहज ही देश के लिए खतरा बन जाएँगे।”³¹

आज़ाद भारत में समय बीतने के साथ-साथ अ-हिन्दी भाषी चिन्तकों और राजनीतिज्ञों में हिन्दी के प्रति ऐसा लगाव लगातार कम होता गया। इसका एक कारण भाषा आधारित लोकप्रिय राजनीति का उदय भी है। लोकप्रिय राजनीति ने एक ओर यदि हिन्दी भाषा का सवाल पूरी तरह हिन्दी भाषियों के हवाले कर दिया तो दूसरी ओर हिन्दी भाषी राज्यों के भीतर से भी अनेक जनपदीय इलाकों ने अपनी बोली की स्वतन्त्र पहचान की दावेदारी पेश की। इसका एक रूप यदि संविधान की आठवीं अनुसूची में अपनी बोली (या भाषा) को दर्ज कराना था तो दूसरी ओर इसी आधार पर स्वतन्त्र राज्य की माँग भी थी। संविधान की आठवीं अनुसूची कार्यालयीन भाषा से सम्बन्धित है। संविधान निर्माण के समय इसमें केवल 14 भाषाएँ थीं। वर्तमान में 23 भाषाएँ हैं जो कि भिन्न-भिन्न समय में माँग और आन्दोलन के पश्चात् शामिल हुईं। और अब छत्तीसगढ़ और भोजपुरी की माँग प्रबल है। आठवीं अनुसूची में भाषा विशेष को शामिल करने सम्बन्धी माँगों का कोई व्यावहारिक परिणाम दिखाई नहीं पड़ता। संस्कृत जैसी भाषा जो केवल कर्मकाण्ड एवं धार्मिक ग्रन्थों तक सीमित है, आठवीं अनुसूची में शामिल है जब कि अंग्रेजी भाषा आज तक आठवीं अनुसूची में शामिल नहीं है।

आज़ादी के बाद लोकप्रिय राजनीति और अभिजात्य राजनीति हिन्दी के सन्दर्भ में लगभग एक जैसा रवैया अपना चुकी थी। राजभाषा के रूप में हिन्दी को लागू किए जाने के लिए जो 15 वर्ष दिए गए थे, उसके खत्म होने से पूर्व जो बहसें फिर उठीं, उसमें हिन्दी के समर्थन में अब केवल हिन्दी क्षेत्रों के शहरी बुद्धिजीवी ही रह गए थे। शेष अ-हिन्दी भाषी भारत या तो उदासीन था या फिर विरोधी की भूमिका में। अंग्रेजी पहले की तुलना में शासन की दृष्टि से ज्यादा शक्तिशाली हो चुकी थी और भारतीय भाषाएँ और बोलियाँ पूरी तरह लोकप्रिय राजनीति के हवाले की जा चुकी थीं। ऐसे में हिन्दी क्षेत्र के बुद्धिजीवी और राजनीतिज्ञ अब भी हिन्दी को राष्ट्रीय एकता के पुराने आदर्श और अंग्रेजी के विकल्प के रूप में पेश करते रहे। इसमें बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों के अलावा बड़े पूँजीपतियों के हित भी जुड़े हुए थे क्योंकि हिन्दी अपनी सम्पर्क-शक्ति के कारण पूरे भारत में उन्हें व्यापार की सुविधा प्रदान करती थी। ब्रिटिश-भारत में राष्ट्रभाषा के रूप में जिस हिन्दी ने राष्ट्रीय एकता और स्वराज्य को तलाशने में अग्रणी भूमिका निभाई थी, वह हिन्दी अब बड़े व्यापारिक घरानों के लिए व्यापार के विस्तार का एक प्रमुख साधन थी। हिन्दी की इस नई भूमिका को स्पष्ट करते हुए रामविलास शर्मा

ने लिखा—“बड़े पूँजीपति की नीति हिन्दी को अनिवार्य राजभाषा बनाने की है। इसके विपरीत प्रान्तीय पूँजीपति कहते हैं कि उनके विरोधी भाषायी साम्राज्यवाद कायम करना चाहते हैं। और वे अपनी जाति को आत्मनिर्णय का पूरा अधिकार देने की बात कहते हैं, बशर्ते कि इस प्रश्न **ijetnjoznd>MdsupsvktkA**** हिन्दी और प्रान्तीय भाषाओं के बीच संघर्ष का कारण राजनीतिक होने के साथ-साथ प्रान्तीय पूँजी मुहैया कराते थे इसलिए नए निर्माणाधीन भारत में व्यापार और उद्योग सम्बन्धी अपने हितों की सुरक्षा चाहते थे। भारत में भाषायी राजनीति का यह नया रूप था जो आज़ादी के पश्चात् लगातार सुदृढ़ और समृद्ध होता गया। यह अब केवल प्रभु वर्ग तक सीमित नहीं था बल्कि इसने जाति, धर्म, लिंग और स्थानीयता के संश्लिष्ट मिश्रणों से नई ताकत अर्जित कर ली थी और इसका पूरा लाभ पुराने और नए शासकों को मिल रहा था। डॉ. अम्बेडकर और राम मनोहर लोहिया ने भाषायी राजनीति के जातिगत पहलुओं पर पहली बार प्रकाश डाला। डॉ. अम्बेडकर ने लिखा—“जाति व्यवस्था के ये अशुभ परिणाम भाषायी राज्यों की रचना के फलस्वरूप निश्चय ही और भी गहरे हो जाएँगे।”³³ लोहिया ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि प्रान्तीयता का उभार भी सवर्णों की राजनीति का एक पक्ष है—“जितना शासक वर्ग है, वह एक है और जगह-जगह फैल गया है और अपनी ताकत को बनाए रखने के लिए अलग-अलग प्रान्तीयता का इस्तेमाल कर रहा है। प्रान्तीयता की जड़ में हिन्दुस्तान की जाति-प्रथा है। तेलुगु प्रान्तीयता, हिन्दी प्रान्तीयता, बंगाली प्रान्तीयता की जड़ अगर खोद कर देखो तो वहाँ देखोगे कि द्विज लोग अपना शासन कायम रखने के लिए विभिन्न प्रान्तीयता का इस्तेमाल करते हैं।”³⁴

आज़ाद भारत में भाषायी राजनीति के उभार ने हिन्दी आन्दोलन को कमजोर करने में अग्रणी भूमिका निभाई। प्रान्तवाद के अलावा उसका संघर्ष अंग्रेजी से था जो साम्राज्यवादी होने के साथ-साथ सामन्तवादी भी था। अंग्रेजी, शासन में प्रभु वर्ग की भागीदारी को सुदृढ़ आधार प्रदान करती थी। इसलिए अलग-अलग दौर में उठी जातीय अस्मिताओं ने अंग्रेजी भाषा के प्रति किसी भी तरह का विरोध नहीं किया। यह लोकप्रिय राजनीति की सबसे बड़ी सीमा है। लोकप्रिय राजनीति भावनात्मक उभार और उस पर नियन्त्रण के दोनों छोरों का कुशलता से संचालन करती है। वह लोकतन्त्र को भावनात्मक आधार पर परिभाषित करती है लेकिन शक्ति-तन्त्र के समस्त सूत्र अपने हाथ में रखती है। अंग्रेजी-हिन्दी और भारतीय भाषाओं के द्वन्द्व के रूप में विकसित भाषायी राजनीति इसका उदाहरण है। इसके सन्दर्भ में लोहिया का यह निष्कर्ष ध्यान देने योग्य है—“अंग्रेजी हिन्दुस्तान को ज्यादा नुकसान इसलिए नहीं पहुँचा रही है कि वह विदेशी है, बल्कि इसलिए कि भारतीय प्रसंग में वह सामन्ती है। आबादी का सिर्फ एक प्रतिशत छोटा-सा अल्पमत ही अंग्रेजी में ऐसी योग्यता हासिल कर पाता है कि उसे सत्ता या स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करता है। इस छोटे-से अल्पमत के हाथ में विशाल जन-समुदाय पर अधिकार और शोषण करने का अधिकार है अंग्रेजी।”³⁵ नेहरू के जिस अल्पमत के सिद्धान्त ने भारत में लोकतन्त्र के विस्तारीकरण का सपना देखा था, यह उसका वास्तविक रूप था। इसलिए आज़ाद भारत में अंग्रेजी विरोध का मुद्दा कभी भी भाषायी राष्ट्रवाद और लोकप्रिय राजनीति को चुनौती नहीं दे पाया।

सन्दर्भ

1. कोहलर ए.एम. : रूसो एण्ड नेशनलिज्म, नेहरू एण्ड लैंग्वेज प्रॉब्लम इन इंडिया, पृष्ठ-28
2. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : शिक्षा में हेर फेर, रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, भाग-1, पृष्ठ-277

3. उपरोक्त : पृष्ठ-278
4. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : भारतेन्दु समग्र (सं.—हेमन्त शर्मा), पृष्ठ-219
5. वामन पेठे : राष्ट्रभाषा (पं. गंगाराम अग्निहोत्री ग्रन्थावली, सम्पादक—हरिकृष्ण त्रिपाठी), पृष्ठ-68-72
6. Robert B.King : Nehru and Language Politics in India, पृष्ठ-193
7. महावीर प्रसाद द्विवेदी : महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-1 (सं—भारत यायावर), पृष्ठ-68-69
8. महात्मा गाँधी : सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खंड-20, पृष्ठ-55
9. महात्मा गाँधी : सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खंड-23, पृष्ठ-212
10. उपरोक्त, पृष्ठ-301
11. प्रेमचन्द : बे-राष्ट्रभाषा का राष्ट्र, प्रेमचन्द के विचार, भाग-दो, पृष्ठ-288
12. महात्मा गाँधी : कांग्रेस का इतिहास, खंड-1, वी.पट्टाभि सीतारामय्या, पृष्ठ-151
13. उपरोक्त : पृष्ठ-225
14. महात्मा गाँधी : सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खंड-24, पृष्ठ-279
15. वी.पट्टाभि सीतारामय्या : कांग्रेस का इतिहास, खंड-2, पृष्ठ-57
16. जवाहर लाल नेहरू : जवाहरलाल नेहरू वाङ्मय, खंड-7, पृष्ठ-370
17. उपरोक्त, पृष्ठ-822
18. वी.पट्टाभि सीतारामय्या : कांग्रेस का इतिहास, खंड-2, पृष्ठ-75
19. उपरोक्त : खंड-1, पृष्ठ-370
20. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, भाग-2, पृष्ठ-322
21. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : शिक्षा का विचार, रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, भाग-2 पृष्ठ-305
22. प्रेमचन्द : गबन, पृष्ठ-139
23. ज.ला.नेहरू : जवाहरलाल नेहरू वाङ्मय, खंड-7, पृष्ठ-374
24. उप. पृष्ठ-366
25. उप. खंड-8, पृष्ठ-814
26. उप. खंड-8, पृष्ठ-813
27. महात्मा गाँधी : सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खंड-63, पृष्ठ-60
28. उप. पृष्ठ-240
महात्मा गाँधी ने 'और भी गलतफहमियाँ' शीर्षक से 'हरिजन' में 15-8-1936 को लेख लिखकर प्रश्नकर्ता के अक्षरों को उद्धृत कर अपना स्पष्टीकरण दिया। उन्होंने प्रश्नकर्ता के नाम का उल्लेख नहीं किया।
29. उप. खंड-66, पृष्ठ-8
30. प्रेमचन्द : प्रेमचन्द के विचार, भाग-दो, पृष्ठ-274
31. डॉ. अम्बेडकर : बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृष्ठ-178
32. रामविलास शर्मा : भारत की भाषा समस्या, पृष्ठ-74
33. डॉ. अम्बेडकर : बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृष्ठ-103
34. राम मनोहर लोहिया : देशी भाषा बनाम अंग्रेजी, लोहिया के विचार (सं.-ओंकार शरद), पृष्ठ-162
35. राम मनोहर लोहिया : सामन्ती भाषा बनाम लोकभाषा (उपरोक्त), पृष्ठ-135

मार्क्सवाद और हिन्दी दलित आत्मकथाएँ

जितेन्द्र विसारिया

उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब पूँजीवादी मर्यादाएँ स्पष्ट हो रही थीं और इतिहास के मंच पर श्रमिक वर्ग का प्रभावशाली उदय हो रहा था। उसी समय मार्क्स-एंगेल्स ने तत्व ज्ञान, अर्थशास्त्र, सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण की शास्त्रीय व्यवस्था निर्माण की। इस व्यवस्था में द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद, राजनीतिक अर्थशास्त्र और शास्त्रीय साम्यवाद का समावेश है।¹

मार्क्सवाद एक गतिशील विचारधारा है, जिसके अनुसार आज तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। और ये वर्ग उत्पादन संबंधों के कारण निर्मित होते हैं। मार्क्स प्रणीत भौतिकवाद का मानना है कि उत्पादन पद्धति, उत्पादक सम्बन्ध और वर्ग कलह के कारण सामाजिक स्थितियों में अन्तर होता है। धर्म, नीति, कला-साहित्य और संस्कृति का आधार आर्थिक प्रेरणा है। यह प्रेरणा ऐतिहासिक भौतिकवाद का सूत्र है।

कार्ल मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्यों का (Surplus Value) सिद्धांत रखकर पूँजीवाद में मजदूरों का शोषण कैसे होता है, यह सिद्ध किया। पूँजीपति मजदूर को छः घंटों का मुआवज़ा देकर उसकी ओर से बारह घंटों का काम करवा लेता है और इस प्रकार पूँजीपति को छः घंटों का श्रम मुफ्त में मिल जाता है। इस प्रकार पूँजीपति के लिए मुफ्त मिले हुए श्रम का अतिरिक्त मूल्य तैयार हो जाता है। इन अतिरिक्त मूल्यों का आगे पूँजी में रूपान्तर होता है और मालिक की ओर से मजदूरों का शोषण जारी रहता है।

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने 1848 में कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो प्रकाशित किया। इस घोषणा-पत्र में साम्यवादी समाज रचना का वर्णन किया है। पूँजीपति समाज व्यवस्था समाप्त करने के लिए सभी मजदूरों को एक होकर क्रांति करनी चाहिए, यही कम्युनिस्ट घोषणा पत्र कहलाता है।²

जिस समय कार्ल मार्क्स पश्चिमी समाज के विशेष संदर्भ में वर्ग-बोध, वर्ग-संघर्ष और

वर्गविहीन समाज का अकादमिक स्तर पर निर्माण कर रहे थे, उसी समय फुले सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों स्तर पर भारत में ब्राह्मणवादी व्यवस्था को चुनौती दे रहे थे। जब 1848 में मार्क्स का कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो प्रकाशित हुआ, उस समय फुले समाज के सबसे दबे-कुचले वर्ग दलित स्त्रियों को शिक्षित बनाकर क्रांति के लिए एक ज़मीन तैयार कर रहे थे। फुले का विश्वास था कि सही शिक्षा और ज्ञान से ही शोषित तबके शोषण की जंजीर तोड़ सकते हैं?

फुले ने 1855 में 'तृतीय रत्न' (तीसरी आँख) के नाम से आधुनिक भारत का पहला नाटक लिखा था, जिसमें शिक्षा के माध्यम से तमाम शूद्र अतिशूद्र जातियों को वर्गीय रूप में संगठित होने का संदेश था। इसी साल फुले के स्कूल में पढ़ने वाली चौदह साल की दलित लड़की मुक्ताबाई ने 'मांग महाराज्य दुःख विषयी' (मांग और महार के दुःख के सम्बन्ध में) नामक एक हृदय विदारक लेख लिखा है, जिसमें अमानवीय स्थितियों में जीवन-बसर कर रहे दलितों की पीड़ा को ब्राह्मणवादी धर्मव्यवस्था से जोड़कर देखा गया है।

फुले ने 1869 में लिखी अपनी किताब 'ब्राह्मंचे कसव' दलित-पिछड़े-कुनवी, माली, चांडाल, महार आदि लोगों को समर्पित की है और ज़ोर देकर यह समझाने की कोशिश की है कि जाति-वर्ण व्यवस्था ने किस प्रकार इस समाज का विघटन किया है और किस तरह मेहनतकश वर्ग का इस समाज में शोषण होता आया है।

1873 में प्रकाशित फुले की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'गुलामगिरी' तो दलित वर्ग की मुक्ति का मुकम्मल घोषणा-पत्र ही है। गौरतलब है कि फुले ने इस किताब को 'ब्लैक्स स्लेवरी' खत्म करने के लिए अमेरिकी जनता को समर्पित किया है। दुनिया भर के गरीब मजदूरों से फुले को मोहब्बत थी और शोषण और गुलामी चाहे इस देश में हो या और कहीं, उसकी मुख़ालफ़त करना अपना फ़र्ज़ समझते थे।

मानव अधिकारों को वह जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे और हर तरह की मानसिक या शारीरिक गुलामी से उनका स्वाभाविक बैर था। जाति प्रथा को पहली बार 'गुलामगिरी' में ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में देखा गया है।⁹

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही सदी में मार्क्स एंगेल्स वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को दार्शनिक रूप दे रहे थे और महात्मा फुले वर्ण संघर्ष के सिद्धांत को। डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर ने मार्क्स को नहीं बल्कि महात्मा फुले को अपना गुरु माना।⁴ यद्यपि 'जनता' 6 नवंबर, 1954 में प्रकाशित अपने आत्मकथ्य 'मेरा जीवन' में उन्होंने बुद्ध, कबीर और ज्योतिबाराव फुले के साथ-साथ अपने तीन गुरुओं की श्रेणी में आंशिक रूप से कार्ल मार्क्स को भी गुरु स्वीकार किया है। तदापि बाबा साहब को मार्क्सवाद अपूर्ण लगता है क्योंकि मार्क्सवाद में जाति अंत का विचार नहीं है। दरअसल उन्हें दलितों की 'अस्पृश्यता' नष्ट होना ही सबसे अधिक महत्व की बात लगती है। इसलिए वे कहते हैं—“लेनिन ने हिन्दुस्तान में जन्म लिया होता तो पहले उन्होंने जातिभेद और छुआछूत को पूरी तरह से नष्ट किया होता और वैसा किए बिना क्रांति की कल्पना उनके मन में आई ही नहीं होती। या तिलक बहिष्कृत वर्ग में पैदा होते तो उन्होंने 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है' ऐसी गर्जना करने की बजाय अस्पृश्यता नष्ट करना ही मेरा परम कर्तव्य है, ऐसा ही विश्वास के साथ कहा होता।”¹⁵

यद्यपि डॉ. अम्बेडकर ने मार्क्स के शोषित लोगों के प्रति दृष्टिकोण की प्रशंसा की और उससे सहमत थे कि शोषण की मूल जड़ संपत्ति के अधिकार में निहित है, फिर भी वह यह नहीं चाहते थे कि उसे रक्तिम-क्रांति तथा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के डंडे से समाप्त किया जाए। ऐसा करने से व्यक्ति की स्वतंत्रता नष्ट होती है, वह स्वतंत्रता जो डॉ. अम्बेडकर को

बहुत ही प्रिय थी। वह समानता के लिए स्वतंत्रता का बलिदान करना नहीं चाहते थे। वह बुद्धिज्म की शरण में चले गए जिसने आत्म-संयम तथा संतोष की शिक्षा दी। यह चाहा कि लोग नैतिक भावना से ओत-प्रोत होकर निजी संपत्ति का परित्याग करना सीखें और अपने साथी-प्राणियों की दुःख-तकलीफों से छुटकारा पाने में मदद करें।

डॉ. अम्बेडकर एक ऐसे दूर दृष्टा थे, जिन्होंने 1955 में यह भविष्यवाणी की थी कि साम्यवादी व्यवस्था शीघ्र लुढ़क जाएगी, टूट जाएगी, क्योंकि उसमें अनेक अन्तर्विरोध निहित हैं। उन्होंने कहा था, सोवियत संघ के टूटने के बाद वहाँ के नागरिक सरकारी धन संपत्ति के लिए परस्पर लड़ाई-झगड़े करेंगे। आज वहाँ ऐसा ही देखने को मिल रहा है। वहाँ पुराने साम्यवादी और नए सुधारवादी समान रूप से सत्ता व संपत्ति हथियाने के चक्कर में हैं। पुलिस डंडे के बल पर वहाँ साम्यवादी व्यवस्था कायम नहीं कर पाई।⁶

भारत में मार्क्सवाद ने रूसी क्रांति के बाद से ही अपनी जगह बनानी प्रारम्भ कर दी थी। आजादी की लड़ाई में क्रांतिकारियों का एक बहुत बड़ा वर्ग मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित था। पंडित जवाहर लाल नेहरू, राम मनोहर लोहिया, मानवेन्द्र नाथ राय, नरेन्द्र देव, श्रीपद डांगे व राहुल सांकृत्यायन तो बहुत दूर तक इस विचारधारा को साथ लेकर चले, परन्तु इनमें से अधिकांश सवर्ण अभिजात्य होने के कारण, जाति और वर्ण के अंत की उसमें बात लाते-लाते उससे विमुख हो गए।

स्वयं पंडित नेहरू जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' के पृष्ठ 247 में लिख डाला कि "इस प्राचीन एवं व्यापक सामाजिक संगठन के टूट जाने से सामाजिक जीवन में बड़ी मुश्किलें खड़ी हो जाएँगी, लोगों की तकलीफें बड़े पैमाने पर बढ़ जाएँगी तथा व्यक्तिगत व्यवहार में लोगों में पागलपन का दौरा पड़ सकता है।"⁷

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्सवाद एक क्रांतिकारी विचारधारा होने पर भी वह भारतीय परिप्रेक्ष्य में असफल ही रही है। मार्क्सवाद की बागडोर यहाँ जिन हाथों में रही वह अपने अड़ियल स्वभाव और बहुत कुछ वर्ण और जाति का मोह त्याग न कर सकने के कारण कभी भी यहाँ के दलित मन का विश्वास पात्र नहीं बन सके हैं। इसके कारणों में जाते हुए राजेन्द्र यादव ने अपने एक साक्षात्कार में स्पष्ट किया है कि किताबी मार्क्सवादियों के यहाँ दलित या शूद्र शब्द नहीं है—शोषित और सर्वहारा है। उनका विश्वास था और मार्क्सवादी शास्त्र ने उन्हें बताया था कि सर्वहारा को श्रम, शोषण और आर्थिक दासता से मुक्त करने पर उसकी ओर परिणामतः सारे समाज की अन्य सारी समस्याएँ स्वयं हल हो जाएँगी। उन्होंने इस सर्वहारा को इसी तरह की राजनीति में प्रशिक्षित किया। वे यह भूल गए कि भारत में आर्थिक मुक्ति के साथ सामाजिक न्याय और अपमान से भी मुक्ति चाहिए। पश्चिम में बिल्कुल निचले तबके से उठा स्टालिन या लिंकन देश का सर्वोच्च नेता बन सकता है, मगर चमार जगजीवन राम प्रधानमंत्री नहीं बन सकता। मायावती और शिन्दे को मुख्यमंत्री स्वीकार करने में जिस तरह सवर्णों की नानी मर रही है, वह तुम देख ही रहे हो। वर्ग के साथ वर्ण व्यवस्था का विश्लेषण और पहचान न करने के कारण ही मार्क्सवादी भारतीय समाज को भीतर से कहीं भी नहीं बदल सका है। मार्क्सवाद यह भूल गए कि सर्वहारा के पास भौतिक रूप से खोने के लिए जाति-धर्म के संस्कार भी थे। काम की जगहों यानी मिलों-कारखानों में वे एकजुट थे, मगर घर-परिवार में जात-पात में बंटे हैं।⁸

कुछ यही कारण रहे हैं कि हिन्दी दलित आत्मकथाएँ मार्क्सवाद से लगभग अछूती ही रही हैं। चूँकि प्रत्येक दलित आत्मकथाकार, वर्ण और जाति के दंशों से बहुत गहराई तक आहत है। उनके सारे शोषण और उत्पीड़नों का कारण वर्ग नहीं वर्ण व्यवस्था और जातिवाद है, जो उन्हें मनुष्य होने का दर्जा भी नहीं देता।

संभवतः यही कारण है कि दलित आत्मकथाओं का मार्क्सवाद से दूर-दूर तक का नाता दिखाई नहीं देता। 'मैं भंगी हूँ', 'तिरस्कार', 'यादों के झरोखे', 'छांग्या रूख' और 'घुटन' जैसी तीन-चार हिन्दी दलित आत्मकथाएँ ही मार्क्सवाद की भाषा बोलती अवश्य दिखाई देती हैं, मार्क्सवाद का जिक्र भी उनमें रंच मात्र ही है।

भारतवर्ष में कम्युनिस्ट पार्टी की एक चिन्ता यह भी है कि जिन दलितों को उनके साथ आना था, वे उनका साथ छोड़कर अन्यत्र (जातिवादी पार्टियों में) कैसे चले गए। दलित आत्मकथाकारों-लेखकों ने अपने-अपने ढंग से इसके उत्तर दिए हैं। बलवीर माधौपुरी ने अपनी आत्मकथा 'छांग्या रूख' के अंतर्गत 'साहित्य और राजनीति के संग-संग' शीर्षक में मार्क्सवाद से अपने संबंधों के बारे में लिखा है कि 'मैक्सिम गोर्की के उपन्यास 'माँ' और तीन खंडों में उसकी जीवनी ने तो मुझे झिंझोड़कर रख दिया। हालात से जूझते मनुष्य की कामयाबी के बारे में सोचकर मन खुश हो जाता। मेरा झुकाव कम्युनिस्ट पार्टी की ओर हो गया। समाजवादी साहित्य को समझने की कोशिश करता। और, आखिर अपनी उम्र के उन्नीसवें-बीसवें साल (1974-75) में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का कारकून बन गया।' भारत जाति प्रधान देश है। यहां व्यक्ति कम्युनिस्ट हो, सोशलिस्ट हो या दक्षिणपंथी हो वह पार्टी में आकर बात अपने जाति हितों के आधार पर ही करता है। यह स्वाभाविक है, परंतु बहुधा एकल जातिहित/वर्चस्व देश के विविधतापूर्ण सामूहिक विकास को रोकता है। सामाजिक गत्यात्मकता स्थिरता में बदल लेता है। मार्क्सवाद और मनुवाद परिणाम में एक होने लगते हैं। आत्मकथा के 'जाति का मसला' शीर्षक में कम्युनिस्ट पार्टी से संबंध विच्छेद के संबंध में लेखक ने एक जगह प्रकाश डाला है कि स्थानीय कामरेड किस कदर जातिवादी मानसिकता से ग्रस्त थे और वे सवर्ण भावबोध के साथ दलितों से पेश आते थे। कामरेडों से दुर्व्यवहार करते, क्रांति को मन बहलाव का माध्यम मानते थे। मार्क्सवाद के प्रति दलित पीड़ा का यह जिक्र उस समय का है, जब माधौपुर के कामरेडों ने ज़मींदारों के खेतों में मज़दूरी बढ़ाने के लिए दलितों के साथ किये जेल भरो आन्दोलन को अपनी जाति के आगे झुकते हुए वापस ले लिया था—“हमारी बिरादरी के जेल गए कम्युनिस्ट हमदर्दों के बारे में कई दिनों तक बातें होती रहीं, हालांकि वे अपने घरों को लौट आए थे। कोई कहता यह सब पार्टी की लीडरी चमकाने के लिए है, कोई कहता ये सारे बड़े ज़मींदारों के कहे में आए हुए हैं।”⁹

शायद इसी तरह के कम्युनिस्टों के बारे में शरण कुमार लिम्बाले ने अपनी एक कविता में लिखा है—

मुख में मार्क्स पैदा होने से क्या,

घर में तो शंकराचार्य का विधान चल रहा होगा।

उसी प्रकार बिहार से आई पहली दलित आत्मकथा 'घुटन' में डॉ. रमाशंकर आर्य ने अपने कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ने के अनुभव कुछ यों बयौं किया है—“भारत का साम्यवाद भी सवर्णों के नेतृत्व में था, सर्वहारा का दर्शन सवर्णों की ऊर्जा पर ही ज़िन्दा था। सम्पूर्ण साम्यवाद ही सवर्ण पूँजीपतियों, इजारेदार, पूँजीपतियों और कुलक किसानों की गोद में फल-फूल रहा था। दलित कामरेड तो उसके हथियार थे, उनसे वर्ग दुश्मन को काटने के लिए और कट जाने के लिए मैं भी दलित था, मेरा भी इस्तेमाल वैसा ही होगा। मन उचट गया, मैं जहाँ था वहीं लौट आया।”¹⁰

दलित आत्मकथाकारों की मार्क्सवाद के प्रति दूरी के कारणों में जाते हुए 'यादों के झरोखे'

में डॉ. एम. एल. शहारे ने डॉ. अम्बेडकर द्वारा काठमांडू में दिए अपने ऐतिहासिक भाषण 'बुद्ध और कार्ल मार्क्स' में 'मार्क्स' के स्थान पर 'बुद्ध का मार्ग' उचित ठहराना भी माना है। अपने उक्त भाषण में डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि "कम्युनिज़्म पद्धति पाश्विक शक्ति पर आधारित है। कम्युनिस्ट पद्धति रूसवासियों ने राजी खुशी से नहीं अपनाई, यह उन्होंने भय के कारण अपनाई थी, वहीं भगवान बुद्ध का मार्ग जनता को बुरी चीज़ों से दूर रखना, तर्क से समझाना और सदाचार की शिक्षा देना है। यह ममता का मार्ग है।"¹¹

परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि दलितों के लिए मार्क्सवाद एक निरर्थक विचारधारा है। मुक्ति के रास्ते अलग-अलग होने पर भी मार्क्सवाद का लक्ष्य वही है, जो बुद्ध, अम्बेडकर और फुले का था। यह कटु सत्य है कि भारत में वर्ण और जाति अंत का सामाजिक सवाल ही अहम् है, परन्तु 'दलितों के प्रश्न केवल सामाजिक ही नहीं, आर्थिक भी हैं। दलितों के प्रश्नों का स्वरूप केवल सामाजिक दृष्टि से अलग-अलग दिखने पर भी उनका आर्थिक पक्ष नकारा नहीं जा सकता।'¹²

आज बहुत सारे मार्क्सवादी भी वर्ग की ज़िद छोड़कर जाति अंत की बात करने लगे हैं। एक स्थान पर प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं—“वर्ग संगठन अब महत्वपूर्ण नहीं है और वर्ग-संगठन के बिना हम जातीय समस्या हल कर लेंगे या जातीय समस्या का हल अब करना ही नहीं चाहिए, या कोई कहे कि जातीय समस्या अब हमारे लिए महत्वपूर्ण है ही नहीं, ऐसा सोचना सही नहीं है।”¹³

इसी प्रकार प्रसिद्ध दलित आलोचक तेज सिंह ने भी स्वीकार किया है—“जाति और वर्ग की अवधारणा को लेकर दलितों और मार्क्सवादियों में अनेक मतभेद हो सकते हैं और हैं भी कि जाति की जगह वर्ग को और सामाजिक की जगह आर्थिक परिस्थितियों को ज्यादा महत्व देते हैं, पर दोनों का कमोवेश उद्देश्य और लक्ष्य क्या एक नहीं है—जातिविहीन वर्गविहीन समाज का निर्माण करना? यह सही है कि जाति उनके एजेंडों पर उस तरह नहीं रही जिस तरह वर्ग रहा है। क्या केवल इसी आधार पर ही मार्क्सवादियों को अपना मुख्य दुश्मन मान लेना चाहिए, जबकि वर्तमान समय और परिस्थितियों में भी हमारा मार्क्सवाद दुश्मन नहीं हो सकता है और न होना ही चाहिए जिसकी पूरी-पूरी संभावनाएं इन दिनों साफ़-साफ़ दिखाई दे रही हैं, ज़रूरत सिर्फ एक सार्थक पहल करने की है। यह पहल दोनों तरफ से होनी चाहिए।”¹⁴

इसी तरह 'कथादेश' अक्टूबर, 2004 के पृष्ठ 31-32 में बजरंग बिहारी तिवारी को दिए एक साक्षात्कार में गुजराती दलित कवि और आत्मकथाकार नीरव पटेल ने कहा था—“मुझे यह जानकर अफ़सोस होता है कि कुछ दलित रचनाकारों, चिंतकों ने मार्क्सवाद को परम् शत्रु घोषित किया हुआ है, इसके विपरीत मैं मार्क्सवाद का परम् भक्त हूँ, जिस विचारधारा ने मानव गरिमा और मानव अधिकारों को स्थापित करने के लिए पूरी मानव जाति के इतिहास का अध्ययन एवं मूल्यांकन किया, शोषण और अन्याय की न केवल पहचान की बल्कि उसे जड़ से मिटाने की वैज्ञानिक सोच भी विकसित की। ऐसी विचारधारा से दलित साहित्य अप्रभावित कैसे रह सकता है।”¹⁵

इसके शुभ-लक्षण भी सामने आ रहे हैं। 'जूठन' के कृतिकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी ओर से एक सार्थक पहल करते हुए अपनी आलोच्य कृति 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में एक लेख अलग से लिखा है—'कब तक इन प्रश्नों से बचेगा मार्क्सवाद' जिसमें उन्होंने मार्क्सवादियों के दोहरे चरित्र की आलोचना करते हुए मार्क्सवाद के प्रति अपना दलित नज़रिया कुछ यों व्यक्त किया है—“दलित साहित्य न मार्क्सवाद का विरोधी है, न जनवाद का। दलित

रचनाकार उस दोहरी मानसिकता का विरोधी है जो बाहर से मार्क्सवादी, साम्यवादी और भीतर से फासिस्टों की पक्षधर है। शोषणविहीन समाज की परिकल्पना को साकार करने के लिए मार्क्सवादी विचारक 'वर्ग' के साथ 'वर्ण' को अपनी लड़ाई का लक्ष्य बनाने में ढुलमुल क्यों हैं? भारतीय समाज में 'वर्ण' एक सच्चाई है, जिसने सदियों से इस देश के जनमानस को सिर्फ टुकड़ों में ही नहीं बाँटा, उनके मानवीय सरोकारों को भी छिन्न-भिन्न किया है। भारतीय मार्क्सवादी, प्रगतिवादी, जनवादी इस सच्चाई से कब तक मुँह मोड़े रहेंगे। यह लड़ाई किसी एक व्यक्ति की नहीं, उन तमाम लोगों की है जो मनुष्य की बेहतरी के लिए चिंतित हैं। सहमति, असहमतियों के बावजूद साहित्य को अपनी भूमिका पूरी ईमानदारी और जिम्मेदारी से निभानी होगी, तभी शोषणमुक्त समाज की परिकल्पना साकार होगी।”¹⁶

उसी प्रकार 'तिरस्कार' में के. नाथ के यह विचार, “नए सामन्तवाद का उदय हो चुका है। सारा उद्योग पूँजीवादी ताकतों के पास है या तो कृषि भूमि और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो या फिर औद्योगिक साम्राज्यवाद पर रोक लगे। विदेशी कम्पनियाँ उपनिवेशवाद की ओर बढ़ रही हैं, बड़े-बड़े भू-माफ़िया गरीबों की बस्तियाँ उजाड़ कर बहुखंडीय इमारतें बना रहे हैं। गाँव के दलितों एवं छोटे किसानों की भूमि अर्जित करके विदेशी कम्पनियाँ उद्योग लगा रही हैं। दलित व छोटे किसान अपनी भूमि पर लगे उद्योग में मजदूर हैं। कम मूल्य पर उनकी भूमि को अर्जित करके भू-माफ़ियाओं ने उनकी ज़मीनें हड़प ली हैं, जबकि उनकी पैतृक भूमि पर लगने वाले उद्योगों में उनकी भागीदारी होनी चाहिए।”¹⁷ इत्यादि दलित परिपेक्ष्य में मार्क्सवाद के लिए शुभ संकेत हैं।

अभी हालिया प्रकाशित दो दलित आत्मकथा का डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' और डॉ. तुलसीराम 'मुर्दहिया' के भी मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट नेताओं के सम्बन्ध में अनुभव बुरे नहीं कहे जा सकते। डॉ. श्यौराज सिंह ने अपनी आत्मकथा में एक स्थान पर लिखा है, “उस शाम डॉक्टर मुझे चन्दौसी के कुछ सक्रिय वामपंथियों से परिचित कराने ले गए थे। सबसे पहले वे कामरेड भगवानदास शर्मा के घर ले गए। वे घर पर नहीं मिले। तब अरविन्द सक्सेना, का. बी. के. दत्ता और का. मदन दीक्षित एडवोकेट से क्रमशः मेरा परिचय कराया। चन्दौसी के पास जनैटा गाँव में दूल्हा खॉ नामक कामरेड रहा करते थे। रात के समय जाकर हम उनसे मिले। मकसद यह था कि मैं यदि आगे पढ़ाई कर सकूँ तो चन्दौसी में इन लोगों से मिल कर रह सकता हूँ। ये लोग अस्पृश्यता का बर्ताव नहीं करेंगे। हालाँकि, सभी कामरेड ऊँची जातियों से थे। खासकर ब्राह्मण, कायस्थ और मुसलमान। परन्तु दूल्हा खॉ सच्चे कम्युनिस्ट थे। वे जमींदार घर में पैदा हुए, वकील बने और मुरादाबाद में माकपा की नींव रखी। अलीगढ़ में उन्होंने सफाई कर्मचारियों को संगठित किया था और बिलारी क्षेत्र में भूमि चोर राजाओं से टकरा कर कुछ जमीन दलितों में बँटवाई थी। नगलिया जट के नत्थू चमार को उन्हीं ने ग्राम प्रधान बनवाया था। उनके साथ के पूरे संस्मरण रोक कर इतना बता रहा हूँ कि कालांतर में कामरेड दूल्हा खॉ की अन्तिम साँसें मेरी बाँहों में ही टूटी थीं।”¹⁸ इसी तरह डॉ. तुलसी राम ने 'मुर्दहिया' में लिखा है, “हमारे क्षेत्र में कम्युनिस्ट पार्टी का भी काफी जोर था। एक बार फिर वही पुराने सुरजन राम, चन्द्रजीत यादव, श्रीनाथ पथरकटवा के साथ कुछ अन्य पार्टी कार्यकर्ता हमारे गाँव आए और पिछले चुनाव की तरह हमारे घर के सामने वाली दीवार पर 'हंसिया बाली' का चिन्ह गेरू से बना दिया। उनकी मंडली ने एक क्रांतिकारी गाना गाया, जो इस प्रकार था :

ललका झंडा
मोटका डंडा
कब उठइवा बलमू
जमींदरवा लुटेरवा
कब भगइवा बलमू।

कहरवा धुन वाला यह गाना मेरे दिमाग पर अपनी अभिट छाप छोड़ गया। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक रूप से आजमगढ़ में हमेशा हलचल कायम रहती थी। मैं कम्युनिस्ट नेता तेजबहादुर सिंह से हमेशा प्रभावित रहा, उनसे मिलने अक्सर उनके घर चला जाया करता था। इस दौरान उनके नाती अरुण कुमार सिंह से मेरी गहरी दोस्ती हो गई जो आज तक कायम है। अरुण कुमार सिंह बी.एच.यू से बी.ए.एल.एल.बी करके आजमगढ़ में वकालत करते हैं। वे सन् 2009 के आम चुनावों में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी यानी सी.पी.आई. से लोकसभा का चुनाव लड़े थे, किन्तु असफल रहे। उन्हीं दिनों गोरखपुर विश्वविद्यालय में वकालत की पढ़ाई करने वाले सुखनंदन राम प्रायः अम्बेडकर हॉस्टल में आते और छात्रों को इकट्ठा कर मार्क्सवाद के बारे में बातें करने लगते। उनका भी मेरे ऊपर प्रभाव पड़ा था। बाद में विशेष रूप से उनके ही प्रभाव में मैं 25 मई, 1967 को नक्सलवादी आन्दोलन शुरू होने पर वैचारिक रूप से सशस्त्र क्रांति का अनेक वर्षों तक समर्थक बना रहा। सुखनंदन बड़े तर्क के साथ बातें करते थे। वे भी आजमगढ़ में वकालत करते हैं।¹⁹ यह उद्धरण दलित परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद के लिए शुभ संकेत हैं।

संदर्भ

1. कन्हड़े, सदा-मार्क्सवाद और दलित साहित्य, 'दलित कलम', 19 जून, 1993, पृ. 9 (मध्य प्रदेश प्रलेस लेखक संघ द्वारा प्रकाशित स्मारिका)
2. लिम्बाले, शरण कुमार—दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, वही, पृ. 64।
3. मणि, ब्रजरंजन-श्रमणवादी परंपरा मार्क्सवाद और फुले, 'हंस', अगस्त, 2002, पृ. 31।
4. कन्हड़े, सदा—मार्क्सवाद और दलित, वही, पृ. 13।
5. लिम्बाले, शरण कुमार—दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वही, पृ. 65-66।
6. जाटव, डॉ. डी. आर.—मेरी मंजिल मेरा सफ़र, वही, पृ. 72-73।
7. प्रसाद, चन्द्रभान—दलित साहित्य क्या है, 'वसुधा 58', पृ. 85।
8. यादव, राजेन्द्र—आत्मकथा और आत्मछलना के विभिन्न रूप, 'अपेक्षा', जुलाई—सितंबर, 2003, पृ. 70।
9. माधौपुरी, बलवीर—छांग्या रुख, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007, पृ. 19।
10. आर्य, डॉ. रमाशंकर—'घुटन', नेहा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007, पृ. 59।
11. शहारे, डॉ. एम.एल. 'यादों के झरोखे', श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृ. 80।
12. लिम्बाले, शरण कुमार—दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वही, पृ. 78।
13. शर्मा, डॉ. रामविलास—जाति, नवजागरण और मार्क्सवाद, 'पहल-5051', पृ. 4।
14. सिंह, डॉ. तेज—मार्क्सवाद और दलित साहित्य, 'पहल-75' पृ. 216।
15. पटेल, नीरव (बजरंग बिहारी तिवारी)—साझा संवाद बहुत कारगर होगा, 'कथादेश', अक्टूबर 2004, पृ. 30।
16. वाल्मीकि, ओमप्रकाश—दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001, पृ. 97।
17. नाथ, के. तिरस्कार, वही, पृ. 112।
18. बेचैन, डॉ. श्यौराज सिंह-मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2008, पृ. 412
19. डॉ. तुलसी राम मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1 वी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण: 2010 मूल्य: 183।

किस्से-कहानियों में हैं जिनके घर

अतुल कुमार सिंह

क्या चार दीवारों का घेरा ही घर होता है। यदि यह सच है तो वे लोग कहाँ सुकून की साँस लेते होंगे, जिनका कहीं घर नहीं है? देश में सैकड़ों समुदाय ऐसे हैं जिन्हें आज तक कोई पक्का ठिकाना नसीब नहीं हुआ। ये सिर्फ ठिकाने से वंचित नहीं हैं, बल्कि इनमें से कई समुदायों पर अपराधी और चोर होने की तोहमत भी थोप दी गई है।...कुल मिलाकर न पुख्ता जमीन, न मुक्कमल पहचान...बस ये यहाँ-वहाँ बाग-बगीचों में या सड़कों के किनारे डेरा डाले, साँस सँभाले दिख जाते हैं। देश भले ही इनकी सुध लेने में सुस्ती दिखाए, इन्होंने देश के प्रति प्रेम और उसकी अपराधी ठहराई गई जातियों ने अपने को पौराणिक कथा-कहानियों और देशभक्ति की गाथाओं से अपने को जोड़ रखा है। इनमें इनकी वीरता और त्याग-बलिदान के किस्से भरे-पड़े हैं। 3 मई, 2011 से मैं राजस्थान, गुजरात और मध्य प्रदेश के कुछ ऐसे ही समुदायों के जीवन और उनकी जिजीविषा का अध्ययन करने के लिए यात्रा पर निकला। इस क्रम में मैंने राजस्थान के बाड़मेर, जालोर, सिरोही जिलों, गुजरात के अहमदाबाद, खेड़ा, गाँधीनगर, बड़ोदरा और मध्य प्रदेश के बीना, विदिशा, अशोकनगर, गुना की यात्रा की। वहाँ स्थानीय संपर्क के लोग मिलते गए जिन्होंने मुझे घुमंतू, अर्धघूमंतू और विमुक्त जनजातियों के बीच ले गए। इस पूरी यात्रा के दौरान मैं उन्हीं समुदायों में रहा और उनके बारे में अनेक कथा-कहानियाँ, किंवदंतियाँ और आधुनिक काल में उनकी सामाजिक, आर्थिक स्थिति का हालचाल लेने की कोशिश की। आपको भी कुछ ऐसे समुदायों के बीच ले चलते हैं जो राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश में हैं। इन समुदायों की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक हालत बहुत ही बदतर हैं।

प्रभु का गुण गाकर दाल-रोटी जुटाते वैरागी

गुजरात, महाराष्ट्र मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश, राजस्थान में इनकी आबादी है। गाँवों

सम्पर्क : 14, समासपुर जागीर, पाण्डव नगर, दिल्ली-110092

में राम मंदिरों और शिव मंदिरों में पुजारी का काम इनका परंपरागत पेशा है। राम मंदिर में पुजारी के रूप में काम करने वाले बैरागी रामानंदी कहलाते हैं और शिव मंदिर में गोसाईं। गाँव में ही माँगकर खाते हैं, अस्थायी घरों में रहते हैं। अब यह पेशा धीरे-धीरे मंदा पड़ रहा है। कई लोग मजदूरी जैसे दूसरे काम करने लगे हैं। पढ़ाई-लिखाई का औसत 5 से 10 फीसदी तक है। वैसे तो यह समुदाय अन्य पिछड़ा वर्ग में है लेकिन खुद को ब्राह्मण मानता है। अहमदाबाद के बाहरी इलाके सिंगरवा तालुका दसकोरई में डॉ. जगदीशचन्द्र बलदेवदास आचार्य समाज के 5 फीसदी पढ़े-लिखे लोगों में हैं। इन्होंने अपनी परंपरा के बारे में बताया कि इनके पूर्वज अयोध्या में राजा दशरथ के पुजारी थे। बाद में राजा ने आदेश दिया कि देश भर में गाँव-गाँव घूमकर मंदिर बनाओ। पूजा करो और लोगों में भक्ति भाव उत्पन्न करो। तब से ही राजाज्ञा मान बैरागी लोग देश भर में फैल गए। गुजरात और महाराष्ट्र में यह समुदाय शुरू में आदिवासी श्रेणी में आता था। गुजरात राज्य के गठन के बाद यहाँ इन्हें आदिवासी आरक्षण कोटे में शैक्षणिक उद्देश्य के लिए 4 प्रतिशत आरक्षण दिया गया। लेकिन 1994 में यह कोटा खत्म कर दिया गया और इन्हें अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल कर दिया गया है।

नागों से अठखेलियाँ करते नाथपंथी मदारी

गाँव-गाँव घूमते और बीन बजाकर साँपों का खेल दिखाते सपेरों को किसने नहीं देखा होगा। ये नाथपंथी कहलाते हैं। यानी मच्छेन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि की परंपरा के। ये घुमंतू जाति के हैं। खेड़ा जिले के कपड़वंज तालुका के आंतरोल में मदारीवास है जहाँ करीब 40 परिवार मदारियों के हैं। 65 वर्षीय सोरनाथ बताते हैं कि उनके पूर्वज कनिप नाथ थे जो नौ नाथों में से एक थे। वैसे नाथपंथी पूरी सृष्टि की उत्पत्ति ही नाथों से मानते हैं। यहाँ से 30 किलोमीटर पश्चिम देहगाँव, जिला अहमदाबाद के पास गणेशपुरा में भी मदारीवास है। अब तो साँप रखने पर जुर्माना-जेल हो जाता है। पढ़े-लिखे लोग बहुत कम हैं। आर्थिक-सामाजिक स्थिति बदतर। इतनी बदहाली में भी आतिथ्य सत्कार में यह समुदाय पीछे नहीं रहता। घुमंतू और विमुक्त जनजाति का सर्वेक्षण कर रहे डॉ. जगदीशचन्द्र बलदेवदास आचार्य बताते हैं कि जब वे उनके मदारीवास पहुँचे तो स्वागत का कोई साधन न पाकर नाथों ने उनके गले में साँप की माला ही पहना दी। रोजी का साधन और बेटे से भी प्रिय उनके लिए साँप जो हैं।

प्रसिद्ध हिन्दी फिल्मों 'नागिन' और 'निगाहें' में सपेरा और नागिन की अठखेलियाँ आधुनिक युग की दिलचस्प किंवदंतियाँ हैं। इन फिल्मों में नाग-नागिन को नचाया था वडोदरा के अर्जुनभाई हेमनाथ मदारी ने। घुमंतू, अर्धघुमंतू और विमुक्त जनजाति आयोग के अध्यक्ष बालकृष्ण रेणके ने अर्जुन भाई का नाम एक जूझारू, कर्मठ और जानकार सहयोगी के रूप में सुझाया था जो मेरी काफी मदद करते। मेरी उनसे बातचीत हुई थी और उन्होंने सहयोग करने का पूरा आश्वासन दिया था। लेकिन यात्रा शुरू करने से पहले जब 2 मई को उन्हें फोन किया तो फोन उनके बेटे विजय ने उठाया और दुखद सूचना दी कि अर्जुन भाई 28 अप्रैल को इस दुनिया से विदा हो गए। हम 10 मई को उनके यहाँ पहुँचे पर उन्हें श्रद्धांजलि देने।

नवजात कृष्ण के लिए पिटारी बना मथुरा से भागे बांसफोड़ा

लोकश्रुति के अनुसार, बांसफोड़ा जाति के लोग मूलतः मथुरा के हैं। कृष्ण का जन्म होने के बाद जब जेल का फाटक अपने आप खुला और वासुदेव नवजात कृष्ण को कंस से बचाने

के लिए युमना पार नंद के घर में जाना चाह रहे थे तो बांसफोड़ों ने ही बहुत मजबूत, सुरक्षित और कलात्मक पिटारी रातोंरात बनाकर दी थी। बाद में कंस को बात पता चलने पर मारे जाने के भय से बाँसफोड़े मथुरा छोड़ अन्यत्र जा बसे।

बाँसफोड़ों का मुख्य काम बांस की वस्तुएँ बनाना है। गुजरात में गड़वा और डांडिया नृत्य में प्रयुक्त होने वाला माची और अनेक तरह के कलात्मक उपकरण जैसे—टोकरी, टोपला आदि बनाते हैं। अहमदाबाद में इन्हें फुटपाथ पर टेंट के घर में रहकर बाँस का उपकरण बनाते देखा जा सकता है।

सामाजिक अत्याचारों का पर्दाफाश करते नायक

करीब 500 साल पहले नायक समुदाय शिवपुर का औदिसहस्त्र ब्राह्मण था। उस समय किसी अन्य जाति की लड़की का अपहरण बादशाह ने करवा लिया। इन्होंने अपने गाने-बजाने की कला से बादशाह को खुश कर लड़की छुड़वा ली। लेकिन बादशाह को संतुष्ट करने के लिए इन्हें उस लड़की के हाथ का खाना, खाना पड़ा। इससे अन्य ब्राह्मणों ने इन्हें जाति बाहर कर दिया। इसके बाद इस समुदाय ने बउचरा माता की आराधना की, जिन्होंने इन्हें रूप बदलने में सिद्धहस्त होने का वर दिया। तब इन लोगों ने सामाजिक अत्याचारों की कथा बनाई और तब से माताजी का दिया डिब्बा लेकर गाते-बजाते माँगते चले आ रहे हैं। वर्तमान में बउचरा माता किन्नरों की देवी हैं। वर्तमान में यह पिछड़ा वर्ग की श्रेणी में घुमंतू जनजाति हैं। इनका पेशा स्वांग करना और भवई नृत्य करना है। शादियों में गाना-बजाना, कथावार्ता, रामलीला और इस तरह के अन्य परंपरागत नाटकों में ये प्रवीण होते हैं।

गुजरात में मारवाड़ को जीवंत बनाते बाओरी

बाओरी जनजाति के लोग गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और उत्तर प्रदेश में भिन्न-भिन्न नामों से निवास करते हैं। अंग्रेजी राज के जमाने में इन्हें अपराधी जातियों की श्रेणी में रखा गया था। अहमदाबाद के मोहन भाई बाओरी बताते हैं कि अंग्रेजों के जुल्म से बचने के लिए बाओरियों के समूहों ने जाति छिपानी शुरू की। और बदले में कुछ और बताने लगे। इनका काम सब्जी बेचना, ठेला लगाना और मजदूरी करना है। कई जगह सरकारी प्रयासों से ये स्थायी भी हुए हैं लेकिन बड़ी संख्या में घुमंतू ही हैं। इनमें आज भी कई तरह की कुरीतियाँ हैं। जैसे महिलाएँ सब्जी बेचती हैं और पुरुष घर में बैठकर शराब पीते हैं। पढ़ाई-लिखाई का रिवाज लगभग नहीं है। ये मूलतः राजस्थान के मारवाड़ से विभिन्न राज्यों में फैले हैं। इस समुदाय की महिलाएँ आज भी मारवाड़ी लिबास पहनती हैं और इनकी आपसी भाषा भी मारवाड़ी से प्रभावित है।

चाकू-छुरी तेज कराते सराणिया

दीवार फिल्म में आपने जया भादुड़ी को 'चाकू-छुरी तेज करा लो' गाना गाते जरूर सुना होगा। इस सीन में जया ने जो कपड़े पहने और चाकू-छुरी तेज करने का काम कर रही है वह सराणियाँ नामक जाति का पेशा और परंपरागत पोशाक है। गाँधीनगर में इनकी कई बस्तियाँ हैं। सराणियाँ लोगों का मुख्य पेशा घरेलू औजारों पर शान चढ़ाने का काम करना है। दिन निकलते ही ये लोग कंधे पर या साइकिल पर शान चढ़ाने की मशीन लेकर निकल पड़ते हैं। अक्सर इनकी मशीन साइकिल पर ही बँधी होती है। यही इनके गुजर का मुख्य साधन होता है। वैसे कुछ

लोग अन्य कामों में भी अपना हाथ आजमा रहे हैं। पढ़ाई लिखाई की संस्कृति इनके बीच नहीं है। वैसे कही सुनी बातों को मानें तो देह व्यापार भी इस समुदाय में एक कुरीति के बतौर मौजूद है।

रजवाड़ों की पगड़ी बाँध आगे बढ़ रहे हैं मांगणियार

केसरिया बालम आओ जी, पधारो म्हारे देश। तीन-चार लोगों की टोली। साथ में हामोनियम, नगाड़ा, कमायचा, खरताल, मोरचंग, ढोलक, वीणा। जबान पर यजमान राजा, राजघराने की विरुदावली गाते ये हैं मांगणियार। घुमंतुओं में से एक जाति मांगणियारों की पहचान अपने आप हो जाती है। राजस्थान के कई इलाकों में ये मांगणियार आज भी अपनी पहचान बचाए पुराने राजघरानों की यशोगाथा गाते हैं। बाड़मेर जिला मुख्यालय से 7-8 किलोमीटर पश्चिम विशाला रोड पर गेहूँ गाँव में मांगणियारों के तीन परिवार हैं। जब हम 4 मई, 2011 को बाड़क से उस गाँव की सीमा में पहुँचे तो पहली मुलाकात सड़क किनारे एक झोपड़ीनुमा घर से हुई। वहाँ पहुँचने पर पता चला कि यह इन्दर सिंह राजपूत का खेत का घर है। मूल आवास वहाँ से कुछ दूर है। भीषण गर्मी थी और तीन लोग घर में हैं। मांगणियारों के बारे में पूछने पर उन्होंने उसी गाँव में कुछ दूरी पर पता बताया। वैसे उनकी धारणा है कि मांगणियार अब गाँव में इसलिए नहीं रहते कि लाख-लाख रुपये के किराये पर बाहर बड़े शहरों में गा-बजा रहे हैं।

परम्परा ढोते परिवार

उनके बताए जगह पर पहुँचने पर टूटा-फूटा एक अधपक्का घर और एक फूस का घर मिला। कुछ बकरियाँ आसपास थीं। यह 60 वर्षीय सुग्गा खान का परिवार है। वैसे देखने में सुग्गा खान गरीबी के कारण 80 के लगते हैं। पड़ोस में उनके भाइयों का परिवार है। सुग्गा खान के पुत्र सरूप खान 22 साल के हैं। आठवीं तक पढ़े हैं। परिवार में एक बेटी और पत्नी है। सरूप खान बताते हैं कि साल में चार महीने शादी-ब्याह का सीजन होता है और उसी में इन्हें गाने-बजाने का मौका मिलता है। एक शादी में पाँच हजार से दस हजार रुपये के बीच औसत आमदनी होती है जिसमें पूरी टोली के 4 से 6 कलाकार तक शामिल होते हैं। एक सीजन में 10 शादियाँ औसतन एक टीम को मिल जाती हैं। इनकी स्थिति वैसे तो बहुत ही दयनीय है लेकिन मुसलमानों में दलित श्रेणी न होने से इन्हें अन्य पिछड़ा वर्ग में रख गया है।

साथ में उम्मेद सिंह रैबारी हैं जो जयपुर से आकर बाड़मेर में साथ हो गए। राजस्थान में विभिन्न समुदायों से संपर्क के वह प्रमुख सूत्र रहे। उनके साथ भँवरलाल हैं जो बाड़क चला रहे थे। हम तीनों के आग्रह पर सरूप खान हारमोनियम, नगाड़ा ले आए। कुछ और लड़के भी आ गए जिनकी उम्र 20 साल के आसपास है। ये सब 10वीं फेल हैं। परंपरागत वाद्य यंत्र लाने के आग्रह पर कमायचा लाया गया। कमायचा कुछ टूटा हुआ है। प्रतीत होता है काफी दिनों से उपयोग नहीं हुआ। कलाकारों का कहना है कि ये पुराने वाद्य हैं। अब तो हारमोनियम से ही काम चल जाता है। पूरी टोली जब मिलकर बैठी तो जम गई मंडली। सुग्गा खान कमायचा पर हैं। राजस्थान का बहुश्रुत स्वागत गान 'केसरिया बालम आओ जी, पधारो म्हारे देस' समधुर स्वर में संगीत के साथ गाया। फिर एक और फिल्मी धुन का गाना। मांगणियारों की संगीत मंडली उपरोक्त वाद्यों का कुशलतापूर्वक उपयोग करते हुए विरह गीत, सौंदर्य गीत,

वीर रस के गीत और मरु प्रदेश की विशिष्ट सांस्कृतिक रस्मों रिवाज की भावपूर्ण प्रस्तुति करने में पारंगत है।

धर्म-जाति का विचार

इस टीम के सभी सदस्यों ने बताया कि वे जैसे तो मुस्लिम परंपरा के निकट हैं लेकिन हिंदू देवियों की पूजा करते हैं और हिन्दुओं के लगभग व्रत त्योहार जैसे होली-दीवाली मनाते हैं। इसका कारण उनके यजमान हैं जो अमूमन हिन्दू होते हैं। गेहूँ गाँव से वापस बाड़मेर में एक मांगणियार परिवार के 30 वर्षीय अली खान ने भी इसकी पुष्टि की। शाम को अली खान के चाचा को देवी गीत गाते सुनकर पूछने पर पता चला कि उन्होंने अपने घर पर देवी का एक मंदिर भी बना रखा है। हालाँकि नए लड़कों ने जोर देकर कहा कि हम लोग मूलतः तो मुसलमान ही हैं और इस्लाम को ही मानते हैं। यह चेतना आधुनिकता से संपर्क में आने पर उपजी लगी।

राठौड़ों-परमारों की पगड़ी

मांगणियार का सामान्य अर्थ होता है माँगनेवाला। इन मांगणियारों का भी यही कहना है कि उनके पुरखे राजाओं और गाँवों के सामन्तों के आश्रित होते थे। उनका मनोरंजन करते और उन्हीं का दिया खाते। इससे मांगणियार कहलाए। इसी दौरान हर सामंत या राजा ने अपने मांगणियारों को चिह्नित कर लिया। इन्हें अपनी पगड़ी की इजाजत दे दी। तब से मांगणियार समुदाय किसी न किसी राजा के नाम की पगड़ी है। अली खान ने बताया कि उनके यहाँ राठौड़ों की पगड़ी पहनी जाती है। हालाँकि कई गाँवों का जिक्र उन्होंने किया जहाँ परमारों व अन्य राजवंशों की पगड़ी पहनी जाती है। इस तरह रियासत और राजवंश तो अब नहीं रहे पर उनकी आन-बान-शान की निशानी पगड़ी मांगणियार सँभालते चलते हैं।

कुरीतियाँ

मांगणियारों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति बहुत ही दयनीय रही है। लेकिन कला के मामले में ये काफी संपन्न रहे हैं। मांगणियार महिलाएँ भी वाद्ययंत्र बजाने और गाने में प्रवीण होती हैं। सुग्गा खान की पत्नी 55 साल की होंगी। उन्होंने गाने और नगाड़ा बजाने की बात स्वीकारी। वह गाने-बजाने को भी तैयार हो गईं। लेकिन पड़ोस के आए लड़कों ने उन्हें गाने-बजाने से यह कहकर रोक दिया कि हमारी महिलाएँ दूसरों के सामने नहीं गाएँगी-बजाएँगी। उन्होंने घर की महिलाओं को अंदर भी कर दिया। यह परिवर्तन समुदाय की नई पीढ़ी में जागरुकता आने के बाद देखी जा रही है। पुरानी पीढ़ी में इस तरह का आग्रह नहीं है। पढ़ने-लिखने का माहौल खास नहीं दिख रहा। बचपन में ही बच्चे गाने-बजाने की टोली में शामिल हो जाते हैं। शादियाँ भी बहुत कम उम्र में होने का प्रचलन है।

भविष्य

अली खान को अपने परंपरागत पेशे का भविष्य उज्ज्वल दिखता है। हालाँकि समुदाय के कुछ लोगों को आधुनिक संचार माध्यमों और तकनीकों जैसे सीडी, टीवी आदि से अपनी कला के खत्म होने का भय है तो कई इससे इनकार करते हैं। कुछ तो इस परंपरागत शैली का लोप

होते देख रहे हैं। उनके अनुसार सही सम्मान और सुविधा न मिलने से यह कला नष्ट हो रही है और कलाकार मजदूरी आदि दूसरे रोजगारों की खोज में लग गए हैं। अली खान भी इनमें शामिल हैं। उनका कहना है कि हमारी पहचान हमारे पोशाकों, हमारी विशिष्ट शैली और परम्परागत रिवाजों के कारण है जो सीडी और टीवी से कम नहीं हो सकती। हमारे गाने के भाव अपने होते हैं और उसे अलग से पसंद किया जाता है। अली खान कई तरह की परम्परागत और आन्तरिक समस्याएँ गिनाते हैं जिनमें बाल विवाह, दहेज, शिक्षा के बिलगाव, नशाखोरी आदि हैं।

पशुपालन से दूर हो रहा पशुओं के साथ जीने वाला समाज

पश्चिम भारत में एक ऐसा समुदाय है जिसका मुख्य पेशा पशुपालन है। ये अर्धघुमंतू समुदाय है। यानी इनके स्थाई घर-बार होते हैं। लेकिन साल के लगभग 6 से 8 महीने तक ये अपने पशुओं के साथ चारे और पानी की खोज में घूमते ही रहते हैं। राजस्थान में इन्हें रैबारी, देवासी कहा जाता है तो गुजरात में मालधारी।

रैबारी समुदाय के लोग सभी राज्यों में अन्य पिछड़ा वर्ग की श्रेणी में रखे गए हैं। गेहूँ गाँव में 25-30 परिवार रैबारियों के बताए गए, लेकिन उनसे मिलने का मौका नहीं मिला। रैबारियों में पशुपालन का काम आधुनिक विकास की मार से प्रभावित हो रहा है। एक ओर पशुओं के लिए चारे और चारागाहों की कमी होती जा रही है तो दूसरी ओर देश में बन रहे नित नए कानूनों से भी वे और उनके पशु संकट में हैं। वन कानूनों में संरक्षित और रिजर्व जंगलों में जाने से मनाही है और सार्वजनिक चारागाहों की भूमि पर माफियाओं का कब्जा। इससे यह समुदाय अब धीरे-धीरे पशुपालन क पेशे से विरत हो रहा है। उम्मेद सिंह बताते हैं कि इस समुदाय ने देश को आठ किस्म की गायें दी हैं। इनमें ऐसी भी प्रजाति हैं जो राजस्थान की 40 डिग्री के तापमान और कम पानी मिलने की स्थिति में भी 8 लीटर तक दूध दे सकती हैं। इनकी पशुओं में गाय-बैलों के अलावा बड़ी संख्या में भेड़-बकरियाँ भी होती हैं। लेकिन ये नस्लें अब नष्ट हो रही हैं और इस समुदाय के लोग पशुओं को बेचकर शहरों और गाँवों में बस रहे हैं और दूसरे रोजगार तलाश रहे हैं। वैसे थोड़े-बहुत रैबारी अब भी पशुओं को लेकर घूम रहे हैं। मध्य प्रदेश के विदिशा और बीना गाँव के लोगों ने बताया कि अप्रैल से जून के बीच पशुपालक अब भी आते हैं। जून में बारिश गिरने पर वापस राजस्थान चले जाते हैं।

बाड़मेर शहर से करीब 65 किलोमीटर पूरब सिणधरी तालुका से 35 किलोमीटर और पूरब-उत्तर सिवाणा पंचायत समित इलाके के आगे मिठौरा पंचायत इलाके में बाड़मेर का सारा मीठा पीना जमा है। रैबारी समुदाय का पशुओं से कितना प्रेम और प्राकृतिक रिश्ता है, यह इसी से साबित हो जाता है कि पशुओं की रक्षा में शहीद हुए पशुपालकों को समाज ने शहीद और भगवान का दर्जा दे रखा है। सिवाणा और बालोतरा पंचायत समिति की सीमा पर ही बिल्कुल रेगिस्तान और धोरों (रेत के टीले) के बीच पतली सड़क के किनारे घुड़सवार दो योद्धाओं की मूर्तियाँ बनी हैं। इन्हें मोमाजी कहा जाता है। किसी युग में ये दोनों भाई लुटेरी फौजों से अपनी गायों को बचाने के क्रम में लड़ते हुए शहीद हुए हैं। आज इनकी पूजा होती है। पुजारी को भोंपाजी कहा जाता है। यहाँ भी एक भोंपाजी हैं जो सिवाणा कस्बे से ही हमारे साथ आ गए थे। वैसे उनका स्थाई निवास और परिवार यहीं बस गया है। भोंपाजी ने टेका लगाया और उनके ऊपर मोमाजी आ गए। पूरा शरीर काँपने लगा। भीषण गर्मी में भी मिरजई पगड़ी पहने भोंपाजी आसन पर बैठे काँप रहे हैं। करीब आधे घंटे तक उन्होंने वहाँ आए कई

गृहस्थों के पशुओं की विभिन्न समस्याओं का समाधान बताया। कुछ को पूजा देने की शर्तें भी लगाईं। फिर मिश्री और नारियल का प्रसाद वितरण हुआ।

रैबारी समुदाय में जागरूकता आई है और सामाजिक-राजनीतिक-शैक्षणिक रूप से इनमें विकास भी हुआ है लेकिन पशुओं का साथ छूटता जा रहा है। बाड़मेर, जालौर और कई शहरों में समाज में चंदे से हॉस्टल बने हैं जहाँ समुदाय के छात्रों के रहने की सुविधा कम पैसे में हो जाती है। राजस्थान में पिछले विधानसभा चुनाव में इस समुदाय के दो विधायक पहली बार निर्वाचित हुए हैं। एक कांग्रेस और एक भाजपा से।

पशुओं से रैबारियों का नाता टूटते जाने और जंगलों में जाने पर रोक लग जाने से केवल इस समुदाय का पेशा ही नहीं छिना बल्कि जंगलों और जंगली जानवरों का नुकसान भी हुआ है। उम्मेद सिंह बताते हैं कि पशुओं के साथ जंगल में रहने से एक तो समुदाय के पशुपालकों को चारे के लिए विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता था, वहीं इनके पशुओं के झुंड से बीच-बीच में एकाध का शिकार कर जंगली जानवर यथा बाघ, शेर भी पलते रहे हैं। अब जंगल में इनके न जाने से बाघों-शेरों पर जो संकट आया है वह जगजाहिर है।

देश के कई राज्यों में गोचर भूमि पर अवैध रूप से कब्जे बढ़े हैं। कई जगहों पर बकायदा राज्य सरकारों ने इस जमीन को अवैध रूप से रूपांतरित कर इसे बेच दिया है। इन दिनों गुजरात, राजस्थान, पंजाब और झारखंड में गोचर भूमि के अवैध हस्तांतरण को लेकर सुप्रीम कोर्ट में मुकदमे चल रहे हैं। कई मामलों में सुप्रीम कोर्ट ने सकारात्मक अंतरिम आदेश भी दिए हैं। लेकिन भू-माफियाओं और कंपनियों से यह भूमि वापस कराना एक चुनौती बनी हुई है।

देश को नमक खिलाकर खुद अपराधी बन गए भाट-बनजारे

सिणधारी में राष्ट्रीय राजमार्ग के किनारे बनजारा मरुभारों का वास है। इनके करीब 10 परिवार यहाँ झोपड़ीनुमा कच्चे-अधपक्के घर बनाकर रहते हैं। यह लोग करीब 15 साल पहले गोचर भूमि पर आकर बस गए थे। इनके कुनबे के सामने ही सिणधारी-बाड़मेर संरक्षित वनक्षेत्र है।

रक्ता राम (36) इसी कस्बे में हैं। इनके 5 बच्चे हैं। माँ भी है और 3 भाई तथा 3 बहनें हैं। परंपरागत रूप से यह समुदाय नमक बनाने का काम करता था। मुल्तानी मिट्टी से नमक बनाना और उसे गधों, ऊँटों पर लादकर देश के अन्य हिस्सों में बेचना। अंग्रेजों ने जब 1757 में पलासी की लड़ाई जीत कर बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी हासिल की तब उसने देश के इस नमक पर भी कर लगाया। तब इन लोगों के नमक बनाने और बेचने को अवैध घोषित कर दिया गया। कर लगने के बाद नमक की कीमत बेतहाशा बढ़ी और देसी रूप से नमक बनाने वालों का धंधा चौपट होने लगा और गैरकानूनी घोषित हो गया। लेकिन रोजगार के अभाव में भुखमरी के कारण बनजारों ने नमक बनाने और बेचने का काम जारी रखा। इस कारण यह समुदाय अंग्रेजों का कोपभाजन बना और अपराधी जाति की श्रेणी में डाल दिया गया। अब ये लोग चोरी चुपके नमक का व्यापार करने लगे। विस्तृत जानकारी के लिए ब्रितानी लेखक रॉय मैक्सहम की नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक 'द ग्रेट हैज ऑफ इंडिया' पढ़ी जानी चाहिए। इस पर एक शोध पत्र इरपिंदर भाटिया ने लिखा है जो गाँधी मार्ग, नई दिल्ली के वर्ष 50 अंक 6 में प्रकाशित हुआ। मैक्सहम की पुस्तक का एक अंश गाँधी मार्ग के ही वर्ष 53, अंक 2 में भी प्रकाशित है।

आजादी के बाद अब तो कंपनियों द्वारा अत्याधुनिक फैक्टरियों में बेहतर तकनीक से नमक बनने के बाद तो इनका तस्करी का धंधा भी चौपट हो गया। रक्ता राम कहते हैं कि

अब तो कोई हमारा नमक खरीदता ही नहीं तो कानून का क्या मतलब। अब तो यह रोजगार भी खत्म हो चुका है। ये लोग बकरी पालते हैं और मजदूरी करते हैं। इन्हें राज्य सरकार ने अन्य पिछड़ा वर्ग में रखा है।

सामने जंगल का क्षेत्र है हालाँकि इसे कोई मुश्किल से ही जंगल कह सकता है। चारों ओर से बाड़ लगे हैं और अंदर केवल जूलियो फ्लोरा (कैक्टस) के पेड़ हैं। इसके बावजूद इन्हें बकरियाँ चराने की अनुमति नहीं। चोरी-छुपे ये कुछ लकड़ी काट लाते या बकरी चराते हैं। पकड़ जाने पर प्रति बकरी 25 रुपये का चालान भरना पड़ता है।

बनजारों की कई उपजातियाँ इस इलाके में हैं—गोड़ बनजारा जो दलित श्रेणी में हैं। लवाणा बनजारा, बावनिया बनजारा, बागोंरा बनजारा और मारू बनजारा अन्य पिछड़ा वर्ग में हैं। भाट बनजारा पूर्व की अपराधी जातियों की श्रेणी में हैं। भाट शब्द जुड़े होने के कारण सरकारी कागजों में इन्हें पोथी याचक भाट के साथ मान लिया जाता है। राजस्थान सरकार ने विशेष पिछड़ा वर्ग बनाने की घोषणा की है, जिसमें गूजर, बनजारा, गाड़िया लुहार और रेबारियों को रखा गया है। भाट भी इस श्रेणी में आने की जद्दोजहद कर रहे हैं। इस समुदाय में गरीबी, अशिक्षा चरम पर है। घुमंतू जाति है लेकिन अब धीरे-धीरे स्थाई हो रही हैं। गरीबी रेखा से नीचे की सूची में कुछ परिवारों को ही रखा गया है। यह जमीन चूँकि गोचर भूमि है इसलिए सरकारी अधिकारी बीच-बीच में कुछ घरों को तोड़ भी गए और इनसे हटने का दबाव बना रहे हैं पर वैकल्पिक व्यवस्था किए बिना।

दुनिया को भविष्य बताने में अपना भविष्य भूल गए डाकोत

जालौर शहर के बाहरी इलाके में रेलवे फाटक के पास खुले मैदान में एक-दो पेड़। उसके पास के शहर के अंदर जाती सड़क है। उसके किनारे मैदान में दो परिवार तंबू ताने हुए हैं। तंबू भी जैसे-तैसे कुछ सामानों का ढँकने भर का है। रात में सोने के लिए खुला मैदान है, बरसात आने पर तंबू काम आता है। 6 मई, 2011 की शाम 4 बजे मैं और उम्मेद सिंह उनके ठिकाने पर पहुँचे। ताराराम वरदाराम रंगासामी पेड़ की छाँव में सो रहे हैं। दो-तीन बच्चे खेल रहे हैं। दूसरे तंबू से निकल कर प्रकाश आते हैं। वे रंगासामी के दामाद हैं। उनकी बेटी और उसके बच्चे भी यहीं हैं। रंगासामी की पत्नी कहीं गई हैं। रंगासामी की उम्र 50 के आसपास होगी।

रंगासामी और उनके दामाद प्रकाश कुछ भी पूछने पर पहले बातों को तौलते हैं, मानो हम उनसे अपना भाग्य बँचवाने आए हों। गरजते हैं। दबाव में लेने की कोशिश करते हैं। किसी श्रेणी में आते हैं, पूछते ही दोनों ससुर-दामाद ताव में आ गए। ये जो ब्राह्मण लोग ज्योतिष का काम करते हैं। पतरा-पोथी बाँचते हैं और लग्न-राशि फल बताते हैं। हम भी वही काम करते हैं। हम भी ब्राह्मण ही हैं। खैर, कई तरह से पूछने पर अपने को नायक-भील श्रेणी की जाति डाकोत का बताया। यह जाति अनुसूचित जनजाति श्रेणी में रखी गई है। घूम-घूम कर अपने यजमानों के घर जाकर उनका भविष्य बताना और वहाँ से माँगकर खाना उनका पेशा है। इनके यजमानों का इलाका जालौर जिले में ही पूरा हो जाता है। वैसे रंगासामी को राजस्थान सरकार की ओर से यहाँ से कुछ अलग हनुमान कॉलोनी में प्लॉट मिला है, जिसमें उनका घर भी है। लेकिन इनकी परंपरागत जीवन शैली, रोजगार के स्रोत और यजमानों से संपर्क रखने की मजबूरी इन्हें होली से बरसात तक घुमंतू बनाए रखती है। पेयजल स्थानीय स्रोत से लेते हैं। इनके बच्चों को घर पर शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। नामांकन के समय सरकारी खानापूर्ति होती जरूर है लेकिन इसके बाद इनके बच्चे स्कूल नहीं जाते।

बातचीत में जातीय अहंकार उठ जाता है। अपने को पिछड़ा व गरीब मानने को तैयार नहीं हैं रंगासामी महाराज। जमीन के प्लॉट इस समुदाय के लोगों को मिले हैं लेकिन वैध पट्टे की समस्या बनी हुई है। सरकारी कर्मचारी विभिन्न तरह के कागजात सबूत के तौर पर माँगते हैं जो इनके पास होते ही नहीं हैं। दुनिया का भविष्य वाचन तो ठीक पर इनके भविष्य को भी एक दिशा की जरूरत है।

अपने ही पूर्वजों के जंगल में गुनाहगार हो गए गरासिया

राजस्थान के सिरौही जिले के सिरौही रोड स्टेशन के पास का कस्बा पिंडवारा है। पिंडवारा से उदयपुर, चित्तौड़गढ़, कोटा होते हुए राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या 76 मध्य प्रदेश के शिवपुरी जिले तक जाती है। इसी सड़क पर पिंडवारा से 18-20 किलोमीटर पूरब की ओर सड़क की बाईं ओर पहाड़ों की गोद में बसा है घरट गाँव। पहाड़ का नाम भी पहाड़ी कला है। गाँव भी पहाड़ी जमीन पर है। एक घर कुछ ऊँची पहाड़ी पर तो दूसरा नीचे घाटी में। सरकारी स्कूल भी हैं और उसमें शिक्षक भी। पर इस गाँव का कोई बच्चा शायद उस प्राइमरी और मिडिल स्कूल की पढ़ाई पूरी नहीं कर पाया है। कुछ दूरी पर वन क्षेत्र शुरू हो जाता है। अलग से देखने पर ऊँचे पहाड़ों पर तो कुछ झाड़ियाँ ही नजर आती हैं और वहाँ जाना भी वन विभाग की ओर से प्रतिबंधित है। लेकिन घरट की निवासियों का कहना है कि उनमें अनेक प्रकार के पेड़, झाड़ियाँ और दूसरे पौधे भी हैं।

घरट में कुछ-कुछ दूरी पर पर कुछ झोपड़ीनुमा घर बने हैं। इनमें गरासिया जनजाति के लोग रहते हैं। गरासिया जनजाति अंग्रेजों के काल में अपराधी जाति के तौर पर सूचीबद्ध थे। इन घरों में एक वनाराम का है। वनाराम घर में नहीं थे। उनकी पत्नी शांति देवी और उनके तीन छोटे-छोटे बच्चे हैं। शांति देवी अपनी उम्र नहीं जानतीं। 30 साल लगभग बताती हैं। हालाँकि होंगी कुछ कम की ही। मेरे साथ पिंडवारा निवासी माणकलाल देवासी हैं। देवासी शिक्षक हैं और रेबाड़ी जाति के हैं जो खुद अर्धघुमंतू जाति है। देवासी चूँकि इसी गाँव में स्कूल में शिक्षक हैं इसलिए यहाँ से परिचित हैं और मुझे लेकर आ गए। वह बताते हैं कि बिना परिचय आने पर यहाँ कोई बात नहीं करेगा। यहाँ आना भी खतरनाक है। दूसरा घर सवाराम का है। उनकी 18 साल की बेटी वहीं बैठी है जिसका एक बच्चा भी है। विवाह में लगभग गंधर्व विवाह की ही परंपरा है। लड़का-लड़की के परिवारों में समझौता होता है और कुछ जुर्माना-भोज आदि देकर मामला रफा-दफा। वे पति-पत्नी के रूप में रहने लगते हैं। सवाराम के 7 बेटे और 3 बेटियाँ हैं। तीसरा कुसाराम का घर है। उनकी उम्र 35 साल है। एक बेटा और एक बेटी है। यहीं खनाराम 22 साल के हैं और 12 साल पहले गंधर्व पद्धति से ही इनका विवाह हो चुका है। 5 बच्चे भी हैं। इस तरह गाँव में गरासिया जनजाति के 10 मोहल्ले हैं और हर मोहल्ले में करीब 80 घर हैं। ये लोग साल में करीब 4 से 6 महीने तक काम की तलाश में बाहर ही रहते हैं। यहाँ आते हैं फिर निकल पड़ते हैं। यहाँ रहने पर काम नहीं है। कुछ दिन का काम पिंडवारा में होता है। लेकिन यह अपर्याप्त है। यहाँ पर काम के नाम पर इलाके के पत्थर निकालकर जमा करना है जिसे ठेकेदार कुछ दिन में कुछ पैसा देकर ले जाते हैं। पहले जंगल से लकड़ी लाते थे। लेकिन अब वहाँ जाने पर कड़ा प्रतिबंध है। चोरी-छुपे कभी अँधेरे में लकड़ियाँ ले आते हैं। पशुओं के लिए कुछ चारा भी लाते हैं लेकिन सब मुँह अँधेरे। बकरियाँ हैं लेकिन उसे जंगल में ले जाना मना है। पकड़े जाने पर 50 से 100 रुपये प्रति बकरी जुर्माना देना पड़ता है। खेत है नाम का। कुछ बोते हैं लेकिन पथरीली भूमि के

कारण बहुत अच्छी उपज नहीं होती। बरसात हो तो ही कुछ बाजरे की उपज हो जाती है।

बरसात न होने का सारा दोष गरासिया समुदाय जैन समाज पर थोपता है। पता नहीं कहाँ से जैन धर्म के सिद्धांतों से इनका इस रूप में परिचय होता है। जैनधर्म में पानी को एक जीव निकाय माना गया है। इसलिए बरसात के चार मास में साधु विचरण नहीं करते। वे चातुर्मास किसी एक जगह में ही करते हैं। जल जीव निकाय की हिंसा न हो इसलिए कम से कम पानी का उपयोग करते हैं और पानी में नहीं चलते। बरसात हो जाए तो रास्ता सूखे बिना साधु उस पर गमन नहीं करते। यह सिद्धांत परंपरा से गरासिया में इस तरह आया कि पानी बरसने से नए तूण, पौधे उगते हैं। उनकी हरी पत्तियाँ आती हैं जिसे देखना जैन साधुओं के लिए वर्जित होता है। इसलिए साधु समुदाय तंत्र-मंत्र और टोना-टोटका कर इंद्र भगवान को बाँध देते हैं क्योंकि पानी से उनका मंत्र भंग हो जाता है। साधु लोग हरियाली देखना नहीं चाहते। इसलिए वर्षा नहीं होती। आदि। इस अनावृष्टि के लिए जैन साधुओं को जिम्मेदार ठहराकर यह समुदाय यदा-कदा जैन गृहस्थों के घरों पर हमले भी करते आए हैं। साधुओं का दोष गृहस्थों पर क्यों? इसका जवाब देते हुए देवासी ने बताया कि ये लोग गृहस्थों पर दबाव बनाते हैं कि वे अपने साधुओं को इंद्र को बंधनमुक्त करने और वर्षा होने देने के लिए समझाएँ। इसी अंधविश्वास के कारण कुछ साल पहले पिंडवारा के पास रोहिडा के जैन स्थानक में गरासिया समुदाय ने हमला कर दिया था। इस विवाद में पुलिस को फायरिंग करनी पड़ी जिसमें 5 लोग मारे गए थे। हालाँकि अब नई पीढ़ी धीरे-धीरे इस कुरीति को समझने लगी है और पूछने पर कुसाराम हँसते हुए कहते हैं कि ऐसा अब नहीं होता है। पास में ही नाना तीर्थ है बामनवारजी सिरोही के पास।

गरासिया समुदाय के अपने रीति-रिवाज, कानून, समाज-व्यवस्था और जीवनचर्या है। जंगल से छिपकर लाई लकड़ी बेचकर ये पशुपालक जातियों जैसे रैबारियों से छाछ खरीदकर पीते हैं। गाँवों के इनके कबीले हैं। एक गाँव का व्यक्ति अगर दूसरे गाँव में जाकर समाज के बीच अपराध करे तो पीड़ित गाँव का गरासिया कबीला अपराधी के पूरे गाँव पर हमला कर देता था। साथ ही हमलावर लोग गाँव को आग लगा देते थे। इसमें अपराधी के गाँव के लोग भाग खड़े होते थे। अगर किसी के घर में काम करते हुए या किसी भी तरह की दुर्घटना में किसी व्यक्ति गरासिया की मौत हो जाए तो वे तब तक शव नहीं उठाते जब तक मौताना न ले लें। मौताना में से कुछ राशि मृत मजदूर के परिवार को और अधिकांश समाज के लोग लेकर खा-पी जाते हैं।

इस समुदाय की हालत बहुत ही दयनीय है। केवल 20 से 25 फीसदी परिवारों को ही बीपीएल कार्ड मिला है। मनरेगा का कार्ड कुछ अधिक परिवारों का बना हुआ है। नई पीढ़ी कुछ आगे की सोचती है। देवाराम 15 साल के हैं और 9वीं में पढ़ते हुए बीमारी के कारण पढ़ाई छोड़ दी। शायद यह अब स्कूल वापस नहीं जाएँ। लेकिन दूसरे कुछ बच्चे स्कूलों में पढ़ने जाने लगे हैं।

अपराध इनकी प्रवृत्ति मानी जाती है। इस डर से कुछ समय पहले तक पिंडवारा-शिवपुरी राजमार्ग पर रात को यातायात नहीं चलता था। अब हाईस्पीड गाड़ियाँ आ जाने से रात को कुछ आवागमन शुरू हुआ है। इनमें सुधार के लिए कोई काम शासन-प्रशासन की ओर से नहीं हुआ है। यह समुदाय राम भरोसे ही है।

अंग्रेजों से लड़कर फरार हो गए पारधी

मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, छत्तीसगढ़ में पारधी समुदाय की आबादी है। इस समुदाय के लोगों का कहना है कि उनके समुदाय ने इस देश के लिए सर्वाधिक कुर्बानियाँ दी हैं। मोहम्मद गौरी के खिलाफ पृथ्वीराज चौहान की तरफ से लड़ने के दावे के साथ ही वे शिवाजी की फौज में और बाद में अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने की बात करते हैं। वैसे अंग्रेजों ने इनसे खौफ खाकर ही पारधियों को अपराधी जनजाति की श्रेणी में डाला था। मध्य प्रदेश के विदिशा-अशोक नगर रोड पर अशोक नगर से 11 किलोमीटर दक्षिण भादोन चौराहे से 2 किलोमीटर पूरब माधोगढ़ गाँव के श्रीपत पारधी और दादा पारधी जीवाजी राव सिंधिया की फौज में पारधियों के होने की बात कहते हैं। उनका मानना है कि अंग्रेजों से आखिरी लड़ाई लड़ते हुए ये फरार हुए और जंगलों में चले गए। वैसे अंग्रेजों ने चारदीवारी का घेरा (सेटलमेंट) बनाकर इस समुदाय को उसके अंदर रखा था। ऐसे सेटलमेंट, नासिक, नागपुर और कर्नाटक में थे। कुछ जगहों पर ये आदिवासी हैं तो कुछ में पिछड़ा वर्ग। विदिशा से 70 किलोमीटर उत्तर और बीना स्टेशन से 20 किलोमीटर दक्षिण कुरवाई तालुका अंतर्गत रुसिया गाँव के युवराज सिंह, प्राण सिंह आदि अच्छे खासे किसान और व्यवसायी हैं जिनका लाइन होटल का कारोबार भी है। लेकिन ऐसे लोग दो-चार हैं। बाकी आबादी मजदूरी, कच्ची शराब बनाने, तीतर-बटेर का शिकार करने या कुछ अपराधी प्रवृत्तियों में भी संलग्न हैं।

इन जातियों-जनजातियों की संख्या इतनी ही नहीं है बल्कि देश भर में कुल 400 समुदाय हैं जो या तो घुमंतू, अर्धघुमंतू या विमुक्त हैं। देश स्वतंत्र होने के बाद ही इनकी ओर सरकार और समाज का सबसे कम ध्यान गया है। इन समुदायों में अपने बल या कुछ सरकारी सहायता से उन्नति हुई है लेकिन न के बराबर।

छः कविताएँ

मनोज कुमार झा

आत्मकथा

यह जो डायरी जिसकी पीठ पर आँखें हैं घूमती
मुझे इसका चेहरा मुकद्दर
कई कविताएँ अधूरी या शायद सारी
कई तो मात्र अक्षर फूटे हुए
इसी में कर्ज की लिखा-पढ़ी काट-कूट
हाँ इसी में
मैं क्या कहाँ से सुना रहा
मुझे कुछ पता नहीं, मुझे कुछ नहीं.....

आधार

मैंने कपड़े माँगे, शीत से अस्थियों की आँख अंधी हो गई थी
मैंने रोटी माँगी, भूख अकेली आँत में साँप की तरह नाचती थी
मैंने चप्पल माँगा, घर बहुत दूर था रास्ते में चींटियाँ और काँटे असंख्य।
मैंने भीख नहीं माँगी
आप जो भी कहें, मैंने भीख नहीं माँगी
मैंने इस पृथ्वी पर होने का आधार माँगा।

सम्पर्क : द्वारा श्री सुरेश मिश्र, दीवानी तकिया, कटहलवाड़ी, दरभंगा-846004 (बिहार), मो. 09973410548

बुहारन

पंडाल उठा लिया गया, कुर्सियाँ हटा ली गई
खम्भे उखाड़ लिए गए
बचे दो चार
सारे पत्तल चुन लिए गए
सारे मजूर चले गए, थके थे
बाकी सब भी चले गए, सब बड़े थे
कुछ पत्ते गिरे हुए, पत्तलों से टूटे जूठन से गंदे
मुझे बुहारना ये पत्ते, रात गिर रही।

न कुछ कर पाने के एवज में

क्या कूकती कोयल
कि किसी जागते अभागे का भाग पलट दे?
या इसलिए कि उसके पूर्वज ने ली सौंघ
और वो निवाह रही कुलवचन
या इसलिए शायद
कि पिछली रात कूकी तो बरसे मेघ
और आज भी झुरा रहे इस वन के सारे पेड़
या जैसे ही बोल रही न कुछ कर पाने के एवज में
जैसे देर रात अपना गला पकड़ रोता है मेरे टोले का अन्धा गवैया

अजनबी

तो ये अभी तक हैं इस धरती पर, इस गाँव में,
पिछले एक साल में आई न याद एक बार
थीं ये भी पास वहाँ उस दिन पर मैं देखता रहा मरे साँप को
यह लाठी कब से है इनका सहारा
अनुमान से बता दो पता है यह तुम्हारे बेटे का बर्थडे नहीं है
क्या अब भी ये कह पाती हैं सात किस्से लगातार
मैं मिलूँ तो मगर कहाँ से शुरू करूँ बात
क्या कोई बीच की भाषा है जिसमें माँगूँ क्षमा
कि भूला उनकी उपस्थिति मैं कुपात्र
जबकि थीं वो ढाई घर दूर मात्र

दूसरा कोना

जिस भाषा में मेरे नाम का मतलब कुत्ता होता है
वो भाषा भी सीखूँगा
हो सकता है उस भाषा में मेरे दोस्त के नाम का मतलब हंस हो
न भी हो तो
हंस के लिए कोई तो शब्द होगा ही
कोई शब्द होगा सुन्दर के लिए
कोई शब्द रोटी के लिए
प्यार के लिए और पृथ्वी के लिए
क्यों न करूँ परिक्रमा जीवन की अन्य रथ पर हो सवार।

दो लम्बी कविताएँ

कुमार अनुपम

विदेशिनी

‘आमी चीन्ही गो चीन्ही तुमारे
ओगो विदेशिनी’

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

(1)

तुम बोलती हो
तो एक भाषा बोलती है
और जब
तुम बोलती हो
मेरी भाषा में
एक नई भाषा का जन्म होता है।

(2)

वहाँ
तुम्हारा माथा तप रहा है

सम्पर्क : 1048/22 ब्लॉक, लोधी कॉलोनी, नई दिल्ली-110003, मो. : 09873372181

बुखार में
मैं बस आँसू में
भीगी कुछ पंक्तियाँ भेजता हूँ यहाँ से
इन्हें माथे पर धरना।...

(3)

हम जहाँ खड़े थे साथ-साथ
एक किनारा था
नदी हमारे बिल्कुल समीप से
गुज़र गई थी कई छींटे उछालती
अब वहाँ कई योजन रेत थी
हमें चलना चाहिए
हमने सुना और कहा एक दूसरे से
और प्राक्-स्मृतियों में कहीं चल पड़े
बहुत मद्धिम फाहों वाली ओस
दृश्यों पर कुतूहल की तरह गिरती थी
हमने अपरिचय का खटखटाया एक दरवाज़ा
जो कई सदियों से उड़का था धूप और हवा की गुंजाइश भर
हमने वहीं तलाशी एक तितली जिसके पंखों पर
किसी फूल के पराग अभी रौशन थे
(वहीं अधखाया हुआ सेब एक
किसी कथा में सुरक्षित था)
उसका मौन छुआ
जो किसी नदी के कंठ में
जमा हुआ था बर्फ की तरह
पिघल गया धारासार
जैसे सहमी हुई सिसकी
चीख में तब्दील होती है
और इस तरह
साक्षात्कार का निवेदन हमने प्रस्तुत किया
फिर भी
इस तरह देखना
जैसे अभी-अभी सीखा हो देखना
पहचानना बिल्कुल अभी-अभी
किसी आविष्कार की सफलता-सा
था यह
किन्तु बार-बार
साधनी पड़ीं परिकल्पनाएँ

प्रयोग बार-बार हुए
दृश्य का पटाक्षेप
और कई डायलॉग हम अक्सर भूले ही रहे
और शब्द इतने कमज़ुर्फ
कि
शब्द बस देखते रहे हमको
ऐसी थी दरम्यान की भाषा
और कई बार तो यही
कि हम साथ हैं और बहुत पास
भूले ही रहे
किसी ऐसे सच का झूठ था यह बहुत सम्पूर्ण सरीखा
और जीवित साक्षात्
जैसे संसार
में दो जोड़ी आँख
और उनका स्वप्न
फिर हमने साथ-साथ कुछ चखा
शायद चाँदनी की सिंवइयाँ
और स्वाद पर जमकर बहस की
यह वही समय था
जब बहुत सारा देशकाल स्थगित था
शुभ था हर ओर
तब तक अशुभ जैसा
न तो जनमा था कोई शब्द न उसकी गूँज ही
हम पत्तियों में हरियाली की तरह दुबके रहे
पोसते हुए अंग-प्रत्यंग
हमसे फूटती रहीं नई कोपलें
और देखते ही देखते
हम एक पेड़ थे भरपूर
किन्तु फिर भी
हमने फल को अगोरा उम्मीद भर
और हवा के तमाचे सहे साथ-साथ
हम टूटे
और अपनी धुन पर तैरते हुए
गिरे जहाँ
योजन भर रेत थी वहाँ
हमारे होने के निशान
अभी हैं
और उड़ाएगी हमें जहाँ जिधर हवा
ताज़ा कई निशान बनेंगे वहाँ उधर...

सम्प्रति हम जहाँ खड़े थे साथ-साथ
किन्हीं किनारों की तरह
एक नदी
हमारे बीचोबीच से गुज़र गई थी
अब वहाँ सन्देह की रेत उड़ती थी योजन भर
जिस पर
हमारी छायाएँ ही
आलिंगन करती थीं और साथ थीं इतना
कि घरेलू लगती थीं।

(4)

तुम्हारी स्मृतियों की ज़ेब्रा क्रॉसिंग पर एक ओर रुका हूँ

आवाजाही बहुत है

यह दूरी भी बहुत दूरी है

लाल बत्ती होने तो दो
पार करूँगा यह सफर।

(5)

जहाँ रहती हो
क्या वहाँ भी उगते हैं प्रश्न
क्या वहाँ भी चिन्ताओं के गाँव हैं
क्या वहाँ भी मनुष्य मारे जाते हैं बेमौत
क्या वहाँ भी हत्यारे निर्धारित करते हैं कानून
क्या वहाँ भी राष्ट्राध्यक्ष घोटाले करते हैं

क्या वहाँ भी
एक भाषा दम तोड़ती हुई नाखून में भर जाती है अमीरों के
क्या वहाँ भी आसमान दो छतों की कॉर्निश का नाम है
और हवा उसाँस का अवक्षेप
क्या वहाँ भी एक नदी
बोतलों से मुक्ति की प्रार्थना करती है
एक खेत कंक्रीट का जंगल बन जाता है रातोंरात
और किसान, पागल, हिजड़े और आदिवासी

खो देते हैं किसी भी देश की नागरिकता
और व्यवस्था के लिए खतरा घोषित कर दिए जाते हैं

क्या वहाँ भी
एक प्रेमिका
अस्पताल में अनशन करती है इस एक प्रतीक्षा में
कि बदलेगी व्यवस्था और वह
रचा पाएगी ब्याह अस्पताल में देखे गए अपने प्रेमी से कभी न कभी
और जिए जाती है दसियों सालों से
जर्जर होती जाती अपनी जवान कामनाओं के साथ
जहाँ रहती हो
तुम्हारे वहाँ का संविधान
कहो
कैसा है विदेशिनी?

(6)

छतें दहल जाती हैं
हिल जाती है ज़मीन
भीत देर तक धरधराती रहती है
कपड़े पसारने के लिए ताने गए
तार की तरह झनझनाती हुई

जब गुज़रते हैं उनके
उजड़ु अतृप्तियों के विमान
हमारे ऊपर से
हमारी हड्डियों में भर जाती है आँधी
सीटियाँ बजने लगती हैं

उन्हें नक्काशियाँ पसन्द हैं
उन्हें फूल पसन्द हैं
वो दुबली-पतली चक्करदार गलियाँ
जिनमें
कस्बे के बहुत से घरों की
भरी रहती हैं साँसें और राज़
जिनके बीचोबीच से होकर गुज़रती हैं
स्कार्फ बाँधे नन्हीं-नन्हीं बच्चियाँ
खिलखिलाती स्कूल जाती हुई

उन्हें ये सब बेहद पसन्द हैं

जिन्हें वे पसन्द करते हैं
उन सब पर
वे बम बरसा देते हैं
वे उन्हें नष्ट कर देना चाहते हैं
कि उन सबको
कोई और पसन्द न कर सके
उन्हें ऐसा डर लगा ही रहता है
आखिर
उनकी पसन्द का एक मतलब जो है

विदेशिनी,
इस तरह तो
मुझे मत पसन्द करना!

(7)

मेरी पसन्द का एक मतलब है
तुम्हारी पसन्द का एक मतलब है

अपनी पसन्द की हिफाज़त के लिए
विदेशिनी,
हमें उनकी पसन्द का मतलब जानना
बहुत ज़रूरी है।

ऑफिस-तन्त्र

(1)

वह नौकरी करता था और चाकरी तक करने को तैयार था
वह अपने घर के लिए भी तो लाता था शाम को तरकारी
और गैस-सिलिंडर और धोबी से प्रेस किए हुए कपड़े
मालिक के लिए भी वह यह सब करते हुए
कोत नहीं महसूस करना चाहता था
वह तो मालिक के जूते तक साफ करने को तैयार था
आखिर अपने जूते भी तो करता था पॉलिश

और अपनी नन्हीं परी के भी तो चमकाता था नन्हें जूते
तो वह उसे हर्ज नहीं मानना चाहता था

अपने ज़मीर तक से तसदीक में तय पाया था
कि वह ईमानदार है और रहेगा
भले ही उसे मुनाफे के लिए
मालिक को देनी पड़े अपनी आधी तनख्वाह

बस वह बार-बार
अपनी नौकरी बचाना चाहता था
रोज़ सुबह तैयार होकर
घर से ऑफिस जाना चाहता था
कि लोग पाले रहें
उसे जेंटलमैन मानने का भ्रम भले ही पत्नी हँसती रहे विकट

मगर बार-बार
वह चाटुकारिता के अभिनय में हो जाता था असफल
और बात अटक जाती थी बड़ी आँत में कहीं
वह बेवजह हँसने की भरपूर कोशिश करता था
मटकता था बहुविधि
कई बार
तो खुद की भी खिल्ली उड़ाता था जोकरों की तरह
कि सलामत रहे परिवार की हँसी किसी भी कीमत
मगर व्यर्थ
मालिक की त्यौरियाँ तनी ही रहती थीं कमान की मानिन्द

तब वह
अधिकतम चतुराई से ठान लेता था
कि अपनी प्रतिभा, ईमानदारी, कर्मण्यता, विचार वगैरह
वह किसी पिछली सदी में रख आएगा रेहन
अगर मिले कुछ रुपये तो लाएगा उधार
जिससे कि पल सके उसका परिवार फिलहाल
(और वैसे भी इस सदी में जब
पण्य बढ़ा हो पुण्य से
फिर ऐसे फालतू मूल्यों का क्या मोल)
तो वह
कुछ पाप करना चाहता था
और उसे पुण्य साबित करने
के नुस्खे तलाश करने में

कुछ सफल लोगों की तरह
सफलता पाना चाहता था

मगर करे क्या बेचारा
कि पिछली सदी में लौटने का द्वार
बन्द था मज़बूत
और वह
पूरी ईमानदारी से
लौटना चाहता था घर और यह भी
कि नहीं लौटना चाहता था।

(2)

सुनो, ऐसा करते हैं कि एक शीशी ज़हर लाते हैं
तुम पराठे बनाना लज़ीज़
इस सलीके से मिला देना उसमें कि गन्ध न आए तनिक
में जाऊँगा ऑफिस
और मालिक के आगे परोस दूँगा पूरी आत्मीयता में डूब
फिर आएगा मज़ा
दूँगा भरे ऑफिस में मुझे अपमानित करने की सज़ा

बट डार्लिंग,
उसकी हत्या के जुर्म में तो मैं फँस ही जाऊँगा
वैसे खाएगा ही क्यों बल्कि वह तो
डालेगा तक नहीं इन पर अपनी स्थायी घुन्नी निगाह
वह तो उड़ाता रहेगा शाही पनीर

बाई द वे,
पिछली बार
हमने कब खाया था शाही पनीर?
याद नहीं
तो कोई बात नहीं
लेकिन खैर तो यह
कि एक जून का अनाज
बरबाद होते-होते बचा कि फार्मूला बेहद लचर था
वैसे आटा भी दस से बीस पहुँच गया है
ऐसा करना,
चार की जगह मुझे दो पराठे देना कल से
क्या है कि सीट पर बैठे-बैठे सुबह से शाम

गैस की प्रॉब्लम होने लगी है
और बढ़ती उम्र में
ज़रा सँभल के खाओ तो ही भला वह कहता है
और ठंडा पानी पीता है एक साँस
हालाँकि उसे
देर तक खाँसी के ठसके से जूझना पड़ता है।

(3)

वह सोचता है
और सोचता है कि सोचने का ही तो
मिलता है मासिक मेहनताना
सोचता है
और बॉस को बताता है
कि बॉस,
मेरा तो ऐसा सोचना है फलौं प्रोजेक्ट की बाबत

बॉस के होंठ फैलते हैं ज़रा-सा
वह सोचता है, बॉस खुश हुआ
फिर सहकर्मियों की एक मीटिंग बुलाई जाती है
वह अचानक चकित होता है जबकि बॉस
उसके सोचे हुए को
अपना सोचा हुआ ऐसे पेश करता है जैसे कोई राज़
लेकिन यह सोचकर
कि बॉस को जँचा उसका सोचना
कि बॉस की देह की सर्वोच्च कुर्सी पर
विराजमान है उसका ही सोचा हुआ इस वक्त
मन ही मन गर्व से कुप्पा होता है
'हलो, हॉ, हॉ, आप से ही मुखातिब हूँ जनाब
कहाँ हेरा गए
मन नहीं है यहाँ
तो कहीं और जाने के बारे में सोचें श्रीमान
इतनी इम्पोर्टेंट मीटिंग है मैं हूँ यहाँ इतने ये लोग
झख मार रहे हैं और आप कहीं और
ऐसी बदतमीज़ी बर्दाश्त नहीं करूँगा' बॉस चीखता है
और उसके दिमाग में किसी सन्नाटे की तरह भर जाता है

कमरे से निकलते हुए सोचता है कि कुछ नहीं सोचेगा ऐसा
जो फिट न बैठे मालिक के दिमाग की नाप से

या यह

कि अब कुछ सोचेगा ही नहीं बस काम किए जाएगा
जैसे करते आ रहे हैं बाकी सहकर्मी
वर्षों से खुश खुश बिना कुछ सोचते हुए उन सबको
खुद पर ताना मारने की मोहलत नहीं देगा

ऐसा सोचता है सोचने पर शर्मिन्दा होता है
कहीं और जाने के बारे में भी सोचता है
और

कहीं और न जा पाने की वजह के बारे में भी
समझदार साहस से भरकर कई बार
मगर कहीं उसके भीतर से निकलकर
एक पिता एक पति एक पुत्र एक भाई
सोचने के ऐन बीचोबीच आकर डट जाते हैं

दरअसल, घर और संसार के दरम्यान
एक ऑफिस होता है विभाजन रेखा की तरह
जो चीरता रहता है दो फाँक आठों याम...
इसी अवकाश में आता है बॉस का फोन
'आपको फील तो नहीं हुआ कुछ कहना पड़ता है
लेकिन आपकी विद्वता का कायल हूँ बेइन्तेहाँ
और सोचिए ज़रा
कि सिर्फ आपको ही है मेरे बँगले पर आने की अनुमति
आज क्या प्रोग्राम है आपका, आ जाइए, घर पर ही हूँ'

वह सोचता है कि क्या क्या तो सोचता रहा फालतू
और बॉस के बँगले पर जाता है मुग्धभाव
जहाँ उसकी प्रतीक्षा में ही मिलता है बॉस कहता है
'हाँ तो क्या सोचा आपने
बताइए बताइए...'

वह पुलक में भर
जैसे ही बताने लगता है
बॉस ऑन कर देता है एक धार्मिक-स्त्रोत फुल साउंड
और कहता है
'ज़रा और और तेज़ बताइए ना
सुनाई ही नहीं दे रहा आपका सोचा हुआ कुछ भी।'

(4)

एक लड़की फोन करती है

और शाम उगती है

पूछती है आज क्या करते रहे दिन भर

और बताती है सुबह जिम गई 'V' गले का ट्रैक-सूट पहनकर और लौटकर एक गिलास दूध पिया शाम को नहीं पीती हूँ ना और दो चोटी नहीं किया और रूमाल टॉप के बॉई ओर नहीं पिन किया और वाटर-बॉटल कन्धे पर बिना टॉगे आफिस गई और हाँ लंच-आवर में आया तो था एक साड़ीवाला पर ना नहीं खरीदी एक भी साड़ी आज देर से मिला ऑटो भी अभी पहुँची हूँ चाची एक आवाज़ पर दे गई थी चाय पीकर बैठी हूँ

पूछती है क्यों हैं उदास बोलते क्यों नहीं

और बताती है सच में वो कितने अच्छे दिन थे मुच में जो उगते थे बाइक पर और ढलते थे बाइक पर उसे भूल नहीं पाती और भूलना भी नहीं चाहती वह मेरा प्यार है और जानते हो मैं तो हर हद तक जा सकती थी अपना बनाने के लिए उसे सम्पूर्ण पर वो ही हट गया पीछे अपनी किन्हीं मजबूरियों के जंगल में अब उसकी अपनी दुनिया है अपना वंश बहुत दिन से दिखा भी तो नहीं और हाँ मेरे इश्क ने मुझे खोज लिया अब अपने साथ हूँ लेकिन उसकी ना बहुत बहुत याद आती है अच्छा आओ भी अब जानते हो चार दिनों से नहीं लगाया मैंने काजल बूझो ज़रा क्यों आओ न क्विक अभी देखो न मुझे मिला नहीं कॉन्ट्रैक्ट करो न बात कितना तो पसन्द करते हैं तुम्हें बॉस और मैं... कुछ समझे बुद्धू... ओके गुडनाइट स्वीटड्रीम्स टेक्केयर बाय...

और फुलवर्ज़न में कई तरफ रात घिरती है।

(5)

आय एम नॉट इंट्रेस्टेड

कि कैसे चला लेते हो तुम इत्ती-सी पगार में समूचा परिवार

और वह भी निरी ईमानदारी की शर्त पर दरअसल

यही है मेरे लिए अचरज की फुरफुरी

यही है मेरे विश्वास और निश्चिन्तता का मज़बूत आधार

तुम्हारे फादर ही थे न जो आए थे उस रोज़

घुटने तक धोतीवाले

मैं तो देखते ही पहचान गया था भले कभी मिला नहीं था तो क्या

उस किसान ने बोई है कड़ी धूप में तपकर तुममें अपनी उम्मीद

उसके सपनों को तुम्हें ही सच करना है

तुम्हारी पत्नी प्रेगनेंट है मुझे पता लगा है
उसकी मेडिसिन्स का खास ख्याल रखने का वक्त है यह
बच्चों को अच्छे स्कूल में ही पढ़ाना, समझ रहे हो न
वैसे एक दिन पहले
भेज तो देता है न तुम्हारे खाते में सेलरी
कि डॉट्टू एकाउंटेंट को अभी फिर से

अरे जोश से भरे जवान हो तुम लोग
आगे बढ़कर सम्हालो जिम्मेदारियाँ
मैं तो इस उम्र में भी फेंक सकता हूँ चार वर्करो का काम
फिर तुम तो माशाअल्ला...
और हाँ ज़रा कम लिया करो छुट्टियाँ
तुम देख ही रहे हो स्टॉक मार्केट की मन्दी
हमारी मजबूरी में तुम लोग ही नहीं लोगे इंट्रेस्ट
तो कैसे बचेगा ऑफिस
और तुम लोग भी
कि दूसरे ऑफिसों का हाल कोई अलग तो है नहीं...कि नहीं

वैसे अचरज की फुरफुरी उठती है रह रह कि...
अब उसे भी मज़ा आने लगता है बॉस से साथ साथ
हँसता है दाँत चियार
फिर बॉस के केबिन से किसी हाँ में थरथराता
निकलता है
कहीं न जाने के लिए अपनी सीट तक अकसर की तरह आता है।

(6)

लौटने के लिए वह घर लौटता है
और साथ में एक ऑफिस लाता है

दरवाज़ा खोलने में हुई ज़रा-सी देरी के लिए
फटकारता है पत्नी को
माँगता है पूरे दिवस की कार्य-रिपोर्ट
सहमी हुई वह
गिनाती है रोज़मर्रा गृहस्थी के काम जिसमें जूझती रही सगरदिन

वह एक मामूली गृहस्थी के मामूली कामों को
उसकी साधारणता समेत खारिज करता है और

कुछ असाधारण काम-धाम करने
की आदेशनुमा सलाह में लपेट
उसकी गृहस्थी की मामूली फाइल
हिकारत के हाथों सौंप देता है

बच्चे
दरवाजे और करुणा की ओट से
कुछ चाकलेट कुछ टाफियों की नाउम्मीदी में
किसी सपने में लौट जाते हैं
या सोने में व्यस्त दिखने
के अभिनय में मशगूल हो जाते हैं मन मार
उन्हें पता है शायद
कि ऑफिस में चाकलेट और टाफियाँ नहीं मिलतीं
जो दुहराता है अकसर उनका पिता
वह अधिकारी-आवेश में
झिंझोड़कर जगाता है बच्चों को अधर्नीद
और धमकाता है कि तुम सबकी मटरगशितयाँ
और लापरवाहियाँ
अब और बर्दाश्त के नाकाबिल
कि अधिक मन लगाओ
कि तुम पर, सोचो ज़रा,
कितना इन्वेस्ट किया जा रहा है लगातार
तुम पर हमारे कई प्लान डिपेंड हैं
और कई योजनाएँ तो तुम्हारे ही कारण स्थगित
तुम्हीं हो हमारी उम्मीद की मल्टीनेशनल लौ
जिसकी जगरमगर में हमारा भी भविष्य दैदीप्यमान

बच्चे फिर भी
अपनी कारस्तानियों के स्वप्न में दाखिल हो जाते हैं

इतने में पत्नी लगा देती है भोजन
वह स्वादिष्ट लगते पकवान का छुपा जाता है राज़
और निकालता है मीनमेख कि अब
पहले-सी बात नहीं रही तुममें न पहले-सा स्वाद
जबकि जानता है कि अधिकतम समर्पण से बनाया गया है भोजन
पत्नी कुढ़ती है
और किसी आशंका में
अपनी घर-गृहस्थी समेत डूब जाती है

वह लगा लगाकर गोते उसे खींच खींच निकालता है बार बार
और उससे
सहयोग की कामना करता है
वह स्वीकारती है अनमने मन से आज का अन्तिम फरमान
और ध्वस्त हो जाती है
वह बाँस की तरह मन्द मन्द मुस्कुराता रहता है
और किसी विजेता-भाव में बिला जाता है।

(7)

यहाँ तो ऐसा ही होता रहा है
आप नए हैं ना जान जाएँगे यहाँ की कार्य-प्रणाली
सर्वग्यभाव से भरे कुछ असमय-बुजुर्ग-युवा
अपनी गलतियाँ छुपाते हुए ऐसा दोहराते हैं जब तब

जो यहाँ हैं
वे यहीं थे जैसे अनन्तकाल से

जो यहाँ से किसी तरह विदा हुए
वे जैसे कभी थे ही नहीं स्मृतियों तक में

जो डटे हैं वे ऐसे हैं
जैसे यहीं रहेंगे अनन्तकाल तक।...

(8)

और एक दिन
उसे थमा दिया गया
एक चेतावनी-पत्र

श्रीमान्

संस्थान के संज्ञान में लाया गया है कि आप लगातार दफ्तर की स्टेशनरी का दुरुपयोग कर रहे हैं। जिस कार्पेट कर चलकर आप आते हैं और बैठते हैं सीट पर, जिस फैन की हवा में साँस लेते हैं, पीते हैं जिस बॉटल से पानी वह सब संस्थान की स्टेशनरी में दर्ज है और आपके उपयोग में हैं। यह नैतिक व कानूनी तौर से सेवा-शर्तों का उल्लंघन है। कृपया तीन दिन के भीतर स्पष्ट करें कि क्यों न आप पर अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाए।

आपका अब तक जीवित बचे होना हमारे पास प्रमाण की तरह मौजूद है।

(9)

यह एक ऐसा तन्त्र है
जहाँ हर शख्स परतन्त्र है

षड्यन्त्र हैं और चतुर चालबाज़ियाँ हैं
और तनाव और रणनीति है
चापलूसियाँ और वार्ताएँ और लापरवाहियाँ
और दुरभिसन्धियाँ
और समझौते और लालच
और लिप्साएँ और घूस और पलायन
और विडम्बनाएँ और विराग और युद्ध हैं
और कई बार तो इलू इलू भी
और इस हद तक कि शादियों में उसकी परिणति

सच्चाइयाँ भी हैं
लेकिन उतनी ही
कि झूठ के साम्राज्य पर
जितनी से न आए तनिक भी खरोँच
चलता रहे कारोबार सकुशल
सब खुश खुश-सा दिखते रहें इतनी अनुकम्पा
इतने ही अनुपात में व्यवहार

कुल मिलाकर यह कि जहाँ गुज़ारता है वह
अपना बहुत सारा समय और जीवन,
यह एक क्रूर सच्चाई है, कि दरअसल
उसका अपना वहाँ कोई नहीं है

मसलन यह
कि कोई किसी का ताबेदार है तो कोई किसी का मनसबदार
कोई किसी का चेला है तो कोई किसी का पिड्डू
कोई किसी का कारकुन तो कोई किसी का तरफदार
मतलब कोई इनका आदमी है तो कोई उनका आदमी है
कोई काम का आदमी नहीं है

और जनाव, एक जीता जागता ताज्जुब है,
कि यह तन्त्र
फिर भी चलता ही चला जा रहा है तमाम घुनों के बावजूद
गोया कि हमारा ही देश हो।

तीन कविताएँ

वंदना शर्मा

बोन्साई लड़कियाँ

बस रिक्शा रेल...
कुछ भी नहीं आस पास
केवल कुछ
इनसान...
लड़की चौकन्नी...
याद दिलाती विज्ञापन सी
सावधानी हटी दुर्घटना घटी!
चौकन्नेपन की...
इस बोझिल गठरी से...
निकल रही...
बोन्साई लड़कियाँ...!!!

साधिकार पीता है
खून पसीना...
समय और सपना...
बेआवाज़ डिग्रियाँ चबाता है...
तब जाकर मुस्कुराता है...

सम्पर्क : अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एम.एम. कॉलेज, मोदीनगर (उ.प्र.)

यह घर, तुम्हारी तरह नज़र आता है!
मसीह मुद्रा में...
कंक्रीट पर कसा...
वाइफ ऑफ़ में फँसा...
निमन्त्रण पत्रों के शव पर सती सा
जब लिखा जाता है...
मेरा नाम, मेरी तरह नजर आता है!!

गर्म तवे पर जल की बूँद सी औरतें...

यहाँ गढ़ी हुई है नसीबन की ढाई साला बदनसीब मादा लाश
यहाँ झाड़ियों में क्षत विक्षत शोध छात्रा सुब्बालक्ष्मी
ट्रेन से धकियाई, फटे कपड़ों, टूटे पैरों वाली यह है मरियम
और वह बेनाम पगली बड़े पेट वाली पड़ी है
घोषित हो चुकी है छूत के रोग सी
गर्म तवे पर जल की बूँद सी ये औरतें...

उलटे हो चुके हैं, सधे सीधे पाँव
इनकी बात करना शर्म की है बात
मुँह छुपाते हैं शब्द
घुटनों तक उतर आते हैं चेहरे
खा जाती हैं इनकी शिनाख्तें
नदी नाले नहरें...

इन पर यूँ खुलेआम नहीं बोला जाता
इनके जिक्र अहिल्या हो जाते हैं
इनके लिए कोई राम नहीं आता
बच्चों की किताबों और भगवान जी के आलों से दूर
रख दिए जाते हैं वे अखबार जिनमें इनकी खबरें हों...
चोर दृष्टि से पलटने पड़ते हैं चैनल
छोटी या बड़ी जैसी भी हों इनके खत्म हो जाने के लिए औरत होना काफी था
और खत्म कर डालने के लिए बहुत, पंजों का मर्दाना होना...

जिनकी लाशों से आँखें भी चुरातीं हों
उनके जाने से कहीं कुछ भी तो नहीं बदला...
वे कभी थीं ही नहीं इस कोशिश में निषेध हो गए उनके नाम
रिक्त स्थान पाट दिए गए तुरत फुरत

जैसे ढाँप दी जाती हैं लाइलाज बीमारियाँ
 जैसे छुपाई जाती हैं फटी उधड़ी सीवनें
 जैसे फाड़ दिए जाते गलत नाम वाले चैक...
 यातना शिविरों के आस पास से गुजरते रहे राजमहिषियों और राजपुत्रों के लश्कर
 भौंकते रहे डॉग स्क्वायड मादा रक्त की ताजा गन्ध पर
 लाल नीली बत्तियों के पहियों तले दम तोड़ती रहीं संवदेनाएँ
 हाँफती रहीं तेज रफ्तार तृष्णा और कुँठाएँ...
 और उधर भरे पेट ऊँघती सभाओं में अलसाते रहे क्रान्ति और कानून के पर्चे
 रंगीन काँचों में ढलते रहे मगरमच्छी आँसू...
 इंग्लिश गानों पर थिरकती रहीं सोनाबाथ जंघाएँ
 पूरी गरिमा से करते रहे शिकारी रंगीन लटों के विमोचन
 कागज भिगोती रहीं, वाटरप्रूफ मेकअप अंजी महत्वाकांक्षाएँ
 सियारों के अपाहिज समूह, बराबर लॉघते रहे यश के समुद्र
 बहुत बुरी बातों की तरह याद रह जाएँ शायद इन औरतों की हत्याएँ
 उधार की आग से नहीं सुलगीं गीली लकड़ियाँ
 धू धू कर जलतीं रहीं निष्पाप पुआलें!!!

जंगली दूब से हम

स्वनिर्मित सुदृढ़ किलों में
 कभी कोई नहीं लगाता सेंध...
 कभी नहीं नष्ट करते तानाशाह अपने ही शस्त्रगार
 कभी नहीं दहकाई जाती है वह आग...
 जो फूँक डाले अपने ही जंगल राज...
 इस चेतावनी के साथ...
 कैदियों भाग जाओ नहीं तो मारे जाओगे...!
 आक्रान्ताओं की तलवारों का खून...
 कभी नहीं धुलता उनकी ही आँखों के पानियों से
 वह होता है बस विजय के गर्व का प्रतीक...
 शिकारी कभी नहीं रोते...
 अपने ही जाल में फँसे छटपटाते शिकार की निर्दोष मृत्यु पर
 इसलिए...
 हमारी पीड़ा के आख्यान ठीक वैसे ही हैं।
 जैसे खून सने हाथ
 लिखते हों
 शवयात्रा के वैभव का गुणगान
 या कोई चतुर स्वामी छाती पीट पीटकर

दास की मृत्यु पर करता हो विलाप!
भाषा के इन चमत्कारों में
कहीं नहीं मिलते
आर्तनादों से मुखर हमारे क्रोध, हमारी घृणा
शाप मुखर, मुखर तिरस्कार
विद्रोह हमारे चिंगारी से,
वे तुमने नहीं लिखे
घर की सीलन से,
प्रतिद्वन्दी के यश से
कि जिनके फैलते ही
लग सकती थी,
तुम्हारे जंगलों में आग
ढह सकती थीं वे इमारतें,
जिनकी नींव में पिसते रहे जीवन युगों तक!
किन्तु जंगली दूब से हम बढ़ चले हैं
चिन्हित कर चुके हैं हथियारों का जंग
खोजने होंगे हमें विद्रोह के नद्वशे
स्मृतियों की वर्जनाएँ तोड़नी होंगी
भेदना होगा कारागारों का तिलिस्म
छोड़नी होगी सुरक्षा कैद की...!!!

तीन कविताएँ

अशोक गुप्ता

मेरा प्रश्न

उनके अस्तबल में घोड़े बँधे हैं
बैठक की दीवारों पर
टँगी हैं बंदूकें
ड्योढ़ी पर तैनात हैं
मुच्छड़ चोबदार...

अस्तबल में घोड़े हिनहिनाते हैं अक्सर
कभी कभी
ज्यादा ही जोर से हिनहिना उठते हैं
जैसे, उस दिन...

उनकी नींद में भयंकर खलल पड़ा
वह देख रहे थे सपने में
अपने पाले हुए हाथी,
सपना टूट गया, हाथी नहीं थे
केवल
आकांक्षा का झंझावात था।

सम्पर्क : 305, हिमालय टॉवर, अहिंसा खंड-II, इन्दिरापुरम, गाजियाबाद-201010, मोबाइल : 09871187875

गुस्से में फनफना कर उठे वह तत्काल
उन्होंने साईस को पीटा,
साईस दौड़ता गया उसके बाद
और चोबदार को पीट आया,
चोबदार
रात को तो जैसे तैसे डटा रहा ड्योढ़ी पर
लेकिन
सुबह उठ कर निकला बाहर
और पीटता रहा शहर भर में जिसे भी पाया
जनता पिटती रही
अनावश्यक था
कारण की तलाश में उठाया गया कोई भी प्रश्न,
ऐसा तो प्रायः ही होता रहता था।

हर बार
जनता को पीटे जाने के कारण बदलेंगे
बदल जाएगा चोबदार
साईस
और राजा भी शायद,
राजा के अस्तबल में एक न एक दिन

हाथी भी भर जाएँगे
लेकिन
क्या प्रजा का पिटना रुक पाएगा कभी भी,
यह
मेरा प्रश्न है...

भूख

(1)

भूख को
कई पर्दों में ढाँप कर रखना जरूरी है,
पर्दों में ढँकी भूख
बस, सिसकती भर है,
लेकिन वह चीखती है
जब बेपर्दा हो जाती है।

भूख का चीखना अपशकुन है,
इससे देश की छवि धूमिल होती है।

नहीं नहीं,
यह मेरी भूख के प्रसंग की बात नहीं है,
न ही
यह मैं कह रहा हूँ श्रीमान,
यह समूचे देश का सच है
और यह कहना है सर्वोच्च सत्ता का।

भूख पर एक पर्दा संविधान का है
वही,
जो लोकतंत्र की लाश का पर्दा भी है।
एक पर्दा है व्यवस्था का
जो
भूख से हुई मौतों को बेशर्मी से बताती है
बदचलनों की खुदकुशी।
एक पर्दा
समाज के शिष्टाचार का भी है,
इस परदे की तो हजार पर्तें हैं
जैसे
दुर्ग पर चढ़ा हुआ पवित्र पावन भगवा
और
परिवार के मुखिया की प्रतिष्ठा बनी टोपी,
भूख से
कोई नहीं मरता उसके खानदान में
सब मरते हैं
अपनी स्वाभाविक मौत
और यह झूठ भी नहीं है।

भूख के सिसकने में भक्ति संगीत है
भूख की चीख से जाग कर
ईश्वर कुपित हो जाते हैं।

(2)

एक कोटर से उतरा हुआ साँप है दरअसल
वह
जिसे भी डँसता है

वह इन्सान
जहरीला हो जाता है।

भूख का डँसा हुआ जहरीला इन्सान
पहले चाटता है
अपनी हथेली पर खींची भाग्य रेखाएँ
फिर
लिख लेता है अपने माथे पर अपना भाग्य
मसलन
आत्महत्या।

भूख
एक भयंकर बीमारी का नाम भी है
जिसके विषाणु
जितने पनपते हैं खेत में
उतने ही हवा भी रचती है उन्हें
खेत उगाते हैं अनाज
उसके साथ खुद-ब-खुद उपजते हैं विषाणु,
अनाज और विषाणुओं का बँटवारा होता है,
किसी के हाथ आते हैं
केवल विषाणु
और कोई दूसरा, सारा अनाज ले जाता है।

जिस चिड़िया के पंख पर भूख के हस्ताक्षर हैं
उसे मारता है अहेरी।
जिस इंसान को डँसा है भूख के साँप ने
उसे मारता है अहेरी।
जिस अहेरी के हाथ में ताकत की कलम है
वह लिखता है आत्महत्या
इस उस के माथे पर,
वह अहेरी कौन है, यह सब जानते हैं
या कोई नहीं जानता।

बहुत भूखा है अहेरी
और उसकी भूख हम सब से अलग है,
कहो
वह अहेरी,
क्या अमर है भाई...?

(3)

भूख
किसी के सपने में नहीं आती
भूख का
न इतिहास होता है न भूगोल
भूख का
वर्तमान ही उसका भविष्य है,
फिर भी,
यह बहुत ही कठिन है मेरे लिए
भूख को
नियति मान कर
चुप रह जाना।

वह
कोई अघोरी बाबा तो नहीं है
जिसकी झोली में भरी है भूख
उसकी दूसरी बड़ी झोली में अनाज भी है,
मक्कारी लदी है उसके सिर पर
वह
अनाज की झोली रखता है अपने भण्डार में
और
भूख ही भूख बाँटता है।

चलो माना,
राजा को अघोरी बाबा कहना ठीक नहीं,
लेकिन
लच्छन तो उसके यही हैं,
वह
काली सुरंग में गद्दी पर बैठा अजगर
आखिर इतना भूखा क्यों है
उसकी माँ की छाती में
क्या
दूध नहीं था?

लेकिन कब तक...?

किसान
दबा दिया गया है बीज की तरह

जमीन के नीचे,
मिट्टी बन गया है,
मिट्टी की तरह...

इतना तो तय है
कि वह
फिर उगेगा जरूर
लेकिन उसका बबूल होकर उगना
तो
ठीक नहीं रहेगा,
कैसा लगेगा
बबूल के जंगल में बदल गया यह देश,
तब तो वह आदमी भी नहीं बचेगा
जो
कंक्रीट के चौबारे पर अपनी दुनाली लिए खड़ा है
और साध रहा है निशाना
चुन चुन कर
किसानों पर।

अभी फिलहाल
बेफिक्र है वह बेवकूफ इंसान
जिसने
किसानों की लाशों को
जलाने फूँकने का ठेका लिया है
उसकी पीठ पर
दुनाली वाले का हाथ है,
लेकिन
जब जमीन की सारी हवा
किसानों की देह की सुलगन से भर जाएगी
तब तो
वह भी तरस जाएगा साँस लेने के लिए
ताजा हवा की जरूरत तो
उसे भी है।

सफेदपोश के लिबास पर
दिखने लगी हैं
धुआँती कालिख की दर्दनाक लकीरें
दुनाली
जब बेहद गर्म हो जाएगी

तब
कहाँ सध पाएगी दुनाली उसके हाथों।

किसान
मिट्टी, और हवा, और पानी में सब कहीं,
तासीर की तरह बसा है,
किसान का मरना
धीरे धीरे
देश का मरना है।

कैसा लगेगा
जब
देश के मरने पर कोई नहीं रोएगा
सूख चुके होंगे सबके आँसू
धरती, और मिट्टी और पानी के मरने पर।

किसान का मरना
इस सब का मरना है,
वह
दुनाली वाला रोबोट यह बात नहीं जानता
उसके आका
अभी फिलहाल
इस बात से खुश हैं,
लेकिन कब तक...?
अभी फिलहाल
बहुत खुश है वह नादान

कल्पना और यथार्थ के अप्रतिम कथाकार मो येन

अनिल राय

इस वर्ष का नोबेल पुरस्कार सुप्रसिद्ध चीनी लेखक मो येन को दिया गया है। मो येन चीन के पहले व्यक्ति हैं जिन्हें साहित्य में उत्कृष्ट लेखन के लिए इस पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। हालाँकि उनसे पहले भी कावशिगच्येन को सन् 2000 में उनके नाटकों और सुंदर गद्य के लिए सम्मानित किया जा चुका है। किन्तु च्येन प्रवासी चीनी लेखक हैं जो फ्रांस में बसे हुए हैं। उनकी रचनाओं, विशेषकर 'सोल माउंटेन' में चीन की कम्युनिस्ट सरकार की बड़ी तीखी आलोचना है और वे चीन में प्रतिबंधित हैं। लेकिन मो येन का मामला बिलकुल अलग है। एक तो वे मूल चीनी हैं और चीन में ही रहते हैं। किन्हीं अर्थों में मो का सम्मान बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि पुरस्कार समिति ने इधर कुछ वर्षों से ज्यादातर सम्मान यूरोपीय लेखकों को ही दिया है। अतः एक एशियाई लेखक को सम्मानित किया जाना अकादमी की वस्तुनिष्ठता और सदाशयता का परिचायक लगता है।

मो येन का जन्म सन् 1955 में चीन के पूर्वी शानदोंग प्रान्त के काओमी जिले में एक संपन्न किसान परिवार में हुआ था। मो येन का असली नाम कुएन मोये था किन्तु लेखन के दौरान ही उन्होंने अपना उप नाम चुना—यानी, कुएन मोये को पक्षान्तरित कर दिया। 'कुएन' शब्द से 'कु' हटा दिया और उसे 'मोये' के पीछे लगा दिया और इसप्रकार वह 'मो येन' हो गया। चीनी भाषा में 'मो येन' का मतलब होता है न बोलना। कहा जाता है कि मो येन बचपन से ही बहुत बातूनी और प्रगल्भ थे। किन्तु बीस वर्ष की अवस्था में जब वे सेना में अफसर हुए तो कुछ संयमित हुए, फिर भी वे अपने ह्यूमर और विट के लिए वहाँ भी जाने जाते थे। लेकिन धीरे-धीरे सेना के अनुशासन में मो येन को अपनी प्रगल्भता पर नियंत्रण करने का अवसर मिला और जब उनका पहला उपन्यास आया तब कुएन मोये 'मो येन' हो चुके थे—यानी मो येन

सम्पर्क : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सम्प्रति : विजिटिंग प्रोफेसर, दक्षिण एशिया अध्ययन विभाग, पीकिंग विश्वविद्यालय, बेइजिंग (चीन), मोबाइल : 0086-18810504989

के नाम से ही उनका यह उपन्यास प्रकाशित हुआ। वे लेखक तो बने किन्तु ऐसे लेखक नहीं कि अभिव्यक्ति के तमाम खतरों को सिर पर उठाए चले। मो येन को अब तक मालूम हो चला था कि अभिव्यक्ति के खतरे उठाने का मतलब क्या होता है और वे खालिस विद्रोह की बजाय साहित्य में शिव व सुंदर की अभिव्यक्ति में ही सन्नद्ध रहे।

मो की सर्वाधिक शोहरत उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'रेड सोरगम' से हुई। चीनी भाषा में 'रेड सोरगम' को 'हांग काओल्यांग च्याजू' कहा जाता है। वास्तव में यह एक प्रकार का अन्न है। भारत में भी इस प्रकार का अन्न होता है जिसे ज्वार कहते हैं। ज्वार और सोरगम में काफी समानताएँ हैं। काओमी जिले की धरती पर यह अन्न हर वर्ष उगाया जाता है। जीवनदायी इस अन्न की बड़ी महिमा है यहाँ तक कि यह काओमी के लिए जीवन का पर्याय है। यद्यपि काओमी अन्तर्विरोधों का ऐसा स्थान है जहाँ प्रेम और घृणा का मिला-जुला आवेग अपने द्वंद्वत्मक रूप में बेहद मोहक है।

'रेड सोरगम' (हांग काओल्यांग च्याजू) का प्रकाशन 1987 में हुआ था। यह उपन्यास जापान विरोधी युद्ध पर आधारित है और उसमें युद्ध की विभीषिका के बीच प्रेम और संघर्ष की कथा बहुत खुबसूरत ढंग से विन्यस्त हुई है।

इस उपन्यास के आधार पर इसी नाम से प्रसिद्ध चीनी निर्देशक चांग यिमो ने फिल्म बनाई थी जिसने 1988 बर्लिन अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में सर्वश्रेष्ठ फिल्म का पुरस्कार प्राप्त किया था। इस फिल्म के निर्देशन में चांग ने निर्देशन के क्षेत्र में एक नया प्रयोग किया था और फिल्म की लोकप्रियता ने मो येन की लोकप्रियता में चार चाँद लगा दिए। मो का कहना है कि फिल्म के आने से पहले वे केवल साहित्यिक क्षेत्र में ही जाने जाते थे किन्तु फिल्म आने के बाद उन्हें साहित्य और जन समुदाय दोनों में व्यापक स्वीकृति मिली। यह फिल्म चीन में बहुत लोकप्रिय रही है। किन्तु साहित्य और सिनेमा के कलात्मक सम्बन्ध को लेकर मो स्वयं बहुत द्वंद्व में रहे। जब पहली बार उन्होंने फिल्म देखी तो फिल्म की नायिका कांग ली बहुत प्रभावशाली नहीं लगी। उन्हें लगा कि सब उलट गया है—एकदम उनकी परिकल्पना ही ध्वस्त हो गई है। उन्होंने कहा है, "मुझे वह (कांग ली) कॉलेज की एक छात्रा-सी लगी यबिना स्त्रीत्व के पुट के। उपन्यास के कथा विन्यास में जैसा कि उसे मैंने परिकल्पित किया था उससे बिलकुल अलग! किन्तु चांग (निर्देशक) की निर्देशन कला ने विचित्र जादू किया और फिल्म के कुछ आगे बढ़ते ही उसका चरित्र एकदम उसी रूप में सामने आ जाता है जैसा मैंने उसे परिकल्पित किया था। पाँच मिनट के दुल्हन के दृश्य में तो उसने कमाल ही कर दिया है—और मैं यह देखकर दंग था। मुझे लगा कि ली के बारे में मेरा खयाल गलत था।

निर्देशक चांग ने मो येन के एक अन्य उपन्यास पर भी सन् 2000 में 'खुशी के पल' (हैप्पी टाइम्स) नामक फिल्म बनाई किन्तु यह फिल्म फ्लॉप हो गई। प्रसिद्ध अमेरिकी फिल्म समीक्षक रोगर एल्बर्ट ने इसे 'क्रीपी' (रिंगती हुई) फिल्म की संज्ञा दी है। इस फिल्म के बारे में मो का कहना है कि चांग ने 'रेड सोरगम' की कथा में भी बहुत परिवर्तन किया था किन्तु इस फिल्म में तो उसने उपन्यास के बड़े मूल्यवान अंशों को ही छोड़ दिया था।

दूसरी तरफ उनका यह भी मानना है कि यह निर्देशक के अधिकार-क्षेत्र में है कि क्या ले और क्या छोड़े? उसके इस परिवर्तन से यदि फिल्म अच्छी नहीं बनी तो इसका सारा दारोमदार उस पर है।

चांग की एक अन्य फिल्म 'काटन फ्लीस' भी फ्लॉप हुई जिसे मो ने विशेष रूप से

निर्देशक चांग के लिए लिखा था। मो का कहना है कि 'जब मैं इस फिल्म के लिए लिख रहा था तब मेरे दिमाग में 'रेड सोरगम' की नायिका ली कांग थी जिसकी वचन भंगिमा और व्यवहार-वैचित्र्य-कला अनुपम थी।'

दरअसल, मो ने बड़े परदे के लिए भी काफी लेखन किया है और इस प्रक्रिया में उनके रचनात्मक लेखन को कुछ हद तक क्षति भी पहुँची है। 1990 के दशक में स्वयं मो ने स्वीकार किया है कि 'मेरा स्पष्ट लक्ष्य पैसा कमाना था जबकि स्क्रिप्ट लेखन का उद्देश्य केवल धनार्जन नहीं होना चाहिए—उसे विशुद्ध रूप से धनार्जन के औजार के रूप में नहीं इस्तेमाल करना चाहिए, उसमें गंभीरता होनी चाहिए।' संभवतः गंभीरता के आभाववश ही ये फिल्में फ्लॉप हुई हैं।

मो की ख्याति वास्तव में 'रेड सोरगम' से हुई है हालाँकि उनके उपन्यास 'बिग ब्रेस्ट्स एंड द वाइड हिप्स' की भी मिश्रित चर्चा बराबर होती रही है जिसमें इतिहास, मिथक, रोमांस, ऐन्द्रिकता, अतियथार्थवाद और जादुई यथार्थ का रचनात्मक उपयोग किया गया है। लेकिन यह उतना लोकप्रिय नहीं हो पाया जितना 'रेड सोरगम'। 'रेड सोरगम' की अब तक एक करोड़ प्रतियाँ बिक चुकी हैं। यह मो की सर्वाधिक बिकने वाली रचना है।

2003 में मो के उपन्यास पर आधारित 'नुयेन' फिल्म प्रदर्शित हुई और इसे व्यापक स्वीकृति मिली। इस फिल्म के निर्देशक हू च्यांग छी का कहना है कि इस रचना में चीन के ग्रामीण जीवन का चित्र बड़ी कलात्मकता और खूबसूरती के साथ उकेरा गया है और कथा की कोमलता को बचाए रखने का प्रयास भी फिल्म में बहुत संजीदगी से किया गया है।

मो की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं—'रेड सोरगम', 'बिग ब्रेस्ट्स एंड द वाइड हिप्स', 'लाइफ एंड डेथ वीयरिंग मी आउट', 'शैंडलवुड पनिशमेंट', 'द रिपब्लिक ऑफ वाइन', 'फ्रॉग', 'द गार्लिक बैले', 'शिफू यु विल डू एनिथिंग फॉर ए लाइफ', 'पा' इत्यादि।

मो का मानना है कि उनके उत्कृष्ट लेखन का अधिकांश सिनेमा के लिए था। कुछ आलोचकों का तो यह भी आरोप है कि मो ने बड़े परदे पर सेक्स और हिंसा को भी बड़े पॉपुलर और ऐन्द्रिक तरीके से चित्रित करने का प्रयास किया है। 'फैंटेसी' और 'आयरनी' का कलात्मक उपयोग वल्वैरिटी की सीमा तक हुआ है—खासकर, 'बिग ब्रेस्ट्स एंड द वाइड हिप्स' में। इसके जवाब में मो का कहना है कि मेरा मूल्यांकन एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में नहीं, बल्कि एक लेखक के रूप में होना चाहिए। बात एक सीमा तक ठीक भी है।

अन्य लेखकों की तुलना में मो में यह खुलापन बहुत सीमित रहा है, किन्तु सिनेमा और साहित्य की सहजीविता की अनिवार्य उपस्थिति ने उनकी रचनात्मकता को ऊँचाई प्रदान करती है। मो का कहना है कि 'एक उपन्यासकार के लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि वह एक फिल्म निर्माता के लिए न केवल एक कथा प्रदान करता है अपितु एक प्रभावी परिवेश और उसकी सही समझ भी प्रदान करता है।' अब यह फिल्मकार कि सूझबूझ पर निर्भर करता है कि वह उसका कितना रचनात्मक उपयोग करता है।

मो ने सिनेमा के लिए जरूर लिखा किन्तु एक स्तर बनाए रखा। पटकथा लेखन के बारे में भी मो का मानना है कि वह पैसा कमाने का अंतिम जरिया नहीं है। यह भी कि वह शोहरत पाए, इसकी उम्मीद भी नहीं की जाय। वे लिखते हैं, 'जब आप उपन्यास लिख रहे हैं तो यह कतई उम्मीद न करें कि यह बड़े या छोटे परदे पर कैसे शोहरत पाएगा। यह सोचने का काम निर्देशक का है कि उसमें उसकी थीम के लिए उपादेय क्या है?'

मो को अपनी जन्मभूमि से बहुत लगाव रहा है। यही कारण है कि उसे छोड़कर वे

अन्यत्र नहीं गए। उनके 31 वर्ष का लेखकीय कैरियर काओमी से ही संबद्ध रहा। 'रेड सोरगम' उपन्यास के रचना विधान में काओमी का परिवेश अपनी पूरी रचनात्मकता के साथ विन्यस्त। इसी प्रकार 2009 में प्रकशित उनके उपन्यास 'फ्रॉग' (चीनी भाषा में 'वा') में शेन्दोंग के गाँवों की निहायत बेतुकी आधुनिकता का बहुत मार्मिक इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है। कथा की मुख्य नायिका आंटी वान सिंग अपनी जवानी में एक परी लोक की देवी के रूप में दिखती है क्योंकि वह आधुनिक मिडवाइफ है जिसने दस हजार बच्चे पैदा कराए हैं। किन्तु जैसे ही राष्ट्रीय परिवार कल्याण परियोजना का दबाव बढ़ता है, वह दानवी के रूप में अवतरित होती है जो चीन जैसे जनसंख्या बहुल देश में बेरहमी से फैमिली प्लानिंग कराती है। उसकी द्वंद्वात्मक स्थिति और मर्यान्तक पीड़ा का बयान मो ने बड़ी खूबसूरती से प्रतीकात्मक ढंग से की है। वास्तव में चीन के प्राचीन मिथकों में मेंढक उर्वरता या जनन क्षमता का गण चिह्न (टोटेम) माना गया है और चीनी नाम 'वा' शिशु का ध्वन्यात्मक पर्याय है। आंटी को अन्ततः अपने कृत्य से अपराध बोध होता है और वह इसका प्रायश्चित्त करती है अपने भतीजे (ख ताओ) की बाँझ पत्नी का सरोगेट मदर के माध्यम से संतान पैदा करवाकर। उपन्यास का उत्तरार्ध भाग सामाजिक घटनाओं से प्रेरित है जिसमें खिलाड़ियों की फ़ैक्ट्री में आग लगने से सैकड़ों प्रवासी औरतों की मृत्यु हो जाती है और बहुत-सी विस्थापित हो जाती हैं। साथ ही उन भूमिगत सरोगेट माताओं की मर्यान्तक पीड़ा का बयान करता है जो शक्तिशाली और धनाढ्य लोगों की सेवा में संलग्न होती हैं। अंततः यह उपन्यास इस बात की सांत्वना देता है कि 'चाहे जो भी हो जीवन को प्यार करो।' हालाँकि कुछ लोगों ने इस उपन्यास को फैमिली प्लानिंग नीति के 'संबोधन गीत' की संज्ञा दी है जिसमें परोक्ष रूप से सरकार की नीतियों के समर्थन का आरोप लगाया गया है।

समसामयिक चीनी साहित्य के जानकार और अनुवादक हार्वर्ड गोल्ड बट का मानना है कि मो के उपन्यास चार्ल्स डिकेन्स और मार्खेज की याद दिलाते हैं। उनकी कल्पनाशीलता और रचनाशीलता बेजोड़ है।

मो की एक अन्य रचना 'द रिपब्लिक ऑफ वाइन' भी बहुत ही संजीदा और प्रेरणास्पद है। इसमें मो की अतिथार्थवादी दृष्टि एवं रूपक विधान की कलात्मक प्रस्तुति ने कमाल का जादू किया है। उपन्यास में व्यापक रूप से भ्रष्ट अधिकारियों और चीन के पाखंडी शराब सेवियों के ऊपर तीखा व्यंग्य किया गया है।

मो येन के कुछ समसामयिक साहित्यकारों और कलाकारों ने उनके सम्मानित होने पर तीखी प्रतिक्रियाएँ की हैं। उनका कहना है कि मो कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य हैं और उनकी रचनाओं में उस प्रकार का व्यापक प्रतिरोध और सरोकार नहीं है जैसा कि फ्रांस में बसे चीनी लेखक कावशिंग च्येन की रचनाओं में है या वैसा व्यवस्था-विरोधी स्वर जो ल्यव श्यावपो के स्वर में है। ल्यव चीन के विद्रोही नेता हैं जिन्हें नोबेल शांति सम्मान से पहले ही नवाजा जा चुका है। प्रख्यात कलाकार और संस्कृति कर्मी ऐवेवे का कहना है कि मो हमेशा व्यवस्था के साथ सहयोग करते रहे हैं जो सदा अपने लोगों का ख्याल रखती है।

वास्तव में किसी भी रचनाकार का मूल्यांकन इस आधार पर नहीं होना चाहिए कि उसने अपनी रचना में व्यवस्था का कितना विरोध या समर्थन किया है। साहित्य यदि समाज का दर्पण है तो दूसरी तरफ वह एक कला भी है और मो येन की रचनाएँ 'कला कला के लिए' सिद्धांत से भी कहीं बहुत ऊपर उठकर समाज की बहु आयामी छवियों को चित्रित करती हैं।

आज यदि हिंदी में कबीर और तुलसी में नोबेल सम्मान की प्रतिस्पर्धा होती तो हो सकता है सम्मान शायद तुलसीदास के पक्ष में जाता। तुलसी का आत्म संघर्ष कबीर से कम नहीं था। देखना यह होगा कि दोनों की रचनात्मकता का रेंज कैसा और कितना है?

बहरहाल, मो येन 'रिबेलियन' नहीं हैं लेकिन उनकी रचनाओं में चीनी समाज का दुख-दर्द है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। वे मानवतावादी हैं और अपनी व्यापक कल्पनाशीलता के माध्यम से उन्होंने इतिहास, मिथक, लोक कथाओं और समसामयिक समस्याओं को फेंटकर एक ऐसे अनूठे साहित्य-संसार का सृजन किया है जो स्पृहणीय है। उनकी रचनाओं का अनुवाद अंग्रेजी में ही नहीं रूसी भाषा में भी हुआ है और नोबेल मिलने के बाद तो वहाँ वे और भी लोकप्रिय हो गई हैं। कुल मिलाकर मो का यह सम्मान स्वागत योग्य है।

अप्रकट करुणा के पक्ष में : ही भी किन्तु परन्तु रंगनाथ

हिमांशु पंड्या

“कुछ ही दिनों में रंगनाथ को शिवपालगंज के बारे में ऐसा लगने लगा कि महाभारत की तरह, जो कहीं नहीं है वह यहाँ है, और जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है। उसे जान पड़ा कि हम भारतवासी एक हैं और हर जगह हमारी बुद्धि एक-सी है। उसने देखा कि जिसकी प्रशंसा में सभी मशहूर अखबार पहले पृष्ठ से ही मोटे-मोटे अक्षरों में चिल्लाना शुरू करते हैं, जिसके सहारे बड़े-बड़े निगम, आयोग और प्रशासन उठते हैं, गिरते हैं, घिसटते हैं, वही दांव-पेंच और पैतरेबाजी की अखिल भारतीय प्रतिभा यहाँ कच्चे माल के रूप में इफरात से फैली पड़ी है। ऐसा सोचते ही भारत की सांस्कृतिक एकता में उसकी आस्था और भी मजबूत हो गई।”

हिन्दी में यदि आलोचकीय अनुदारता और पाठकीय प्रशंसा के व्युत्क्रमानुपाती सम्बन्ध का कोई पैमाना बनाया जाए तो निश्चय ही श्रीलाल शुक्ल कृत ‘राग दरबारी’ (आगे से ‘राद’) उसमें सर्वोच्च स्थान पर होगा। ऐसा नहीं कि ‘राद’ की व्यंग्य की धार का लोहा नहीं माना गया या ‘राद’ के वर्णन की सत्यता में संदेह किया गया लेकिन दांव-पेंच और पैतरेबाजी की जिस अखिल भारतीय प्रतिभा का वर्णन शिवपालगंज और उसकी सार्वजनिक संस्थाओं जैसे ग्राम पंचायत, कोऑपरेटिव सोसाइटी और सबसे बढ़कर छंगामल इंटर कॉलेज के माध्यम से किया गया, उसे आलोचकों ने संयमहीन हास्य माना। उपन्यासकार किस वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहा है, ये सवाल उठते हुए उपन्यास की पक्षधरता को संदेह के घेरे में लिया। यहाँ प्रस्तुत निबंध में मुख्यतः इन्हीं आलोचनाओं से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है कि ‘राद’ की पक्षधरता क्या वाकई संदेहास्पद है, क्या वाकई वंचितों/उत्पीड़ितों का चित्रण समस्यामूलक है, क्या उनके स्वर का सही अंकन नहीं हो पाया है, क्या ‘राद’ के व्यंग्य की धार वाकई गलत दिशा में जाती है, क्या यह उपन्यास प्रेमचंद की परम्परा से विक्षेप है आदि आदि।

‘राद’ को पढ़ने और आनंदित होने वाले पाठक/आलोचक एक किस्म के ‘गिल्ट प्लेजर’

(यानी ऐसा आनंद जिसे स्वीकारने में खुद से भी शर्मिंदगी हो) के शिकार नजर आते हैं। सहृदय आलोचक भी किन्तु-परन्तु के साथ 'राद' के व्यंग्य को 'कुछ ज्यादा ही हो गया' बताते आए हैं। उदाहरण के लिए कुंवर नारायण लिखते हैं, "हम श्रीलाल शुक्ल के इरादों से पूरी तरह सहमत हैं फिर भी अक्सर हिंदुस्तान की उस तस्वीर पर हंस पाना मुश्किल हो जाता है जिसे श्रीलाल शुक्ल चित्रित करते हैं। जरूर यह यथार्थ है कि नब्बे फीसदी हिंदुस्तानियों को मल-मूत्र त्यागने की आधुनिक सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं और यह एक बड़ी शर्म की बात है लेकिन यह एक बड़े व्यंग्य की बात भी है, इसे मान लेने में थोड़ा मतभेद हो सकता है। ऐसे कई स्थल हैं जहाँ इच्छा होती है कि लेखक यदि इतना अधिक यथार्थ के पीछे न पड़ता तो अच्छा होता। व्यंग्य के हित में बहुत अच्छा होता।"

अर्थात् 'राद' में यथार्थ तो है लेकिन अतिथार्थ है, जैसा कि खुद 'राद' में पंक्ति है, "भागो, भागो, यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है।" यह यथार्थ इतना अधिक पारदर्शी है कि प्रख्यात समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे कह उठते हैं, "भारत के बदलते गाँवों को समझने के लिए 'राग दरबारी' पांडित्य पीड़ित अनेक समाजशास्त्रीय अध्ययनों से कहीं अधिक उपयोगी है।" फिर इस यथार्थ से हमें परहेज क्यों है? क्या इसलिए कि इसमें द्वंद्वात्मकता नहीं है? बकौल नेमिचन्द्र जैन, "अतिकथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण होता है कि रचना में लेखक यथार्थ के जटिल हिस्से को पकड़ने में असमर्थ रहा है। अतिकथन से ग्रस्त उपन्यास 'राग दरबारी' इसी तरह का उदाहरण है—यह उपन्यास उसकी पूरी तस्वीर तो है ही नहीं क्योंकि उसमें न तो द्वंद्व है, न गति। सारा जीवन एक ही धूसर रंग में अंकित है।"

यहाँ द्वंद्व को मार्क्सवादी सन्दर्भ में समझा जाए तो : सद और खल के बीच टकराव के दृश्य, संघर्ष चेतना और अलिखित चाह ये कि कुछ आशा का सन्देश हो। (मैं यहाँ व्यवस्था के अंतर्विरोधों आदि को शामिल नहीं कर रहा और नेमि जी द्वारा जिस अभाव पर निराशा प्रकट की गई है, उसी तक अपने को सीमित रख रहा हूँ।) जहाँ ये आशावादिता नहीं दिखती वहाँ प्रकृतिवाद है, निषेधवाद है, विध्वंस है। सृजन नहीं है।

वंचित की विजय का आग्रह तो जाहिर है, यथार्थवाद की समझ रखने वाला कोई भी विद्वान आलोचक नहीं करेगा पर यह आशा अवश्य की जाती है कि उत्पीड़ित के भीतर संघर्ष चेतना दिख जाएगी और कुछ नहीं तो कम से कम इस वंचित/उत्पीड़ित का पक्ष तो उपन्यासकार रख ही देगा। 'राद' में आलोचकों को ये नजर नहीं आता। वीरेन्द्र यादव के शब्दों में, " 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' दोनों ही उपन्यासों में लूट तंत्र के खलनायकों के चित्रण में श्रीलाल शुक्ल की जो दक्षता दीखती है, वह तंत्र के पीड़ितों के वर्णन में नहीं है। दरअसल आभिजात्य के जिस धरातल पर खड़े होकर वे नकार की कामिक शैली अपनाते हैं उसमें खल पात्रों की ही उत्कृष्ट रचना हो सकती है। यही कारण है कि ग्राम्य पृष्ठभूमि के बावजूद 'राग दरबारी' में होरी, धनिया, गोबर, दुखी चमार, घीसू, शंकर, हल्कू सरीखे दुखी व उत्पीड़ित पात्र नहीं हैं।"

पहली बात—यह कामिक शैली जहाँ भाषाई तिर्यकता वहन करती है, उसे इस आलोचना से अलगाए जाने की जरूरत है। उपन्यास के प्रारंभिक पैराग्राफ में ही ट्रक के वर्णन के दौरान लिखा है, "चालू फैशन के हिसाब से झाइवर ने ट्रक का दाहिना दरवाजा खोलकर देने की तरह फैला दिया था। इससे ट्रक की खूबसूरती बढ़ गई थी; साथ ही यह खतरा मिट गया था कि उसके वहाँ होते हुए कोई दूसरी सवारी भी सड़क के ऊपर से निकल सकती है।" यानी प्रारंभिक पंक्तियों से ही लेखक गलत को सही और सही को गलत कहने का ढब अख्तियार

कर लेता है। इस शैली को अपनाने के बाद लेखक को अपने विशेषणों को एकल उद्धरण चिन्ह में रखकर उनका तिर्यक अर्थ बताने की जरूरत नहीं रहती। इसके उलट यह हमारे लोकमानस में बसे पूर्वाग्रहों पर सहज ही व्यंग्य बनकर सामने आता है। उदाहरणार्थ, “किसी भी शारीरिक विकार के लिए हम भारतीयों में जो सात्विक घृणा होती है, उसे थूककर बाहर निकालते हुए सनीचर ने कहा, “लंगड़ा जा रहा है साला!” अथवा, “मुलजिम हरिराम जज के कह देने भर से बाइज्जत तो नहीं बन गए—रहे गुंडे के गुंडे ही—पर जेल से वापस आते ही उन्होंने पूरे इलाके में बाइज्जत समझे जानेवालों को—यानी स्त्रियों, अछूतों और मुसलमानों को—छोड़कर मनुष्य-मात्र को एक दावत बोल दी।”

इस शैली में आए पदबंधों को अभिधा में लिया जाना तो गलत होगा, हाँ, चित्रण की आपत्तियों को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। नित्यानंद तिवारी ऐसी ही आपत्तियाँ उठाते हैं। ढब—इस पदावली का प्रयोग उन्होंने ही किया है। वे मानते हैं कि, “‘राग दरबारी’ में वर्णन का ढब इतना छाया हुआ और एकरूप है कि 30-40 पृष्ठों में ही वह फार्मूलेबाजी लगाने लगता है। लेखक की सम्पृक्ति इस ढब में इतनी ज्यादा महसूस होने लगती है कि वास्तविकता से उसका सम्बन्ध छूटने लगता है। घटनाएं चाहे छोटी हों या बड़ी वे इस ढब के लिए इस्तेमाल की जाती हैं। बहुत कम महसूस होता है कि ढब और घटना या परिस्थिति का द्वंद्व क्या है।” श्री तिवारी ने एक सटीक उदाहरण द्वारा अपनी बात को स्पष्ट किया है। वे रिक्शे वाले के वर्णन के प्रसंग में ‘राद’ का ये अंश उद्धृत करते हैं, “आज के भावुकतापूर्ण कथाकारों ने न जाने किससे सीखकर बार-बार कहा है कि दुःख मनुष्य को मांजता है। बात कुल इतनी ही नहीं है, सच तो यह है कि दुःख मनुष्य को पहले फींचता है, फिर फींचकर निचोड़ता है, फिर निचोड़कर, उसके चहरे को घुग्घू जैसा बनाकर उस पर दो चार काली-सफेद लकीरें देता है। दुःख इंसान के साथ यही करता है और उसने गोंडा के रिक्शेवाले के साथ यही किया था। पर शहरी रिक्शावाले पर इसका कोई असर नहीं हुआ। सिगरेट फेंक कर उसकी ओर बिना ध्यान दिए, उसने अपना रिक्शा तेजी से आगे बढ़ाया।” इसके बाद श्री तिवारी लिखते हैं, “गोंडा के रिक्शेवाला का वर्णन बहुत संक्षिप्त किन्तु पर्याप्त है साथ ही शहरी रिक्शावाले का वर्णन बहुत फैला हुआ लेकिन अपर्याप्त है। कारण क्या है? उद्धृत अंश में वर्णन के ढब और मानवीय दुःख का द्वंद्व उभर जाता है जबकि शहरी रिक्शावाले के वर्णन के साथ वर्णन का ढब स्थिति के साथ औपचारिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इन दोनों का वर्णन पढ़ते हुए कोई भी महसूस कर सकता है कि लेखक का ढब एक जगह स्वाद उभारता है तो दूसरी जगह तनाव।”

तिवारी जी की यह आलोचना गंभीर विचार की माँग करती है, उनका यह कहना उचित ही है कि ‘शहरी रिक्शावाले में जो शोहदापन, बड़बड़ाहट, स्वाभिमान जैसी अकड़ है’, उसके प्रति लेखक एक आनंद लेने वाली मुद्रा ही अपनाता है। ‘उसमें एक वाक्य भी ऐसा नहीं है जो उसकी विकृति के वास्तविक कारणों की टोह लेता हो।’ श्रीलाल शुक्ल यदि वंचितों के चित्रण में थोड़ी निस्संगता छोड़कर उसकी परिस्थिति के कारकों का विश्लेषण कर पाते तो क्या ही अच्छा होता! तो क्या यह माना जाए कि यह ढब ही श्रीलाल शुक्ल की सीमा है? मेरा मत यह है कि जिस स्वाद की बात नित्यानंद तिवारी कर रहे हैं—और यह इस ढब के कारण ही संभव हो पाया है—वही उपन्यास के अंत तक आते-आते पाठक को तनाव तक पहुँचाता है और सामान्य परिस्थितियों के सरलीकृत निष्कर्ष निकालने की उसकी प्रारम्भ से

बनी आई आदत को झटका देकर तोड़ता है। मैं लेख के उत्तरार्ध में इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा।

वंचित का पक्ष यानी प्रेमचंद की विरासत आखिर है क्या?

सुधीश पचौरी ने लिखा है, “ ‘राग दरबारी’ पढ़ने के बाद प्रेमचंद के गाँव अचानक झूठे लगने लगते हैं। प्रेमचंद की दुकान में अपना माल रखकर बेचने वालों के लिए उस उत्तर आधुनिक ‘शिफ्ट’ से बचना मुश्किल है जो ‘राग दरबारी’ की ‘पैरोडी’ पैदा करती है। वरना इस प्रश्न का उत्तर क्या है कि छत्तीस तक जो ग्राम्य जीवन एक मनोहारी ‘इन्नोंसेंस’ में मौजूद दीखता है वह अड़सठ तक आते-आते भयावह गंजहेपन में क्यों तब्दील हो जाता है?”

मेरी इससे विनम्र असहमति है। विडम्बना यह भी है कि अनेक नकारात्मक आलोचनाओं के बीच उपलब्ध यह एकमात्र सकारात्मक आलोचना अधिक समस्यामूलक है क्योंकि यह ‘राद’ का यथार्थवाद और प्रेमचंद की परम्परा से विक्षेप बताकर प्रकारांतर से अन्य आलोचकों की प्रस्थापनाओं की पुष्टि ही करती है। प्रेमचंद शुरुआती रूमानी आदर्शवाद को अंत तक आते-आते छोड़ चुके थे। स्वयं श्रीलाल शुक्ल को पढ़ना यहाँ दिलचस्प होगा। वे लिखते हैं, “प्रेमचंद जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी साहित्य में लगता है, ग्रामीण जीवन के प्रति दो प्रकार की दृष्टियाँ विकसित हुई हैं। पहली दृष्टि ‘अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है’ वाली है, दूसरी ‘चरमर चरमर चूं चरर मरर जा रही चली भैंसा गाड़ी’ वाली। पहली दृष्टि ग्रामीण परिस्थिति को प्रकृति की रम्यता, सरलता, लोकगीतों और लोककथाओं की रूमानी तन्द्रिलता से जोड़ती है जिसकी हास्यास्पद परिणति “ऊँची अरहर में लुकाछिपी खेलती युवतियाँ मदमाती चुम्बन पा प्रेमी युवकों के...।” जैसी पंक्तियों में होती है। ग्राम जीवन की इस फर्जी, रूमानी, संघर्ष रहित छवि को रेडियो और सिनेमा ने और भी पुष्ट किया है जिसके खिलाफ मेरी प्रतिक्रिया ‘स्वर्ण ग्राम और वर्षा’ या ‘पहली चूक’ जैसी मेरी आरंभिक रचनाओं में व्यक्त होती है। दूसरी दृष्टि गाँव के छोटे किसानों, मजदूरों और दूसरे कमजोर वर्गों को केन्द्र बनाकर सामाजिक विषमता और उनके शोषण की कथाओं में परिलक्षित होती है। यह स्वस्थ दृष्टि है पर इससे अनुप्राणित साहित्य भी ज्यादातर रस्मी, सतही और प्राणहीन है, उसके प्रणेताओं में अधिकांश का दर्शन (विजन) सतह के नीचे बिलकुल अस्पष्ट है जिससे सामाजिक अन्याय की स्थिति, जो एक विशेष प्रकार की आर्थिक व्यवस्था का सहज परिणाम है, सस्ती भावुकता के माध्यम से प्रकट होती है और उलझाव भरे मुद्दों का अतिसाधारणीकरण हो जाता है।”

इस लंबे उद्धरण में प्रारम्भ में श्रीलाल शुक्ल ने प्रेमचंद को अपवाद न भी बताया होता तो भी हम स्वयं देख सकते हैं कि ग्राम बनाम शहर के द्वंद्व से उभरकर प्रेमचंद ने गोदान में ग्राम के भीतर ही शोषण की जटिल संरचना को रेशा-रेशा करके दिखाया था। होरी की मृत्यु ग्राम्य जीवन से जुड़ी रूमानियत का अंत ही थी और यदि होरी, धनिया, गोबर जैसे पात्रों के जरिये त्रासद करुणा थी भी तो कफन के घिसू-माधव तक आते-आते उसका भी लोप हो चुका था। यदि घिसू-माधव को कहानी का खल पात्र नहीं बल्कि उत्पीड़ित ही मानें, जैसा मेरी उस कहानी को पढ़ने की दृष्टि रही है, तो अंतिम पछतावे के फौरन बाद की पंक्ति, ‘श्रद्धालुता का यह रंग तुरंत ही बदल गया’ और अंतिम विलाप के बाद उन्हें झूमते दिखाए जाने का दृश्य कोई भ्रम नहीं रहने देते कि प्रेमचंद यथार्थ की उस सीमा तक पहुँच चुके थे जहाँ शोषण तंत्र को दिखाने के लिए शोषित को ‘आदर्श निरीह’ की तरह चित्रित करना आवश्यक नहीं है।

शोषित/उत्पीड़ित/दलित को 'आदर्श निरीह' की तरह दिखाने से उस विलोम की सृष्टि होती है जो उत्पीड़क/शोषक/पूँजीपति/ब्राह्मणवादी के प्रति हमारे मन में आए आक्रोश को द्विगुणित करती है। श्रीलाल शुक्ल इस विलोम को सायास नष्ट करते हैं और इस प्रकार हमारे लिए सुविधाजनक रास्ता बंद कर देते हैं। दो उदाहरण देखें—एक, पंडित राधेलाल एक महिला को 'भगा' लाए हैं। इस स्त्री को सभी छेड़ते हैं क्योंकि बकौल कथावाचक, "वह भागकर आई थी इसलिए कुतिया थी।" यह तो बताने की जरूरत नहीं कि 'कुतिया' शब्द उसी तिर्यक भाषा का उदाहरण है, जो उस स्त्री के लिए नहीं बल्कि लोकमानस में बसे पूर्वग्रह पर व्यंग्य है, यहाँ, जो बताने के लिए यह उदाहरण चुना गया है वो ये कि उसे यह मजाक/छेड़ा जाना अच्छा लगता है। "वह बड़बड़ाती जा रही थी, जिसका तात्पर्य यह था कि कल के छोकरे जो उसके आगे नंगे-नंगे घूमा करते थे, आज उससे इश्कबाजी करने चले हैं। ससरे मोहल्ले को यह समाचार देकर कि लड़के उसे छेड़ते हैं और वह अब भी छेड़ने लायक है, वह औरत वहीं अँधेरे में गायब हो गई।"

दूसरा उदाहरण—खन्ना मास्टर अपनी कक्षा में एक लड़के को 'मेटाफर' का अर्थ पूछते हुए फटकार रहे हैं। वे कहते हैं, "हिन्दी में तो बड़ी-बड़ी प्रेम कहानियाँ लिखा करते हो पर अंग्रेजी में कोई जवाब देते हुए मुँह घोड़े-जैसा लटक जाता है!" यहाँ यह लम्बा उद्धरण देखें जो सवर्ण मानस की घृणा और उससे भी ज्यादा यथास्थिति के चरमराने की खीझ को बड़े ही धारदार तरीके से हलाल करता है, "कुछ दिन पहले इस देश में यह शोर मचा था कि अपट्ट आदमी बिना सींग-पूँछ का जानवर होता है। उस हल्ले में अपट्ट आदमियों के बहुत से लड़कों ने देहात में हल और कुदालें छोड़ दीं और स्कूलों पर हमला बोल दिया। हजारों की तादाद में आए हुए ये लड़के स्कूलों, कॉलेजों, यूनिवर्सिटीयों को बुरी तरह से घेरे हुए थे। शिक्षा के मैदान में भम्भड़ मचा हुआ था। अब कोई यह प्रचार करता हुआ नहीं दीख पड़ता था कि अपट्ट आदमी जानवर की तरह है। बल्कि दबी जबान में यह कहा जाने लगा था कि ऊँची तालीम उन्हीं को लेनी चाहिए जो उनके लायक हों, इसके लिए 'स्क्रीनिंग' होनी चाहिए। इस तरह से घुमा-फिराकर इस देहाती लड़कों को फिर से हल की मूठ पकड़ाकर खेत में छोड़ देने की राय दी जा रही थी। पर हर साल फेल होकर, दर्जे में सब तरह की फटकार झेलकर और खेती की महिमा पर नेताओं के निर्झरपंथी व्याख्यान सुनकर भी वे लड़के हल और कुदाल की दुनिया में वापिस जाने को तैयार न थे। वे कनखजूरे की तरह स्कूल से चिपके हुए थे और किसी भी कीमत पर उससे चिपके रहना चाहते थे।"

इससे आगे की पंक्तियाँ तो उत्तर मंडल काल के सवर्ण हाहाकार को तीस साल पहले ही देख चुकी थीं, "घोड़े के मुँह वाला यह लड़का भी इसी भीड़ का अंग था : दर्जे में उसे घुमा-फिराकर रोज-रोज बताया जाता था कि जाओ बेटा, जाकर अपनी भैंस दुहो और बैलों की पूँछ उमेटो; शेली और कीट्स तुम्हारे लिए नहीं हैं।" (यहाँ भी दृष्टव्य है और आगे भी लड़के के लिए कथावाचक द्वारा 'घोड़े के मुँह वाला' ही सम्बोधन दिया जाता है। जाहिर है, किसी का मुँह घोड़े जैसा नहीं होता, हर बार इस विशेषण के दोहराव के साथ मास्टर साहब की उपमा हास्यास्पद होती चली जाती है।) पर इस प्रसंग में भी लड़के के बारे में उल्लेख है कि जब, "उसका बाप आज भी अपने बैलों के लिए बारहवीं शताब्दी में प्रचलित गंडासे से चारा काटता था, उस वक्त लड़का एक मटमैली किताब में अपना घोड़े-जैसा मुँह छुपाकर बीसवीं शताब्दी के कलकत्ते की रंगीन रातों पर गौर करता रहता था।"

कहना यह है कि दोनों ही प्रसंगों में स्त्री और लड़का 'आदर्श निरीह' की छवि में फिट

नहीं होते। यह विलोम रचना बहुत आसान होता लेकिन तब यह उपन्यास साधारणता की ढलान पर लुढ़कता, विशिष्टता के दुर्गम रास्ते पर न चल पाता। यह उलटबाँसी-सी लगती है, किन्तु 'आदर्श निरीह' रचकर सामाजिक पूर्वाग्रहों को चुनौती नहीं दी जा सकती है, वरन वे पुष्ट ही होते हैं। स्त्रीवादी संगठनों द्वारा 'स्लट वाक' के आयोजन में इन प्रतीकों की चुनौती देखी जा सकती है। पंडित राधेलाल की पत्नी/जीवनसाथी कैसी है इससे उसके बारे में राय रखने वालों को राय रखने के अधिकार की वैधता/अवैधता नहीं स्थापित होगी और न ही खन्ना मास्टर के विद्यार्थी के होनहार होने से ही उनकी पूर्वाग्रही दृष्टि कठघरे में आएगी। श्रीलाल शुक्ल उस लोकमानस को प्रश्नचिह्नित कर रहे हैं जिसमें एक ही घटना के जरिए पंडित राधेलाल 'कभी न चूकने वाले मर्द' के रूप में विख्यात हुए जबकि उनकी पत्नी को उपरोक्त संबोधन मिला। श्रीलाल शुक्ल इसी दोहरेपन पर तंज करते हैं और अब इसे पूरा पढ़िए—“पंडित राधेलाल की जो भी प्रतिष्ठा रही हो, उनकी प्रेयसी की स्थिति बिलकुल साफ थी। वह भागकर आई थी, इसलिए...।”

ठीक यहीं पर बेला का भी उदाहरण ले लें जो रूपन बाबू और रंगनाथ दोनों के सपनों में आती थी, लेकिन उसका चयन बंदी पहलवान थे। रंगनाथ और रूपन बाबू की कुंठाएँ हस्तमैथुन या स्वप्नदोष में स्खलित होती हैं तो छोटे पहलवान की कुंठा उसे आसानी से सार्वजनिक रूप से बदचलन कह देने में। क्या यहाँ भी सामाजिक पूर्वाग्रह नहीं काम कर रहा? छतों को लांघकर अभिसार के लिए आती बेला के चित्रण पर आपत्ति रखने वाली दृष्टि अंततः उसके एक सुशीला के रूप में चित्रण की आकांक्षा तक ही जाती है (और यह भी कम समस्यामूलक नहीं है।) श्रीलाल शुक्ल फिर हमारे सामाजिक दोहरेपन पर सटीक टिप्पणी कर देते हैं, प्रसंग है वैद्य जी द्वारा बेला के पिता के यहाँ रिश्ते की बात करने जाने का, “बड़े आदमियों का जीवन चरित ही हमारे यहाँ इतिहास माना जाता है और अगर उसकी परिभाषा न बदली तो भविष्य में हाईस्कूल में लड़कों की वार्षिक परीक्षा में अवश्य पूछा जाएगा कि “वैद्य जी के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना क्या थी?” और वे उत्तर में लिखेंगे, “वे फलों तारीख को अपना दरवाजा छोड़कर गयादीन नामक एक महासामन्त के घर गए थे।” इसी के साथ दूसरा सवाल होगा, “इस घटना का कारण क्या था?” और लड़के जवाब लिखेंगे, “इस घटना का कारण उनके बड़े लड़के बंदी पहलवान का आचरण और गयादीन की लड़की बेला का दुराचरण था।”¹⁶ (बल मेरा)

सच तो यह है कि 'राद' के वंचित दयनीय नहीं हैं। श्रीलाल शुक्ल ने स्वयं लिखा है, “गाँव का आदमी अगर सफेद कालर वाले शहरी की तरह आत्मदया और कुंठा का शिकार हो जाए और उसे अपने व्यवहारों में भी दिखाने लगे तो जीवित रहना उसके लिए दूभर हो जाएगा और गाँव सामूहिक आत्महंताओं के केन्द्र हो जाएँगे। विपत्तियों और संघर्षों को झेलने में नियतिवाद ही उनका एकमात्र शास्त्र नहीं है, जीवन के प्रति उनमें एक खुली हुई दृष्टि भी है जो उतने ही कारगर एक दूसरे अस्त्र की सृष्टि करती है जिसका नाम परिहासबोध है।”¹⁷ जो बात श्री शुक्ल ने नहीं लिखी वो ये कि जो गंजहापन शिवपालगंज के सभी पात्रों में नजर आता है, वह परिहासबोध उनकी बचे रहने की जद्दोजहद का हिस्सा ही है। सनीचर, जिसके बौद्धमपने का उपहासास्पद चित्रण हम शुरुआती हिस्से में पढ़ते हैं, प्रधान बनने की प्रक्रिया में सरकारी योजनाओं का दलाल भी बन जाता है और परचून की दुकान भी खोल लेता है। “प्रधान बन जाने के बाद सनीचर ने उस मैदान के एक कोने पर लकड़ी का एक केबिन खड़ा किया और वहाँ परचून की एक दुकान खोल ली। यह काम वह प्रधान बनने के पहले क्यों नहीं कर सका, इसके बारे में उसे कुछ नहीं कहना था।”¹⁸ इस 'कुछ नहीं कहने' में 'राद'

के पाठक के लिए जो सन्देश है वह कोई गूढ़ नहीं है। सनीचर का बौडमपना, रिक्शेवाले की बेफिक्री, गयादीन का (बकौल रंगनाथ) गयादीनवाद; ये सभी रूमानहीन सामाजिक व्यवस्था में टिके रहने के उनके पैतरे ही हैं। ये पैतरे कभी सफल होते हैं कभी असफल। पुनः शहरी रिक्शेवाले के प्रसंग में नित्यानंद तिवारी जी की शिकायत पर ध्यान दें। प्रसंग के प्रारम्भ में ही शहरी रिक्शेवाले के सन्दर्भ में कथावाचक की टिप्पणी थी (जिसकी तिवारी जी से उपेक्षा हो गई), उसका पसीने से लथपथ चेहरा देखकर वेदना का फोटोग्राफ नहीं, बल्कि वेदना का कार्टून आँखों के आगे आ जाता था। सिनेमा देखने और सिगरेट पीने की ढींगों के बावजूद शहरी रिक्शेवाले और गोंडा के रिक्शेवाले की वर्गीय स्थिति एक ही है। बस, दूसरे की स्थिति का तनिक कारुणिक विश्लेषण उसे 'वेदना का फोटोग्राफ' बनाता है जबकि पहले द्वारा उसे ढंकने की असफल कोशिश उसे 'वेदना का कार्टून' बनाती है...और ये ज्यादा कारुणिक है।

'राद' के उत्पीड़ितों के बारे में दूसरी महत्वपूर्ण बात ये है कि वे अपने उत्पीड़न को दैवी नियति नहीं मानते हैं। वे जानते हैं कि यह शक्ति संरचना का हिस्सा है जिसमें फिलहाल वे शोषित पक्ष में होने के लिए अभिशप्त हैं। वे उस गोबर के वंशज हैं जिसने होरी द्वारा 'बड़े लोगों' की चिंताओं और दुखों की बात सुनकर कहा था, "तो फिर अपना इलाका हमें क्यों नहीं दे देते! हम अपने खेत, बैल, हल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं। करेंगे बदला? यह सब धूर्तता है, निरी मोटमरदी!"¹⁹ रूपन बाबू जब कई दिनों बाद चमरही से निकलते हैं तब लेखक इस बदली हुई परिस्थिति का चित्रण यों करता है, "जमींदारी टूटने का यह नतीजा तो नहीं निकला कि चमरही गाँव के भीतर समा जाती या वहाँ ढंग के दो-चार कुएँ और मकान बन जाते, पर पहले जैसा 'गार्ड ऑफ ऑनर' न दिया जाए। इसलिए हाय! कहाँ वे दिन! और कहाँ आज के दिन! की दीनता के भाव से बचने के लिए बाभनों ने—और खास तौर से वैद्य जी ने—यथासंभव उधर से निकलना बंद कर दिया था।" और सबसे करारा संवाद चुरइया : जिसने अपने बेटे का नाम चंद्रप्रकाश रखा है और वो उसे चंदपकास उच्चारित करता है—के द्वारा यहाँ आता है, "पंचायत चुनाव तो हो गया। अब कौन-सा चुनाव होना है, भैया?" और चुरइया की हिम्मत देखकर अचकचाए रूपन बाबू बस यही कह पाते हैं, "स्साले! गंजापन झाड़ रहे हो!"²⁰

जहाँ ये 'फिलहाल' बदलता है वहाँ दूसरे दृश्य और परिणाम भी देखने को मिल जाते हैं। चुनाव जीतने की तीसरी अर्थात् नेवादा तकनीक प्रसंग में ऐसा ही दृश्य है जिसमें दो उम्मीदवारों में से एक ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के उद्धरण द्वारा स्वयं को ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न बता रहा था, "वह चबूतरे पर बैठा था और बोलता जाता था। अचानक उसका वाक्य अधूरा ही रह गया। उसे अपनी कमर पर इतनी जोर से चोट का अहसास हुआ कि वह 'तात लात रावन मोहि मारा' कहने लायक भी न रहा। वह चबूतरे से नीचे लुढ़ककर गिरा ही था कि उस पर दस ठोकरें और पड़ गईं और जब उसने आँख खोली तो पता लगा कि संसार स्वप्न है और मोह-निद्रा का त्याग हो चुका है। इसके बाद इस तरह की कई घटनाएँ हुईं और ब्राह्मण उम्मीदवार को मालूम हो गया कि पुरुष-ब्रह्मा का मुख पुरुष-ब्रह्मा के पैर से ज्यादा दूर नहीं है। और संक्षेप में जहाँ मुँह चलता हो और जवाब में लात चलती हो, वहाँ मुँह बहुत देर तक चल नहीं पाता।"²¹

उपन्यास पर एक आरोप यह है कि यह वंचितों के प्रति पर्याप्त संवेदना नहीं दिखाता। 'राद' दुखों के वर्णन से सायास बचता है। 'राद' में करुणा की संभावना वाले पर्याप्त दृश्य हैं किन्तु 'राद' वंचित के मन के भीतर नहीं झाँकता, इसके बावजूद उस (वंचित/उत्पीड़ित)

की मनःस्थिति को समझने के पर्याप्त संकेत दे देता है। दो उदाहरणों के जरिये बात करें। रंगनाथ और विद्रोही मास्टर लोग जब गयादीन के पास गए हैं गयादीन अपनी बेटी की बदनामी से हलकान हो उसकी कहीं बाहर शादी कर देने के इच्छुक हैं, वहाँ गयादीन, जो अपने नामानुसार दीनहीन ही रहते हैं, पहली बार मुस्कराते हैं। पंक्ति है, “रंगनाथ समझ गया कि यह मुस्कराहट रो न पाने की मजबूरी से पैदा हुई है।”²² दूसरा प्रसंग—“जब लंगड़ मिसिल पाने के धर्मयुद्ध में परास्त हो वापिस जा रहा है। वहाँ लंगड़ हँसने की कोशिश करने में रोने लगता है।”

आदमी रोने की बजाय हँसने लग जाय और हँसने की बजाय रोने लग जाए, यह दुःख की चरमावस्था है। हो सकता है कि उस स्थिति विशेष में यदि उपन्यासकार लंगड़ के मन के भीतर झाँकता तो वहाँ भी वैसा ही शोकभाव होता जैसा ‘गोदान’ में अंत में होरी के मन में था लेकिन यह न झाँकना ‘राद’ के लेखक का सायास निर्णय है। मुझे इसके दो कारण लगते हैं। पहला—ऐसा करके श्रीलाल शुक्ल ने एक प्रकार से लंगड़ के आत्माभिमान की रक्षा की है। हम उसे मूर्ख मान सकते हैं पर कमजोर नहीं। ‘राद’ के क्रूर यथार्थ में वैद्य जी जैसा ताकतवर आदमी अपने दुखों का वर्णन करके मानवीय दिखने का प्रयास भले ही कर ले, कोई वंचित अपने दुखों का वर्णन करके कमजोर दिखने की गलती नहीं करता।

दूसरा कारण ज्यादा जटिल है। उपन्यास यदि ग्रामीणों/वंचितों/उत्पीड़ितों के मन में क्या है, इसे झाँकने का प्रयास करता तो यह उपन्यास उस दृष्टि का प्रतिनिधित्व नहीं करता जो अभी कर रहा है। इसे अगले खंड में स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

कथावाचक और कथाकार की भिन्नता यानी असल में कौन किस पर हँस रहा है?

उपन्यास से सर्वाधिक शिकायत यह रही है कि यह ग्रामीण जीवन पर ‘संयमविहीन हास्य’ का रुख अपनाता है और इस क्रम में त्रासद करुणा का लोप हो जाता है और यह सब उपन्यासकार की दृष्टि के कारण होता है। प्रसिद्ध आलोचक शम्भुनाथ ने लिखा है, “गाँव की रोमानी छवि को श्रीलाल शुक्ल के ‘राग दरबारी’ ने तोड़ा है। यह उपन्यास तोड़ सब कुछ देता है, रचता है सिर्फ कुछ विशिष्ट मुहावरे। एक मुहावरा है, ‘सच्चे हिन्दुस्तानी की यही परिभाषा है कि वह इंसान जो कभी भी पान खाने का इंतजाम कर ले और कहीं भी पेशाब करने की जगह ढूँढ ले।’ गाँव की राजनैतिक चेतना पर टिप्पणी के रूप में धूमिल की यह पंक्ति कई बार आई है : ‘जिस किसी की दुम उठाकर देखो, मादा ही नजर आता है।’ कथाकार को अपने अराजकतावादी दृष्टिकोण का सार्वभौमीकरण भी करता है, ‘सारे मुल्क में शिवपालगंज ही फैला हुआ है।’ कहने के लिए यह उपन्यास देश के लोकतंत्र पर व्यंग्य है, पर वस्तुतः यह गाँव की आम जनता का मखौल है और एक तरह से उस पर लांछन भी। कथाकार को मैदान जाते स्त्री-पुरुष असभ्य लगते हैं और उसे बड़ा मजा आता है, जब कोई ट्रेन आते ही वे ‘गार्ड ऑफ ऑनर’ में तुरंत खड़े हो जाते हैं। कथाकार शिवपालगंज को भीतर से नहीं, बाहर से देखता है, अभिजात शहरी दृष्टि से। साठोत्तरी साहित्य पर निषेधवाद हावी था, ‘राग दरबारी’ इसकी चपेट में आ गया था।”²⁴

शम्भुनाथ जी की कम से कम एक बात से तो सहमत हुआ जा सकता है कि कथाकार शिवपालगंज को भीतर से नहीं बाहर से, अभिजात शहरी दृष्टि से देखता है। लेकिन सवाल ये है कि क्या यह दृष्टि अवगुण है? उपन्यास में जिस पात्र का दृष्टिकोण सर्वाधिक प्रमुखता

से व्यक्त हुआ है, वो है रंगनाथ। शेष जगह जहाँ कथावाचक बोलता है वहाँ भी रंगनाथीय दृष्टि ही विस्तार पाती लगती है। आलोचक वीरेंद्र यादव तो यह मानते हैं कि रंगनाथ 'औपन्यासिक पात्र के आवरण में लेखकीय उपस्थिति' है। दरअसल वीरेंद्र यादव को इस स्वर से ही दिक्कत है। वे लिखते हैं, "जहाँ धूमिल भदेस को रचनात्मक शक्ति के रूप में इस्तेमाल करते हुए नागरिकता को कठघरे में खड़ा करते हैं, वहीं श्रीलाल शुक्ल नागरिकता के धरातल पर खड़े **gā jhā dhdily d;kd jsga**** उनका मानना है कि "जहाँ धूमिल और राजकमल चौधरी 'एंग्री यंग मैन' की शैली में जनतंत्र की समालोचना करते हुए 'एक अदद आदमी' को अपनी रचनात्मक सहानुभूति के केन्द्र में रखते हैं, वहीं श्रीलाल शुक्ल कौतुक मुद्रा अपनाते हुए अपने 'सिनिकल' मुहावरे में उसी 'एक अदद आदमी' को अपने व्यंग्य बाणों का लक्ष्य बनाने से नहीं चूकते।" यहाँ मेरा विनम्र मत यह है कि एंग्री यंग मैन की दृष्टि यथार्थवाद के साथ दूर तक नहीं जाती, अमिताभ बच्चन के सन्दर्भ में तो नहीं ही, धूमिल के सन्दर्भ में भी नहीं। मजेदार बात यह है कि खुद श्रीलाल शुक्ल भी इससे मिलती-जुलती बात कह चुके हैं, " 'राग दरबारी' लिखते हुए मेरे सामने दो ही विकल्प थे : या तो मैं उसे 'एंग्री यंग मैन' की मनःस्थिति में लिखता जो कि मैं नहीं था, या उसे सनीचर, रूपन बाबू, प्रिंसीपल, वैद्य जी के साथ उठने-बैठने वाले पढ़े-लिखे गंवार की तरह लिखता, जो कि मैं था।"²⁶

यदि इस कथन में 'पढ़े लिखे गंवार' पदबंध के निहितार्थ की पूर्ण उपेक्षा करते हुए श्रीलाल शुक्ल के कथन को जाहिर अर्थ में (फेस वैल्यू पर) लें और वीरेंद्र जी की तर्क शृंखला को मान लें तो हमें मानना होगा कि कथावाचक और कथाकार के विचार तो एक हैं ही, मुख्य पात्र के विचार भी दरअसल कथाकार के ही विचार हैं। कथावाचक के विचार सदा कथाकार के विचार नहीं होते हैं। रेणु के उपन्यासों/कहानियों में इसे देखा जा सकता है। वहाँ कथावाचक रेणु नहीं होते हैं, वे उस (उदाहरण के लिए मेरीगंज) अंचल के बाशिंदे की ही तरह दृश्य को देखते-दिखाते हैं, विचार-विश्लेषण भी रेणु के रूप में नहीं उसी गाँव के बाशिंदे के रूप में करते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी ने बताया है कि "इसी कथाकार के दृष्टि के लोप और पात्र में परकाया प्रवेश कर उसकी दृष्टि से सब कुछ देखने के कारण हम रेणु की रचनाओं में उस अंचल की धडकनें सुन पाए हैं।"²⁷ 'राद' में भी यही है। यह औपन्यासिक पात्र के आवरण में लेखकीय उपस्थिति नहीं बल्कि औपन्यासिक पात्र की दृष्टि का लेखकीय विस्तार है।

यह रंगनाथ कौन है? रंगनाथ के शिवपालगंज आने के साथ उपन्यास प्रारम्भ होता है और उसके लौटने के फैसले के साथ खत्म। रंगनाथ स्वास्थ्य लाभ के लिए शिवपालगंज आया था, वह स्वस्थ तो हुआ लेकिन यह स्वास्थ्य वर्धन शारीरिक कम था, मानसिक ज्यादा। पहले ही दृश्य में जहाँ रंगनाथ 'रेलवे के शिकायती कथा साहित्य में अपना योगदान देके और रेलवे अधिकारियों की निगाह में हास्यास्पद बनकर' स्टेशन से निकला था, श्रीलाल शुक्ल ने इस बात का आभास दे दिया था कि रंगनाथ का ज्ञान सैद्धांतिक ज्यादा है, व्यावहारिक कम।

रंगनाथ शहर से गाँव आया है। गाँव का गंजहापन उसके सामने धीरे-धीरे प्रकट होता है। छोटे पहलवान द्वारा अपने बाप कुसहर प्रसाद की दुर्दशा देखकर उसका 'खून उबलने' लगता है। लंगड़ के नकल पाने का इतिहास सुनकर वह 'भावुक हो जाता है।' 'कुछ करना चाहिए' की भावना उसके मन को मथने लगती है। रंगनाथ के लिए अचम्भे का विषय यह है कि जब "अमरीका ने एक नया उपग्रह छोड़ा था, पाकिस्तान-भारत सीमा पर गोलियाँ चल रही थीं, गेहूँ की कमी के कारण राज्यों का कोटा कम किया जाने वाला था, सुरक्षा समिति में दक्षिण अफ्रीका के कुछ मसलों पर बहस हो रही थी, इन सब अबाबीलों को अपने पंजे में किसी

दैत्याकार बाज की तरह दबाकर वह काला-सफेद विज्ञापन अपने तिरछे हरूफ में चीख रहा था : बवासीर! बवासीर!’²⁸

रंगनाथ के शोध के विषय में कथावाचकीय टिप्पणी है, “हिन्दुस्तानियों ने अपनी पुरानी जिंदगी के बारे में अंग्रेजों की मदद से एक विषय की ईजाद की है जिसका नाम इंडोलॉजी है।”²⁹ ध्यान दें कि श्रीलाल शुक्ल का यह उपन्यास एडवर्ड सईद के पौरवात्यवाद की अवधारणा दिए जाने के एक दशक पूर्व आया था। उसके अध्ययन की एक बानगी प्रस्तुत करते हुए श्रीलाल शुक्ल ने इस ज्ञान के “भंडारण” का चित्र यों दिखाया है, “उसके दाएँ मार्शल और बाईं ओर कनिंघम विराजमान थे। विंटरनिज बिलकुल नाक के नीचे थे। कीथ पीछे की ओर पायजामे से सटे थे। स्मिथ पैताने की ओर धकेल दिए गए थे और वहीं उल्टी-पुल्टी हालत में राइस डेविस की झलक दिखाई दे रही थी। परसी ब्राउन को तकिये ने ढक लिया था। ऐसी भीड़-भाड़ में काशी प्रसाद जायसवाल बिस्तर की एक सिकुड़न के बीच औंधे मुँह पड़े थे। भंडारकर चादर के नीचे से कुछ सहमे हुए झाँक रहे थे। इंडोलॉजी की रिसर्च का समां बँध गया था।”³⁰

इन सभी प्राच्यवादियों के नाम पर ध्यान दें तो रंगनाथ की इतिहास दृष्टि और सके आधार पर निर्मित परिप्रेक्ष्य सहज ही समझ आ जाता है। एडवर्ड सईद की किताब ‘ओरियंटलिज्म’ 1978 में यानी ‘राद’ के एक दशक बाद आई थी। इस किताब में पूर्व के बारे में पश्चिमी दृष्टि की चीरफाड़ करते हुए इसे स्थापित किया गया कि पश्चिमी दृष्टि ने पूर्व बनाम पश्चिम को अध्यात्म बनाम भौतिकवाद के जिस रैखिक विभाजन में देखा, उसे जाने-अनजाने पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहे पूर्व के चिंतकों ने भी अपना लिया। ऊपर उद्धृत तमाम पुरातत्ववेत्ता और इतिहासविद अपनी कर्मनिष्ठा के लिए आदरणीय हैं लेकिन रंगनाथ के पढ़ने की शैली को लेखक ने जिस रूपक में प्रस्तुत किया है वह जाहिर करता है कि उसने अध्ययन की कोई आलोचनात्मक दृष्टि विकसित नहीं की है। “किसी भी सामान्य मूर्ख की तरह उसने एम. ए. करने के बाद तत्काल नौकरी न मिलने के कारण रिसर्च शुरू कर दी थी, पर किसी भी सामान्य बुद्धिमान की तरह वह जानता था कि रिसर्च करने के लिए विश्वविद्यालय में रहना और नित्यप्रति पुस्तकालय में बैठना जरूरी नहीं है।”³¹ और “वास्तव में यहाँ आ जाने पर रंगनाथ का रवैया उन टूरिस्टों का-सा हो गया था जो सड़कें, हवा, इमारतें, पानी, धूप, देशप्रेम, पेड़-पौधे, कमीनापन, शराब, कर्मनिष्ठा, लड़कियाँ और विश्वविद्यालय आदि वस्तुएँ अपने देश में नहीं पहचान पाते और उन्हें विदेशों में जाने पर ही देख पाते हैं। तात्पर्य यह कि रंगनाथ की आँखें धूप की ओर देख रही थीं पर दिमाग हमारी प्राचीन संस्कृति में खोया हुआ था, जिसमें पहले से ही सैकड़ों चीजें खोई हुई हैं।”³²

स्वर्णिम अतीत के प्राच्यवादी भाष्य के साथ गडमड यह आधुनिकता मूलतः सुधारवादी तथा भारतीय समाज की असमतल संरचना के विश्लेषण और बदलाव में अक्षम है। इस ‘आधुनिकता’ को गयादीन के राजनीति को घटिया मानने (अर्थात् तटस्थ रहने) के पीछे की राजनीति नहीं नजर आती, इसे एक विद्यालय की बदहाली के असली कारण समझ नहीं आते पर कुछ मास्टर्स की लड़ाई में विद्रोह की गूँज सुनाई दे जाती है, इसे सत्ता के प्रतीक दरोगा जी पर कुछ मामूली पहलवानों के हावी हो जाने से हैरानी होती है और इन पहलवानों की डोर किस राजनीतिक शक्ति के हाथ में है यह इसे नजर नहीं आता। इसे जोगनाथ, सनीचर और लंगड़, भिन्न व्यक्तियों की भिन्न परिस्थितियों में भिन्न प्रतिक्रियाएँ तो नजर आती हैं और इसके आधार पर यह उनके लफंगे-बेवकूफ-दिवास्वप्नवादी होने की राय भी बना लेती

है लेकिन यह देख नहीं पाती कि अंततः इनकी वर्गीय स्थितियाँ कमोवेश एक हैं और उसने ही इन्हें ऐसा बनाया है। पश्चिमी साम्राज्यवादियों द्वारा एशियाई समाजों को देखने की जो दृष्टि प्रक्षेपित की गई थी, भारतीय चिंतकों में उसका आत्मसातीकरण कैसे हुआ, इसका प्रतिनिधि अंकन है रंगनाथ।

हिन्दी का आम पाठक जिस पात्र के साथ सर्वाधिक तादात्म्य महसूस करता है, वह है रंगनाथ। श्रीलाल शुक्ल यदा कदा रंगनाथ की स्थिति की हास्यास्पद विडम्बना को भी रेखांकित करते चलते हैं, जिससे पाठक को यह मानने की सहूलियत मिल जाती है कि वह रंगनाथ नहीं है बल्कि इस उपन्यास के सभी पात्रों से बाहर खड़ा होकर वृहद परिप्रेक्ष्य में चीजों को देख रहा है। लेकिन देखने की बात यह है कि यह खुशफहमी तो रंगनाथ को भी थी! वैसे देखने की बात ये है कि अपनी विडम्बनापूर्ण स्थिति को पहचान सकने की क्षमता : इसी क्षमता के कारण पाठक इस रंगनाथीय दृष्टि के साथ तादात्म्य महसूस करता है। अंततः यह भ्रामक और अधूरा सत्य है, उपन्यास धीरे धीरे इसे उजागर करता है।

यदि हम तुलना करें तो पाएँगे कि जितनी जगह रंगनाथ की अवस्थिति की विडम्बना आई है, उससे कहीं ज्यादा जगह रंगनाथ की आँखों से देखा गया ग्रामीण गंजहापन आया है। रंगनाथ की दृष्टि और कथावाचक की दृष्टि एक दूसरे को छूती हुई ऐसा वेन आरेख बनाती हैं जिसमें दोनों वृत्त कभी एक दूसरे के दूर-पास आते जाते हैं तो कभी घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। कभी हम इस वृत्त से बाहर निकलकर कथावाचक को शहरी आधुनिकों के मन में बसी उजड़ू ग्रामीण की छवि पर व्यंग्य करता देखते हैं, “किसी भी गाँव में इक्का-दुक्का बंदूकों को छोड़कर हथियार नहीं दिए गए थे। हथियार देने से डर था कि गाँव में रहने वाले असभ्य और बर्बर आदमी बंदूकों का इस्तेमाल सीख जाएँगे, जिससे वे एक दूसरे की हत्या करने लगेंगे, खून की नदियाँ बहने लगेंगी।”³³ (बर्बरता : पूरब के बारे में पहला मिथक बकौल सईद) कभी इस वृत्त का हिस्सा बनकर रंगनाथ के मन में भी और कथावाचक उवाच में भी बेला के मांसल सौंदर्य और उसकी कामेच्छा की रंगनाथीय इच्छित छवि का वर्णन पढ़ते हैं। (कामुकता : पूरब के बारे में दूसरा मिथक बकौल सईद) कभी रंगनाथ को गाँठ लगाकर नया सम्प्रदाय चलाने के तोष में इतराता देखते हैं, जो पूरब की आध्यात्मिकता की छवि : जो तर्कनिषेध और अंधविश्वास की पूरबीय छवि और इसलिए अंततः तार्किक पश्चिम की श्रेष्ठता तक पहुँचती है : को पुष्ट करती है। दूसरी ओर (शिवपालगंज में अफसरों द्वारा आकर लेक्चर दिए जाने के प्रसंग में) यह भी दिखाती है कि इस तार्किकता के अहम में डूबे आधुनिक दरअसल ग्रामीण यथार्थ से कितने अपरिचित और इसलिए कितने मूर्ख हैं, “वास्तव में पिछले कई सालों से गांववालों को फुसलाकर बताया जा रहा था कि भारतवर्ष एक खेतीहर देश है। गांववाले इस बात का विरोध नहीं करते थे, पर प्रत्येक वक्ता शुरू से ही यह मानकर चलता था कि गांववाले इस बात का विरोध करेंगे। इसीलिए वे एक के बाद दूसरा तर्क ढूँढकर लाते थे और यह साबित करने में लगे रहते थे कि भारतवर्ष एक खेतीहर देश है।”³⁴ और जिन्हें यह ज्ञान दिया जाता था उनकी प्रतिक्रिया यह थी, “वे लेक्चर गंजहों के लिए विशेष रूप से दिलचस्प थे, क्योंकि इनमें प्रायः शुरू से ही वक्ता श्रोता को और श्रोता वक्ता को बेवकूफ मानकर चलता था जो कि बातचीत के उद्देश्य से गंजहों के लिए आदर्श परिस्थिति है।”³⁵

रंगनाथ—यह नाम अपने आप में बड़ा प्रतीकवान है। रंगमंच का नाथ अर्थात् निर्देशक। रंगनाथ जो अपनी तर्क बुद्धि के साथ शिवपालगंज में ‘न्याय की लड़ाई’ में ‘सही’ को ताकत देने गया था, परास्त होता है और उसे यह समझ आता है कि वह रंगमंच का नियंता नहीं

बल्कि एक पात्र भर है। “पांच महीने पहले उस गाँव में एक लड़का आया था। जिसका नाम रंगनाथ था। लोग उसके बड़प्पन को पहचानते थे, क्योंकि उसके मामा के नाम वैद्य जी था और इसके अलावा उसमें अपना भी एक बड़प्पन था। उसने इतिहास में एम. ए. किया था। वह देखने में भला और सीधा था पर चाहने पर टेढ़ी बात भी कर लेता था। लगभग प्रत्येक पढ़े-लिखे भारतीय की तरह वह अपने से असंबद्ध प्रत्येक घटना को घटना ही की तरह देखता और उसे भूल जाता और बाद में उसके बारे में परेशान न होता था। इतिहास पढ़ चुकने के कारण उसे राजनीतिक और सामाजिक शोषण और उत्पीड़न की बहुत-सी कहानियाँ आती थीं, पर उसके दिमाग में कभी यह न आया कि वह भी इतिहास का एक हिस्सा है और अगर चाहे तो इतिहास को बना-बिगाड़ सकता है। वह देश के पच्चाव्य प्रतिशत बुद्धिजीवियों में था जिनकी बुद्धि उनको आत्मतोष देती है, उन्हें बहस करने की तमीज सिखाती है, दूसरों का क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, इस पर उनसे भाषण कराती है और न करने के मामले में कुछ उनकी भी जिम्मेदारी है—इस बेहूदा विचार को उनसे कोसों दूर रखती है।”³⁶

इस तरह रंगनाथीय दृष्टि मटियामेट होती है। भारतीय गाँवों में जातिवादी-सामंती गठजोड़ की गहरी पैठ को न समझकर प्रतिरोध को संगठित करने की आकांक्षा रखने वाली यह दृष्टि मूलतः रूमानी है। इस रूमानी नजर में प्रतिरोध के लिए संगठित न हो पा रही जनता दरअसल अबोध है, उसे नहीं पता कि जिसे वह अबोध समझ रही है, उसे बखूबी पता है कि इस नजर में उसकी कैसी छवि है। ‘राद’ दिखाता है कि यथार्थ रैखिक नहीं बहुआयामी होता है और इस बहुआयामी तंत्र के शिकार उसे हमसे : यानी हम सब रंगनाथों से बेहतर समझते हैं।

लंगड़ ने जब मिसिल पाने का अपना संकल्प छोड़कर अपनी हार स्वीकार कर ली (और जब रंगनाथ-रुप्पन को भी समझ आ गया कि वे यथास्थिति को नहीं बदल सकते) उस समय हम रंगनाथ को पूरे उपन्यास में पहली बार तटस्थता का लबादा छोड़कर गुरति देखते हैं। यह रंगनाथ की नहीं दरअसल ग्रामीण जीवन को रैखिक दृष्टि से देख रहे बुद्धिजीवी पाठक की खीझ/हार है। यह तैतीसवें अध्याय का अंत है, उपन्यास अपनी परिणति की ओर अग्रसर है। रंगनाथ अपने आप को हैरत से बता रहा है कि वह गुरा रहा है, क्यों? क्या रंगनाथ को यह परिणति समझ आ गई है और उसने इसके साथ तादात्म्य बिठाकर शिवपालगंज की भावी तस्वीर के बारे में सोचना शुरू कर दिया है? पहले सवाल का जवाब—हाँ, दूसरे का नहीं क्योंकि अगले अध्याय में हम उसे रुप्पन से यह कहते पाते हैं, “धरती पर सिर्फ एक ही शिवपालगंज नहीं है। हमारे-तुम्हारे लिए सारा मुल्क पड़ा है।” इसके जवाब में रुप्पन का जवाब अब पाठक के समक्ष रंगनाथीय दृष्टि की रूमानी अबोधता स्पष्ट कर देता है, “मुझे तो लगता है दादा, सारे मुल्क में यह शिवपालगंज ही फैला हुआ है।”³⁷

रुप्पन आगे क्या करेगा इस पर उपन्यास मौन है पर रंगनाथीय आधुनिकता इस कीचड़ में कभी पाँव नहीं डालेगी। उपन्यास के अंत में काव्यात्मकता को छूता ‘पलायन संगीत’ रंगनाथों की दुनिया हमारे सामने रखता है। अध्यात्म, अतीत, विदेश और (अफसोस!) शराबखाने—कहवाघर—सेमीनार—शोध संस्थान—विश्वविद्यालय की हवाई दुनिया।

इसके बाद यह पूछना शेष नहीं रह जाता कि दुकानदारों के लुटने और तमाशबीनों के दुकानें लगा लेने वाली इस दुनिया में जो बेवकूफ दिख रहे थे उनके तो कारण और आधार मौजूद थे पर जो ‘समझदार’ थे उनका हथ्र पलायन में क्यों हुआ? आखिरकार ‘राद’ की व्यंग्य की धार ने किसे हलाल किया? प्रिसिपल साहब के बारे में अचानक रंगनाथ को समझ आया था कि वे जितने बेवकूफ नजर आते हैं उतने हैं नहीं और बकौल प्रिसिपल साहब, “जैसे बुद्धिमत्ता

एक वैल्यू है, वैसे ही बेवकूफी भी अपने आप में एक वैल्यू है।”³⁸ इन्हीं प्रिंसिपल साहब द्वारा उपन्यास के अंत में भरत वाक्य कहा गया जो रंगनाथीय दृष्टि की कपाल क्रिया कर देता है, “बाबू रंगनाथ, तुम्हारे विचार बहुत ऊंचे हैं। पर कुल मिलाकर उससे यही साबित होता है कि तुम गधे हो।”³⁹ रंगनाथ की ज्ञानोदयी आकांक्षाएं खेत रहती हैं और उसे अहसास होता है कि “शोषण और उत्पीड़न की कहानियाँ रट लेना ही काफी नहीं है और जिस गधे की पीठ पर सारे वेदों, उपनिषदों और पुराणों का बोझ लदा होता है, वह अंतरराष्ट्रीय विद्वत परिषद का अध्यक्ष बन जाने के बावजूद मनुष्य नहीं हो जाता : वह होने के लिए विद्वता का बोझा ढोने के सिवाय कुछ और भी करना होता है।”⁴⁰

अंत में कहना यह है कि ‘राद’ का अंशों में पाठ करने से भ्रामक निष्कर्ष पैदा होते हैं और यह वैसे भी किसी रचना का पाठ करने का सही तरीका नहीं है। ‘राद’ के अंशों का स्वतन्त्र पाठ संभव था, यह बात उसकी अपार लोकप्रियता का एक कारण भी बनी और अंततः यही बात उसके आलोचकीय मूल्यांकन में बाधा भी बनी। यही दुर्घटना धूमिल के साथ हुई और यही श्रीलाल शुक्ल के साथ। ‘राग दरबारी’ समग्र विश्लेषण माँगता है और हिन्दी आलोचना से अपना दाय भी। ‘राग दरबारी’ का समग्र पाठ हिंदी समाज को भारतीय गाँव का वो चेहरा दिखाता है जिसे आधुनिक समाज ने अपने ज्ञान/समझ से विश्लेषित करने और बदलने का दावा किया था पर समझा कभी नहीं था। यह प्रेमचंदोत्तर गाँव है। ‘मैला आँचल’ और ‘आधा गाँव’ के साथ इसे मिलाकर पढ़ने से इस गाँव की मुकम्मल तस्वीर बनती है।

सन्दर्भ

1. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी, राजकमल प्रकाशन, 1992 (ग्यारहवां संस्करण), पृष्ठ-49
2. कुँवर नारायण, आज और आज से पहले, राजकमल प्रकाशन, 1998, पृष्ठ-272
3. श्रीलाल शुक्ल, वही, पृष्ठ-328
4. श्यामाचरण दुबे, परम्परा, इतिहास बोध और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 2008, पृष्ठ-146
5. नेमिचन्द्र जैन, जनान्तिक, संभावना प्रकाशन, 1981, पृष्ठ 53, उद्धृत, मुद्राराक्षस, नेमिचन्द्र जैन, राजकमल प्रकाशन, 2008, पृष्ठ-101
6. वीरेंद्र यादव, ‘छुद्रताओं के महायुत्तांत से महानताओं की छुद्रता तक’, सं. अखिलेश, ‘श्रीलाल शुक्ल की दुनिया’, राजकमल प्रकाशन, 2000, पृष्ठ-47
7. श्रीलाल शुक्ल, वही, पृष्ठ-5
8. वही, पृष्ठ-66
9. वही, पृष्ठ-185
10. नित्यानंद तिवारी, ‘राग दरबारी’ : व्यंग्य दृष्टि या व्यंग्य लीला(?), सं. भीष्म साहनी आदि, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, 1980, पृष्ठ-247
11. वही, पृष्ठ-248
12. सुधीश पचौरी, तद्भव(सं. अखिलेश), अंक-1, पृष्ठ-160
13. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी : संस्मरण, सं. भीष्म साहनी एवं अन्य, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, 1980, पृष्ठ-242
14. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी, पृष्ठ-68
15. वही, पृष्ठ-22
16. वही, पृष्ठ-291
17. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी : संस्मरण, पृष्ठ-243
18. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी, पृष्ठ-262
19. प्रेमचंद, गोदान, राजकमल पेपरबैक्स, 1999, पृष्ठ-19

20. श्रीलाल शुक्ल, वही, पृष्ठ-260
21. वही, पृष्ठ-205
22. वही, पृष्ठ-297
23. वही, पृष्ठ-306
24. शम्भुनाथ, संस्कृति की उत्तरकथा, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-67
25. वीरेंद्र यादव, वही, पृष्ठ-40
26. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी : संस्मरण, पृष्ठ-244
27. विश्वनाथ त्रिपाठी, कुछ कहानियाँ : कुछ विचार
28. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी, पृष्ठ-60
29. वही, पृष्ठ-86
30. वही, पृष्ठ-86
31. वही, पृष्ठ-47-48
32. वही, पृष्ठ-86
33. वही, पृष्ठ-12
34. वही, पृष्ठ-57
35. वही, पृष्ठ-57
36. वही, पृष्ठ-238
37. वही, पृष्ठ-313
38. वही, पृष्ठ-186
39. वही, पृष्ठ-329-330
40. वही, पृष्ठ-239

भुवनेश्वर समग्र : एक बेचैन जीनियस को याद रखने की जरूरी कोशिश

विवेक श्रीवास्तव

भुवनेश्वर अपने समय के (शायद कहना ठीक होगा कि अपने समय से आगे के) एक जीनियस लेखक थे, धारा के विपरीत तैरने और डूबने वाले। अपनी तरह के जिद्दी लेखक। कुछ हद तक सनकी पर ईमानदार लेखक। ये सारे विशेषण हो सकता है मेरी तात्कालिक आवेगात्मक टिप्पणी भर भी मान लिए जाएँ, पर दूधनाथ सिंह जी द्वारा सम्पादित सद्यःप्रकाशित 'भुवनेश्वर समग्र' को पढ़ते हुए मुझे ये स्वीकार करते हुए अच्छा लगता है कि हिन्दी की परम्परा के एक विशिष्ट लेखक से, जिससे अब तक कुल जमा तीन-चार रचनाओं के अतिरिक्त मेरा पहले कोई परिचय नहीं था, उसे यँ, समग्रता में देखना, पढ़ना, जानना अच्छा लगा।

भुवनेश्वर समग्र में दूधनाथ जी ने यहाँ अत्यंत श्रमपूर्वक भुवनेश्वर के संक्षिप्त जीवन काल की विस्तृत रचना सूची को पूरी गंभीरता से समेटते हुए और सुविचारित भूमिका के साथ यहाँ प्रस्तुत किया है। पुस्तक में सिलसिलेवार ढंग से भुवनेश्वर की अंग्रेजी में लिखी गई मूल कविताओं (और शमशेर बहादुर सिंह तथा असद जैदी जैसे प्रमुख रचनाकारों के अधिकृत अनुवाद के साथ) उनकी कहानियों, एकांकियों और उनके आलोचकीय व्यक्तित्व के प्रमाण उनके लेखों के साथ ही साथ उनकी फुटकर किन्तु बेहद महत्वपूर्ण सूक्तियों को भी सुव्यवस्थित रूप से एक खंड की तरह से स्पष्ट और अलग ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसके अलावा यहाँ शमशेर बहादुर सिंह से भुवनेश्वर पर केंद्रित एक लंबी बातचीत भी है, जो इस दृष्टि से बहुत महत्व की है कि शमशेर बहादुर सिंह ने उनके साथ बिताए समय और उनकी रचनात्मक प्रतिभा को विस्तार से सामने रखा है। हालाँकि यहाँ यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि यह बातचीत कब और कहाँ, किसके साथ की गई। पुस्तक में भुवनेश्वर पर प्रेमचंद की समीक्षा और कृष्ण नारायण

सम्पर्क : सहा. क्षेत्रीय निदेशक, इग्नू-क्षेत्रीय केन्द्र, तृतीय तल, सुमन प्लाजा, जेल रोड, तिलकामांझी-भागलपुर (बिहार)
812001; मो. 08292527789

यह करने पर आमादा हैं।' हालाँकि यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि भुवनेश्वर सिर्फ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर टिप्पणी की सीमा तक सीमित नहीं हैं, वे अपने समय पर साफ नजर रखते हैं। देश की आजादी के जश्न में डूबे देश के सामने भले ही 'मिस कटारा' अपने भीतर 'सदियों से जमा हो गए एक घने सीले अँधेरे' के खिलाफ ओठों को चूम लेने को आतुर हों पर वहीं 'पेशेवर नेता' और 'विशेषज्ञ' की बहस में समानांतर ढंग से वे लिखते हैं : '...अब तुम्हें कोई फैसला लेने की जरूरत नहीं। तुम्हें अब तमाम फैसले करे-कराए हुए मिलेंगे।' '...अगर आप समझदार हैं और विशेषज्ञ की राय मानेंगे तो आजादी सिर्फ एक खबर है। सड़कों की भीड़ में घिसटती एक खबर, इससे ज्यादा कुछ नहीं।' ('आजादी की नींद')। क्या 1948 में छपे भुवनेश्वर के इन शब्दों को मोहभंग के कवि धूमिल के यहाँ 20 वर्षों बाद 'आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है...' की तरह पढ़ना क्या सिर्फ समय के साथ धूमिल का ही मोहभंग है या फिर बिलकुल ठीक समय पर समय की नब्ज पर भुवनेश्वर का हाथ भी?

भुवनेश्वर को बहुत करीब से देखते-समझते दूधनाथ जी का इस क्रांतिकारी चेतना के रचनाकार के लिए महत्वपूर्ण विश्लेषण है—'ऊपर से चिकना-चुपड़ा और भीतर से गिजगिजा, इस जीवन पद्धति के सारे रेशे भुवनेश्वर ने उधेड़ दिए हैं। खाल उधेड़ने के इसी तौर-तरीके से प्रेमचंद को डर लगता है।...भुवनेश्वर लाग-लपेट, हैं-हैं, संकोच और बनावटी-दिखावटी शालीनता में कभी विश्वास नहीं करते। न लेखन में और न अपने जीवन में। इसकी कीमत उन्होंने मर कर चुकाई।...मध्य वर्ग के जीवन को जिस तरह इस लेखक ने बेपर्दा किया, वह आज भी हिन्दी के लेखक नहीं करते।'

'भुवनेश्वर समग्र' में अपनी विस्तृत भूमिका में दूधनाथ सिंह लिखते हैं : '...एक रचनाकार की हैसियत से भुवनेश्वर की खूबी है कि वे अंतर्मन के सच को कभी नहीं दबाते। यह बात उन सभी लोगों को नकारात्मक और प्रतिक्रियावादी लगती है जो सच को 'सच' की तरह कहने से कतराते हैं, जो इतिहास के भीतर छिपे अंतर्विरोधों को उजागर करने की जगह लगभग डेढ़ सौ वर्षों से उस पर लेप-प्रलेप चढ़ाते हुए उन्हें धूमिल करने की कोशिश में लगे हुए हैं।... भुवनेश्वर सत्य के प्रति बहुत कठोर हैं।' सत्य के प्रति यह कठोर आग्रह ही भुवनेश्वर की खूबी भी है और यही उनकी खामी भी। हिंदी साहित्य का इतिहास इस बात का गवाह बना है कि उनका यही कठोर आग्रह और जिद ही उन्हें भुवनेश्वर बनाता है। ये आग्रह और ये जिद ही उनकी पहचान भी बनी और यही उनकी सीमा भी। हिन्दी समाज ने उन्हें समझने से बचने का एक आसान रास्ता खोज निकाला कि भुवनेश्वर जिद्दी हैं, सनकी हैं और एक्सर्ड लिखते हैं। अपने ही नाटक 'तांबे के कीड़े' में स्वयं भुवनेश्वर लिखते हैं : '...मेरी समझ में इस नाटक का लेखक न्यूरॉटिक है। हमें जो रुचता नहीं, जो हमारे विचारों के साँचे में अंटता नहीं, उसे हम न्युरोसिस नहीं कहें तो क्या कहें...' हिन्दी समाज के कुछ स्वयम्भू सिद्धों के लिए शायद यह भुवनेश्वर का उत्तर भी है। भुवनेश्वर को लेकर हिन्दी समाज की परेशानी भी मुझे लगता है कि मूलतः इसी बात की रही है कि जो हमें रुचता नहीं है, जो हमारे साँचे में अँटता नहीं है उसे हम आसानी से खारिज कर देने के लिए उद्धृत हो जाते हैं। इसी प्रसंग में इसी पुस्तक में एक विवरण मिलता है प्रसिद्ध आलोचक रामविलास शर्मा और भुवनेश्वर संवाद, 'भुवनेश्वर समग्र' में इस 'मित्र संवाद' के बहाने से साहित्य के अपने नायकों को एक और कोण से देख पाने का यह अवसर कम से कम मेरे लिए महत्वपूर्ण था। मुझे लगता है कि यह अन्य भी पाठकों के लिए यह और अन्य ऐसे ही प्रसंग महत्व के होंगे जिन्हें दूधनाथ

जी ने इस पुस्तक में विस्तार से शामिल किया है। बहरहाल, बात शुरू हुई थी रामविलास जी और भुवनेश्वर संवाद से जिसे स्वयं रामविलास जी की कलम से उद्धरित किया गया है : 'मैं उनसे (भुवनेश्वर) कहता : 'तुम न्यूराटिक हो, प्रोग्रेसिव राइटर्स से तुम्हारा क्या सम्बन्ध?' भुवनेश्वर जवाब देते, 'ए प्रोग्रेसिव इज अ न्यूराटिक शाट थ्रू, विथ होप।' हालाँकि भुवनेश्वर लेखन और कविता के प्रति जिस तरह की तीखी टिप्पणी (आजादी की नींद में) करते हैं वह ध्यान देने योग्य है। खुद कविता और लेखन के प्रति वे क्या सोचते हैं यह देखते हुए चलें—'...तुम कवि, तुम सुकून और विश्राम के कीड़े हो। तुम न गा सकते हो न चिल्ला सकते हो, इसलिए इनके बीच की चीज कविता करते हो। क्राइसिस न तुम्हें छूती है न चिढ़ाती है, वह तुम्हें मिटाने से भी इंकार कर ही देती है। वह तुम्हें सिर्फ एक हिजड़ा बनाकर अभयदान देती है।' भुवनेश्वर के भीतर तक जिस तरह का एक विद्रोही तेवर और ध्वंस की बेचैनी है उसके मूल में कहीं गहरे तक बेहतर की आकांक्षा है और इसके लिए उन्हें इंतजार और पाखंड मंजूर नहीं। यह पुस्तक महत्वपूर्ण है कि आज जब हम भुवनेश्वर की जन्म शताब्दी का गुमनाम वर्ष भी लगभग बिता चुके हैं, दूधनाथ जी आत्मीयता और हिम्मत के साथ रामविलास जी की तब की टिप्पणी पर आज उत्तर देते नजर आते हैं—'श्रीयुत भुवनेश्वर प्रसाद, जो कठमुल्ला मार्क्सवादी नहीं थे लेकिन जो अपने साहित्य में सही मायनों में प्रगतिशील थे।'

दूधनाथ सिंह भुवनेश्वर जैसे लेखक को लेखकों-कवियों की भीड़ से अलगगते हैं : 'श्रीयुत भुवनेश्वर प्रसाद, जिन्होंने अपनी लेखकीय आजादी को पूरी दबंगई और आत्मसम्मान से अपने सुनसानों में ओढ़ा-बिछाया, बरता और बिना किसी समझौते के बुझ गए।' बेढब, बेपरवाह, जिद्दी, स्वाभिमानी एक जीनियस लेखक को, लेखकों-कवियों की जमात ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में जिस तरह सायास और लगभग साजिशन हाशिए पर धकेल देने का प्रयास किया वह अपने आप में एक उदाहरण है कि हर समय प्रतिभा का आतंक हर किसी को प्रभावित करता है। 'माधुरी' में निराला पर भुवनेश्वर का आलेख और उस पर निराला जी का पत्र और कई अन्य पत्रों की श्रृंखला इसका अच्छा उदाहरण है। यहाँ निराला जैसे कद के लेखक को भी अपने स्तर से शायद नीचे उतरकर, घबराकर या घमंड में, चक्रव्यूह बनाकर भुवनेश्वर को घेरने के लिए आगे आना पड़ता है। भुवनेश्वर ने अपने जीते जी 'माधुरी' में भुवनेश्वर-निराला विवाद के पत्रों और पत्रोत्तर में खुद ही अपनी नियति की तरह घिर जाना स्वीकार करने का साहस भी दिखाया पर झुक जाने को तैयार कभी नहीं हुए। भुवनेश्वर ने 'निराला पर' लिखने की सजा मिलने का अंदाजा पहले ही लगा लिया था। उन्हें पहले ही इस बात का अहसास करा दिया गया था कि इस दुस्साहस के लिए उन्हें बड़ी सजा मिलेगी। जैसा कि स्वयं निराला ने 'माधुरी' में भुवनेश्वर के आलोचनात्मक लेख का उत्तर देते हुए, पत्र में संपादक- माधुरी से अपनी चर्चा का सन्दर्भ लेते हुए लिखा भी : '...आप चाहें तो छाप सकते हैं, परन्तु इसका भविष्य आप ही के हाथों (मेरा उत्तर माधुरी में छपने पर) से भुवनेश्वर प्रसाद के लिए अत्यंत अहितकर प्रमाणित होगा। वे साहित्य में दागी होकर शायद ही फिर उभर सकें।' निराला जी की इस खुली 'धमकी' और उनके 'कॉकस' के हमलों से आहत इस पूरे विवाद पर भुवनेश्वर अपनी ओर से अत्यंत हताश मनःस्थिति में गालिब को उद्धृत करते हैं : 'गर नहीं है मेरे मरने से तसल्ली न सही! इम्तहान और भी बाकी हों तो और सही!' और मजा ये कि यह सब कुछ सिर्फ इसलिए कि भुवनेश्वर ने अपनी परिचित शैली में निराला पर कुछ लिखने का साहस किया और बेबाकी से लिखा—'निराला मुख्यतः कवि है, पन्त का कहना है कि केवल उद्वेगवान

समालोचक, और लोगों का कहना चाहे जो कुछ हो, निराला वास्तव में एक साहित्यिक है, वह मेहनती है, आत्माभिमानी है, विशाल हृदय है, किसी ओछेपन का संदेह भी उसके निकट नहीं है। उसकी कविता में साधना है, अध्यव्यसाय है, कारीगरी है, कोमलता है, पौरुष है, पर वही नहीं है, जिसके बगैर न वह ब्राउनिंग है, न बर्न्स है, केवल निराला है। ...वह हिन्दी का अकेला विचारक कवि है। उसकी कविता में एक दृढ़ता है (जो दुर्भाग्य से उसके गद्य में नहीं है) जो उसके मष्तिष्क के सूक्ष्म संचालन को पौराणिक कविता की परिधि में भी ले जाती है और यही उसका इस काव्ययुग की ओर केंद्रीब्यूशन है। ...कथाकार की हैसियत से निराला गंभीर विवेचन का पात्र है यह मैं नहीं मानता। उसका दावा है कि उसने प्रेमचन्द से आगे कदम रखा है, यह मैं नहीं मानता, प्रेमचन्द की महत्ता या तुच्छता को बिना घसीटे हुए।'

हिन्दी साहित्य के इस मूल्यवान प्रसंग को यहाँ विस्तार से उत्तर-प्रत्युत्तर के साथ यहाँ इस पुस्तक में प्रस्तुत कर देने के लिए हमें दूधनाथ सिंह जी का आभारी ही होना चाहिए कि इस बहाने उन्होंने हमारे काव्य नायकों के चित्रों और चरित्रों पर तो कुछ और रोशनी डालने में मदद की ही है बल्कि भुवनेश्वर के एकांकीकार, कहानीकार के अतिरिक्त एक सूक्ष्म विश्लेषक और बेबाक आलोचकीय स्वरूप को भी—जो भुवनेश्वर की ही तरह अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ—हमारे सामने रखा। इस पुस्तक में जिस तरह विस्तार से दूधनाथ जी ने इस प्रसंग को अपनी भूमिका में सम्मिलित करते हुए छायावादी कविता के उस दौर में पन्त, निराला और रामविलास जी के सम्बन्धों और निर्वाह के किस्सों के बीच भुवनेश्वर की 'निर्द्वंद, निडर और खरी' आलोचनात्मक प्रतिभा को हमारे सामने रखा है वह इस पुस्तक को और भी मूल्यवान बना देती है।

दूधनाथ सिंह जी ने अपनी इस संपादित पुस्तक में भुवनेश्वर की समग्र रचनाओं को अपनी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका के साथ प्रस्तुत करते हुए इसे अमूल्य बना दिया है। संक्षेप में कहने की कोशिश की जाए तो कहना होगा कि एक बिसरे हुए लेखक को, एक जिद्दी, स्वाभिमानी, गर्वीले लेखक को यँ करीब से देखना सुखद है। इस पुस्तक से गुजरना मेरे लिए बीते हुए समय के एक बिसरे हुए जीनियस को याद करने, प्यार करने का एक अवसर था। इसके लिए दूधनाथ जी का सिर्फ आभार मानना तो काफी नहीं होगा, पर फिर भी कम से कम आभार तो मानना ही होगा।

भुवनेश्वर समग्र / संपादक : दूधनाथ सिंह / राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली / संस्करण-2012

भूमंडलीकरण बनाम राष्ट्र-राज्य का यथार्थ

अरुणेश शुक्ल

‘हलफनामे’ के बाद ‘विसर्जन’ राजू शर्मा का दूसरा ऐसा उपन्यास है जो समकालीन यथार्थ को उसकी बारीक और जटिल संरचनाओं में पकड़ने की कोशिश करता है। जहाँ ‘हलफनामे’ में राजू ने सत्ता की परिभाषा करते हुए बताया था कि सत्ता मतलब एक विशालकाय हाथी जो कल्पना से भी ज्यादा विशाल हो, उसकी लीद से सारा शहर भर जाए, उसकी चाल से धरती डोले, तो ‘विसर्जन’ में इनकी कोशिश उस विशालकाय प्राणी के भीतर घुसकर उसके एक-एक तंतुओं की, एक-एक रेशों की पड़ताल करने जैसा है। यह ‘विसर्जन’ अपने मूल में अपनी अर्थवत्ता में शब्दों से उसके अर्थ का विसर्जन है।

यह उपन्यास ऐसे समय में आया है जबकि हिन्दी साहित्य में भूमंडलीकरण व उसके प्रभावों को लेकर प्रचुर मात्रा में रचनात्मक व आलोचनात्मक लेखन हो रहा है किन्तु यह लेखन भूमंडलीकरण के दृश्यमान प्रभावों, राजनीतिक परिदृश्य, अस्मितागत विमर्शों आदि पर ज्यादा हो रहा है। ‘जल-जंगल-जमीन’, स्त्री, दलित, आदिवासी, नव समाजिक आंदोलनों, मार्क्सवाद के फेल्योर आदि पर हो रहे लेखन को देखकर प्रथम दृष्टया तो यह लगता है कि हिन्दी के साहित्यकार भूमंडलीकरण व उससे उत्पन्न खतरों को न सिर्फ पहचान रहे हैं बल्कि उससे मुठभेड़ भी कर रहे हैं। किन्तु गहराई से इस पूरे रचनात्मक परिदृश्य पर नजर डालने से यह साफ हो जाता है कि भूमंडलीकरण को लेकर जो पूरा विमर्श हिन्दी साहित्य में चल रहा है वह भूमंडलीकरण के प्रति सिर्फ एक सामान्य छात्रोपयोगी समझ ही विकसित पर पा रहा है। भूमंडलीकरण का डीकंस्ट्रक्शन’ सही मायनों में हिन्दी साहित्य में अभी तक संभव नहीं हो पाया है। दरअसल हिन्दी साहित्य ने जाने-अनजाने ही अपनी सुविधानुसार कहीं न कहीं भूमंडलीकरण के प्रति अपनी चिंताओं एक आसान-सा वृत्त तैयार कर लिया है जिसका केन्द्र भूमंडलीकरण है और स्त्री, दलित, आदिवासी, बाजार उस केन्द्र के ईद-गिर्द वृत्त का निर्माण करते हैं। जाहिर तौर पर हिन्दी लेखन

सम्पर्क : सहायक प्रोफेसर, साहित्य विद्यापीठ, म.ग.अ.हि. विश्वविद्यालय, वर्धा-422001, मो. : 07385317702

केन्द्र के माध्यम से इन्हीं कुछ विर्मशों पर गोल-गोल घूम रहा है। हिन्दी साहित्य में भूमंडलीकरण के मेकेनिज्म को समझते हुए, उसके भीतर घुसकर उसे डीकस्ट्रक्ट करने, सत्ता के साथ उसके रिश्ते की द्वंदात्मकता को समझते हुए उसकी समूची कार्य प्रविधि का अध्ययन करते हुए नए सत्ता संबंधों को उजागर करने, आर्थिक नीतियों (अर्थशास्त्र), सांख्यिकी, विज्ञान, सूचना प्रौद्योगिकी आदि को किस तरह वह अपने हक में व्याख्यायित करता है या कैसे यह चीजें उसे मजबूत करती हैं—को देखने का सार्थक काम हिन्दी में तकरीबन न के बराबर हुआ है। 'विसर्जन' में राजू शर्मा का शुरुआती वाक्य है—“कुछ लोग होते हैं, एक नजर देखो और लगता है इसे बादशाहियत हासिल है, दूसरे उंगलियों में चक्र के यह चक्रवर्ती है, पर यह आँखों में झाँकने के पहले का अहसास है क्योंकि उसकी आँखें दो स्याह गहरी सुरंगें हैं और तब तुम जान लेते हो जो वह हमेशा से जानता है। यह बादशाह स्वनाशी है, अपना ही निषेध।” यह वाक्य अपने समूचे व्याप्ति में भूमंडलीकरण व बाजार की हकीकत को उजागर करता है। भूमंडलीकरण, बाजार की चकाचौंध हमें कहीं न कहीं शुरुआत में यह आश्वस्त करती है कि स्वतंत्रता बंधुत्व, बहुलतावाद, अवसर की सामनता जैसी बड़ी अवधारणाएँ इसमें अन्तर्निहित हैं किन्तु यह आभासी व छद्म यथार्थ ही है, जैसे ही हम इसके भीतर प्रविष्ट होते हैं, इसकी विध्वंसकता व इसके शोषक व दमनकारी चरित्र को जानते हैं तब स्पष्ट होता है कि इस चमक-दमक के पीछे एक विद्रूप चेहरा है। उपन्यास के प्रमुख चरित्र रंगराजन के व्यक्तित्व व कार्यों पर भी पूर्वोक्त पंक्तियाँ काफी सटीक बैठती हैं। वह स्वनाशी है साथ ही अर्थविस्तार करें तो सर्वनाशी भी। इतना ही नहीं उपन्यास का यह शुरुआती वाक्य वर्तमान हिन्दी साहित्य के परिदृश्य पर जो कि भूमंडलीकरण से सम्बन्धित है पर भी सटीक बैठता है। ऊपर से देखने पर तो यह भूमंडलीकरण का निषेध (प्रतिरोध) करता दिखता है किन्तु, भीतर घुसकर देखने पर रचनात्मक रिक्तता ही नजर आती है।

पी.वी. इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है। धारावाहिक घोटाले के पीछे का दिमाग पी.वी. का ही है। वह नायक/खलनायक दोनों ही है। उसके फलसफे में 'निजी स्वेच्छाचार समाज का केन्द्रिय मूल्य है। उसका मानक-मणि दर्शन कहता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता स्टेट और उसके दावों से पूर्व और मौलिक है और आजाद माहौल में सहयोग की दशा खुद-ब-खुद प्रवर्तित होती है। स्टेट के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं। वह शास्त्रीय उदारवाद के प्रतिमानों में हर खलल और बदलाव के खिलाफ है। उसकी मान्यता है जो उदारवाद को पजिटिव अधिकार, प्रगतिशील कर और कल्याणकारी नीतियों से जोड़ते हैं। वे प्रदूषक और खतरे की घंटी हैं।’

दरअसल पी. वी. रंगराजन के बौद्धिक सरोकार और उसके राजनीतिक दर्शन, अर्थ-सिद्धान्त के आस्ट्रियन स्कूल से आधार पाते हैं। वह हायक, नोजिक और मिल्टन फ्रीडमैन जैसे महान विचारकों से अपने सिद्धान्त और कार्य-योजनाएँ गढ़ता था। खासकर फ्रीडमैन को वह सबसे अर्थगर्भित मानता था क्योंकि बकौल पी.वी., “फ्रीडमैन ने अंतिम रूप से साबित कर दिया कि असली सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए मुक्त बाजार और न्यून स्टैट एकमात्र और सही विकल्प है।” वस्तुतः पी.वी. मुक्त बाजार का हिमायती होने के साथ-साथ अराजकतावादी भी है। वह अपने चिंतन में स्टेट को बलफेयर से अलग करता है। व्यक्ति स्वातंत्र्य का वह हिमायती अराजकता की हद तक है। इसीलिए सरप्लस के समान वितरण व श्रमिकों के हक के हिमायती महान चिंतन कार्ल मार्क्स से वह चिढ़ता है और सार्वजनिक रूप से कहता है कि ‘कौन मार्क्स? मैं किसी मार्क्स-फाक्स को नहीं जानता।’ पी. वी. ने हमेशा समाजवादी विचारधारा को खारिज किया। उसकी नजर में समता को अलग से तरजीह देना बैल को हाँकने की जगह उसकी पूँछ में फुलझड़ी लगाने के जैसा है। हायक, नोजिक और फ्रीडमैन जिन्हें वह

गांधी जी के तीन बंदरों की जगह बिठाता है मुक्त-बाजार के परम हिमायती थे। रार्वट नोजिक एक मिनारकिस्ट था। न्यून सरकार होनी चाहिए। सरकार के बस तीन काम हैं, जान-माल की सुरक्षा, हिंसा का दमन और निजी करार का प्रवर्तन। जबकि हायके ने निजी सम्पत्ति के तत्वों को सभ्यता का जन्म बताया। उसके अनुसार मुक्त मूल्य प्रणाली इतनी ही मौलिक है जितनी की भाषा की उत्पत्ति। पी. वी. इन विचारकों से ऊर्जा ग्रहण करता है। पी. वी. के भीतर एक नई ग्रस्तता भी थी जिसके तहत वह खुद को इक्कीसवीं शताब्दी यानी आज का माहत्मा गाँधी समझने लगा था। 'पी. वी. के ज्वरित दिमाग में गाँधी और उसकी अपनी जीवनी में बारीक और सरासर समानताएँ दिखाई दे रही थीं। जिस तरह गाँधी अंधेड़ उम्र में अचानक दक्षिण अफ्रीका से लौटा था, पी. वी. अमरीका से खास समय लौटा है। बहुत जल्दी महात्मा ने कांग्रेस पार्टी और देश की जनता पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था। पी. वी. ने तमाम संस्थाओं का नेटवर्क तैयार किया है। वह उनका नेतृत्व कर रहा है और मिडिल क्लास उसका नित्य अभिनंदन कर रही है। महात्मा गाँधी ने चरखा, धोती और खादी को अपने आंदोलन का प्रतीक बनाया। पी. वी. ने योग साधना की कल्ट पैदा की, आर्थिक सुधार, अभिव्यंजना और अभिलाषा को खुशहाली का गुरु-मंत्र बनाया और बचत, निवेश और विकास का सद्गुण चक्र। गाँधी जी ने आजादी के लिए अहिंसा और सत्याग्रह का अनोखा तरीका ईजाद किया, पी. वी. ने बाजारवाद और ग्लोबलाइजेशन का एक देशी संस्करण सामने रखा। महात्मा गाँधी ने आत्मत्याग और सरल जीवन का पाठ पढ़ाया था। और पी. वी. ने अनन्त अभिलाषा और लाभ के लिए उधारजनित उपभोग को दिव्य-बोध की रोशनी दी। और महात्मा गाँधी की तरह पी. वी. के पास न सरकारी पद था, न राजनैतिक गद्दी और न वह इस दौड़ में शामिल था। दरअसल पी. वी. आर. रंगराजन के चरित्र का यह पक्ष और इसको निर्मित करने वाले दार्शनिक आर्थिक आधार जो कुछ भी इस उपन्यास में कराते हैं वह भारतीय स्टेट की उस विडम्बना को दर्शाता है जो उसने ग्लोबलाइजेशन के चलते गाँधी व उनके विचारों के साथ किया है। सिर्फ ग्लोबलाइजेशन के चलते ही क्यूँ वरन् आजादी के बाद से ही गाँधी व उनके विचारों के साथ भारतीय सरकार का सलूक उपेक्षापरक ही रहा है। उपन्यास का ताना-बाना पी. वी. के चरित्र की इन्हीं खासियतों के ईद-गिर्द बुना गया है। धारावाहिक घोटाले की जाँच से शुरू होने वाली उपन्यास की कथा जाँच के बहाने, जाँच की प्रक्रिया से ही आगे बढ़ती है और उसी प्रक्रिया में पी. वी. के चरित्र खासकर उसके द्वारा किए जा रहे कार्यों से भूमंडलीकरण का रेशा-रेशा हमारे सामने खुलता जाता है। ऐसार, टुप्पुर, भीम सिंह आदर्श दरबारी, प्रोफेसर चन्द्रशेखर आदि के बीच होने वाली बातचीत से ही उपन्यास का केन्द्रीय विमर्श आगे बढ़ता है। दरअसल, राजू शर्मा के उपन्यासों की यह खास प्रविधि है कि वह पॉलीमिक्स की थ्योरी अपनाते हैं। वह स्थितियों का चित्रण घटनाओं के बजाए बातचीत से करते हैं और इन्हीं बातचीत के माध्यम से स्थितियाँ, परिस्थितियाँ पाठकों के सामने खुलती जाती हैं। ऐसार और प्रोफेसर चन्द्रशेखर की बातचीत हो ऐसार और पी. वी. की या पी. वी. का खुद का आत्मालाप सब के सब भूमंडलीकरण के मेकनिज्म को खोलते ही हैं। उसको डीकांस्ट्रक्ट करते हैं।

बहरहाल! पी. वी. के चरित्र की विशेषताएँ और खासकर उसके द्वारा अपने आप को इक्कीसवीं सदी का गाँधी समझने की ग्रस्तता भूमंडलीकरण, बाजार व वर्तमान भारतीय-राष्ट्र के अंतःसंबंधों के परिदृश्य पर एक बड़ा विमर्श रचती है, एक नए किस्म के बहस का स्पेस निर्मित करती है। यही विमर्श उपन्यास के नाम 'विसर्जन' को भी सार्थक करता है। वह उसकी अर्थव्याप्ति के तमाम स्तरों को उजागर भी करता है। दरअसल इस पूरे विमर्श को समझने

के लिए हमें थोड़ा इतिहास में पीछे लौटाना पड़ेगा खासकर भारत की आजादी के ठीक बाद के परिदृश्य तक। भारत में उपनिवेशवाद से पूर्व राज्य का आदमी के जीवन में कोई बहुत सीधा हस्तक्षेप नहीं था। तब न राष्ट्र की अवधारणा थी न राष्ट्रवाद की। उन दिनों बाजार भी आज का बाजार नहीं था। वह तुलसी, कबीर के यहाँ दूसरे संदर्भों का बाजार था। एक कहावत जो कि तुलसी के मानस के हवाले से लोक में व्याप्त थी 'कोई नृप हो हमें का हानी', स्टेट और आम आदमी के रिश्ते को ठीक से व्याख्यायित करती है। किन्तु जब भारत उपनिवेश बना तब अंग्रेजों ने धीरे-धीरे हमारे मस्तिष्क में स्टेट को बैठाया। स्टेट की नीतियों का सीधा हस्तक्षेप हमारे रोजमर्रा के जीवन में होने लगा। चूँकि स्टेट की एक कार्यप्रविधि थी, मशीनरी थी, इसलिए समाज के क्रिया व्यापार, उसके जीवन, रहन-सहन आदि के नियंत्रण में उस मशीनरी का हस्तक्षेप ज्यादा बढ़ना स्वाभाविक था। सबसे बड़ी बिडम्बना घटित हुई आजादी के बाद। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था चूँकि अर्थ को केन्द्र में रखती है और वर्तमान आर्थिक जगत व्यक्ति को व्यक्ति नहीं वरन आँकड़े में रिड्यूस करके देखता है। प्रोफेसर महेल्नवीस की अध्यक्षता में भारतीय सांख्यिकी विभाग के गठन के बाद आज तक भारतीय राष्ट्र की नीतियाँ आंकड़ों से मुक्त नहीं हो पाई हैं। व्यक्ति आज भी महज एक आँकड़ा है। गरीबी रेखा तय करने का आँकड़ा, मुद्रास्फीति, शेयर-सूचकांक, देश की आर्थिक वृद्धि व उसकी विकास दर आदि के नाम पर परोसे जाने वाले आँकड़े प्रथमतः और अन्ततः मानवीय गरिमा का हनन ही करते हैं। मानसी के शब्दों का सहारा लेकर कहा जाय तो सांख्यिकी/ समुच्चयता गैर मानवीय दृष्टिकोण हैं। गरीबी की गणना के सम्बन्ध में मानसी द्वारा ऐसा को दिया गया यह तर्क कि "...हमारे अर्थ जगत में गरीबी की परिभाषा की जद्दोजहद आज भी जारी है। पचास साल से ज्यादा हो गए और आज भी हम गरीबी का नाप भोजन की कैलोरी आवश्यकता के आधार पर करते हैं। मोटा-मोटा यह कि कितना खाएँ और जिन्दा रहें। मानो इनसान नहीं पशु की बात कर रहे हैं।" आँकड़ों के खेल को अनावृत करता है। स्टेट द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले आँकड़े तेजी से कम होती गरीबी का मिथ्या यथार्थ सृजित कर रहे हैं। अर्थात्-आजादी के बाद से जो आँकड़े का झूठा खेल इस देश में शुरू हुआ था वह आज ज्यादा भयावह स्थिति में पहुँच गया है।

आँकड़ों की महिमा को एक अर्थशास्त्री होने के कारण पी. वी. आर. रंगराजन ठीक से समझता था। इसलिए उसने सांख्यिकी विभाग से आँकड़े चोरी करवाए। वह जानता था कि सूचनाएँ आँकड़े आज की सत्ता की कुंजी हैं। इनसे वह सरकार गिरा सकता है। पी. वी. का चरित्र जैसा कि मैंने पहले कहा एक बड़ा विमर्श रचता है। वह अपनी तुलना गाँधी से तो करता है किन्तु गाँधी की शब्दावली का इस्तेमाल करते हुए भी वह गाँधी का कुपाठ प्रस्तुत करता है। पी. वी. का चरित्र अपनी पूरी अन्विति में प्रतिरोधी ज्ञान मीमांसा को उलट देता है, उसमें ग्लोबलाइजेशन का संदर्भ और अर्थ भरता है। दरअसल दुनिया के ज्यादातर बड़े दार्शनिक अपने चिंतन में स्टेटलेस सोसायटी की वकालत करते हैं फिर वह चाहे मार्क्स हों या गाँधी। गाँधी तो राज्य को गैर-जरूरी मानते थे। वह कहते थे कि जैसे तो राज्य होना ही नहीं चाहिए चीजों का नियोजन इस तरह से हो कि व्यक्ति व समाज का नैतिक उन्नयन हो जिससे कि राष्ट्र ऑटोमेटेड हो जाए। अगर राज्य बहुत जरूरी हो या कि हो भी (गाँधी राज्य को आनिवार्य बुराई मानते थे) तो 'संचार', विदेश-नीति व रक्षा मामलों तक ही सीमित हो। गाँधी के सम्पूर्ण चिन्तन में परस्पर सहभाव, अहिंसा नैतिक उन्नयन (व्यक्ति व समाज का) पर बल है। उनके केन्द्र में अंतिम आदमी है। उनके स्वराज की अवधारणा अंत्योदय से पूरी होती है। किन्तु,

पी. वी. अपने फलसफे में गाँधी का ठीक उल्टा है। न्यून स्टेट, व्यक्ति स्वातंत्र्य आदि सम्बन्धी उसकी अवधारणा के केन्द्र में परस्पर सहकार नहीं वरन गलाकाट प्रतिस्पर्धा है। गाँधी के यहाँ व्यक्ति लगातार परिभाषित है। वह अंतिम आदमी है जिसके पास कुछ भी नहीं है। गाँधी उसके उदय/उत्थान/उन्नति की बात करते हैं। मार्क्स के यहाँ भी व्यक्ति श्रमिक के रूप में है। न ही गाँधी व्यक्ति स्वातंत्र्य के विरोधी थे और न ही मार्क्स। मेनीफेस्टो में साफ-साफ कहा गया है कि प्रत्येक की स्वतंत्रता सबके स्वतंत्रता की अनिवार्य शर्त है। बावजूद इसके पी. वी. मार्क्स को पसंद नहीं करता क्योंकि एक तो मार्क्स का आर्थिक चिंतन पी. वी. के उलट है दूसरा बड़ा कारण पी. वी. के व्यक्ति का गाँधी व मार्क्स के व्यक्ति से अलग होना है। पी. वी. का व्यक्ति 'अंतिम आदमी' या समाज का दबा कुचला गरीब व्यक्ति अथवा श्रमिक नहीं है बल्कि वह है जो बाजार में पैसा लगा सकता है, उसको मजबूत करता है, जिसके पास क्रय शक्ति है। जाहिर तौर पर वह उच्च वर्ग या कि मध्य-वर्ग है। मध्य वर्ग आज बाजार को सबसे ज्यादा मजबूत कर रहा है। इसलिए यह अकारण नहीं है कि वह पी. वी. की जय-जय कर करता है, उससे पूजता है। पी. वी. साफ कहता है कि देश के असली सैनिक तो वे लाखों मिलेनियर लोग हैं जो डॉलर कमा रहे हैं। वही देश की अर्थव्यवस्था के इंजन हैं।

इस उपन्यास में पी. वी. का चरित्र एक तरीके से गाँधी का ग्लोबल प्रति-संस्करण है। जिस तकनीकी का गाँधी जीवन भर विरोध करते रहे उसी तकनीकी की सहायता से पी. वी. ने अगवा ग्रुप बना करके देश में सरकार के विरोध में एक माहौल कायम किया। उसे सत्ता तक पहुँचने की कुंजी के रूप में वह इस्तेमाल करता है। इतना ही नहीं 'अहिंसा' को वह आर्थिक सुधार से जोड़कर पर्चे भी लिखता है। उसकी सबसे बड़ी खासियत यह है कि वह ग्लोबलाइजेशन का प्रतिनिधि चरित्र है। उसने पूरी प्रतिरोधी ज्ञान परम्परा की भाषा पर अपना कब्जा जमा लिया है। अंतिम आदमी की भाषा पर कब्जा करके उसने उन्हें गूंगा बना दिया है, उनकी भाषा उसने छीन ली है। इसीलिए जब पी. वी. बोलता है तब सब उसे सिर्फ सुनते हैं। वह हमेशा वक्ता होता है। दरअसल पी. वी. 'सर्वदर्शनग्राही' है। जिस तरह भूमंडलीकरण गाँधी को लेकर चगेवरा तक का इस्तेमाल अपने सामान बेचने के लिए करता है, या कि लोकतंत्र का छद्म यथार्थ प्रस्तुत करता है। ठीक उसी तरह उसे पी. वी. भी गाँधी, अहिंसा, न्यून स्टेट, व्यक्ति स्वातंत्र्य, समता, सबके उत्थान आदि की बात करता हुआ बाजार को मजबूत बनाने का काम करता है। परम्परा, राष्ट्र आदि जैसी बड़ी अवधारणाओं का उपयोग वह बाजार व भूमंडलीकरण के अनुकूल मानस निर्माण करने में करता है। वह बड़े व महान दार्शिनिकों, समाज सुधारकों की तरह सवाल उठाता है। वह कहता है 'अपराधी, अपराध, कानून, न्याय, राज्य,... ऐसी अवधारणाओं को दोहन कर तुम और तुम्हारी सरकार अपना जो वर्चस्व कायम रखती है, क्या वह इतना ही मूर्त और परम है? अखंड और अचल? हर युग का, समय का निश्चित पथ? क्या ये राष्ट्र और राज्य के घृणित हथियार नहीं जिनसे वह अपने स्वार्थ और हित की रक्षा करता है? राज्य का विचार सदा संदिग्ध और धूर्त है और वह निरन्तर धूर्त तरीकों से अपनी वैधता जनमानस पर थोपता है। और मैं अपराधी हूँ तो राज्य कितना बड़ा अपराधी हुआ? क्या ताकतवर अपराधी कम ताकतवर अपराधी को सजा दे, यह न्याय है?' पी. वी. का यह लहजा दास्तयत्सकी के उपन्यास 'अपराध और दंड' की उस थीम की याद दिलाता है कि इस दुनिया में जिसने भी लीक से हटकर काम किया प्रथमतः उस समय उसे अपराधी माना गया। ईसा मसीह, गाँधी, गैलिलियो आदि तमाम नाम इसके उदाहरण हैं। इनके साथ

स्टेट ने जिस तरह का बर्ताव किया उससे पी. वी. की बात सही प्रतीत होती है। वास्तव में पी. वी. तमाम बड़ी अवधारणाओं को मनुष्यता के हित से हटाकर उनसे उनके मूल अर्थ का विसर्जन कर बाजार के हित में इस्तेमाल करता है। इस पूरे परिदृश्य पर राजू उपन्यास में बहुत सटीक टिप्पणी करते हैं। वे लिखते हैं, “... यह भाषा कोई औजार या संवाहक नहीं, खुद विमर्श है। जो भाषा खुद विमर्श और तर्क हो गई है वहाँ विर्तक की भाषा कहाँ से आएगी...?” अर्थात् जिस भाषा के या कि जिन अवधारणाओं को इस्तेमाल कर उपनिवेशवाद या कि शोषण के खिलाफ लड़ाई लड़ी गई थी, जिस भाषा का इस्तेमाल अतीत में तमाम विचारकों, राजनीतिज्ञों, चिंतकों ने हेजमीनी को तोड़ने में किया था इतिहास की बिडम्बना से वही भाषा खुद शोषण में सहयोग कर रही है। बाजार को स्थापित करने का एक माध्यम हो गई है। पी. वी. की भाषा से लेकर लड़कियों के कूल्हों व वक्ष पर टी-शर्ट, जींस पर खुदे क्रांतिकारी नारों, अहिंसा के संदेश, गाँधी या चे की तस्वीरों ने उन्हें अर्थहीन बना दिया है। अब वे महान व्यक्ति व उनके संदेश ‘एक्शन’ की जगह ‘फैशन’ बन गए। वर्तमान समय में तो भाषा भी ग्लोबल और निगमित हुई है। कहने की जरूरत नहीं बची है और न ही प्रतिरोध के प्रतीक। सबसे उनके अर्थ व कान्टेक्सट का विसर्जन हो गया। यह शायद इसी का नतीजा है कि साध्य और साधन की पवित्रता में यकीन रखने वाले गाँधी जिन्होंने नैतिक बल की सहायता से देशहित में ब्रिटिश शासन पर सवाल खड़े किए थे व उन्हें तोड़ा था, उनसे अपनी तुलना करने वाला पी. वी. देश के कानून को निजीकरण के हित में चुनौती देता है, उस पर सवाल खड़े करता है। भारतीय राष्ट्र या कि मनुष्यता के इतिहास की इस त्रासद बिडम्बना को राजू ने पूरे उपन्यास में विन्यस्त किया है।

‘विसर्जन’ में राजू की बारीक निगाह भारतीय राजनीतिक व समाज में नब्बे के बाद होने वाले परिवर्तन पर है। बी. एस. एन. एल. व एम. टी. एन. एल. का मसला हो या दूरदर्शन के निजीकरण का अथवा रियल स्टेट बूम का सब पर राजू की दृष्टि इस उपन्यास में रही है। जमीन के करोबार की राजनीति, वर्तमान परिदृश्य में भूमि का मार्केट से जो रिश्ता है और जिसके चलते भूमि सम्बन्धी कानूनों में व्यापक फेरबदल किए जा रहे हैं। उस पूरे चक्र को इस उपन्यास में केन्द्रीयता प्राप्त है। पी. वी. की महत्वपूर्ण चिन्ता जमीन को सरकार द्वारा अनलाक करा देने को लेकर है। वह जमीन के महत्व को लेकर कुछ महत्वपूर्ण आलेख भी लिखता है क्योंकि उसका मानना है कि सिर्फ जमीन को अनलॉक कर दिए जाने से इस देश की तरक्की के तमाम रास्ते खुल सकते हैं। जमीन के पीछे तो इस देश में वैसे भी लम्बी राजनीति काम करती है। सरकारी उपक्रमों को बेचने के बहाने कीमती जमीन को कमीशन लेकर, औने-पैने दामों पर सरकार द्वारा बेचना इस देश में आम है। इसके पीछे के पूरे अर्थशास्त्र को हमारे समाने खोलते हैं।

उपन्यास में राजू शर्मा ने भूमंडलीकरण की महत्वपूर्ण कार्य प्रविधि ‘डिस्कर्सिव प्रेक्टिसेस’ को उजागर किया है, रेखांकित किया है। आज के समय में यथार्थ का कोई मतलब नहीं रह गया है। वर्चुअल रिलिटी ही आज रियल हो गई है। चीजों का अपने Content से विसर्जन हुआ। न्यू थ्योरी आँख करेसी में पूँजी, श्रम से कट गई है। भाषा, ज्ञान से कट गई और ज्ञान अन्य सूचना में रिड्यूस हो गया है। बड़े संदर्भों में कहें तो उत्पादन सम्बन्धों में बदलाव के चलते सुपर स्ट्रक्चर अब बेस से अलग होकर स्वतंत्र होने की प्रक्रिया में है, दूसरे शब्दों में कहा जाए तो स्वतंत्र ही हो गया है। एक आभासी दुनिया हमारे सामने यथार्थ बनकर खड़ी

है। ज्यादा सही यह होगा कि कहा जाए कि भूमंडलीकरण हमारे सामने सर्वप्रथम एक आभासी यथार्थ रचता है और फिर वही यथार्थ बनता है। सब कुछ वीडियो गेम की तरह इस कदर सेट किया जाता है कि वह बस हो जाए। उसके होने को रोका नहीं जा सकता। इराक युद्ध की तरह पी. वी. भी भारत की अर्थनीति को बदलने, उस पर कब्जे का पूरा प्लान वीडियो गेम की तरह सेट करता है और वह फिट हो जाता है। आई. बी. की रिपोर्ट जो कि थी ही नहीं, ऐसार् की तहकीकात जो उसे दोषी साबित करते थे या फिर सरकार कोई उसे नहीं रोक पाता। सरकार तो उसे पद्म विभूषण, भारत रत्न देकर पुरस्कृत ही करती है।

हमारे समय का यथार्थ अब ब्लैक एंड व्हाइट नहीं रह गया है वरन वह धूसर और ग्रे है। इसमें चीजों को ठीक-ठीक लोकेट कर पाना काफी मुश्किल हो गया है। राजू शर्मा ने इस उपन्यास में यथार्थ को लोकेट करने की कोशिश की है, आभासी या कि छाया यथार्थ को अनावृत्त करके। इस उपन्यास को पढ़ने पर लगता है कि राजू शर्मा ने उत्तर आधुनिकता के तमाम लक्षणों को, उसकी विशेषताओं को औपन्यासिक स्ट्रक्चर में गूँथ कर प्रस्तुत कर दिया है। 'विसर्जन' उत्तर आधुनिक सिद्धान्तों का उसके प्रभावों-दुष्प्रभावों का रचनात्मक प्रस्तुतिकरण है।

उत्तर आधुनिकता किस तरह से छद्म यथार्थ रचती है वह क्रिब रिपोर्ट व उसके सम्बन्ध में की गई उपन्यासकार की टिप्पणियों से खुलता है। 2050 तक भारत के चीन और अमरीका के बाद सर्वाधिक विकसित देश बनने का दावा करने वाली इस रिपोर्ट से जुड़ी उपन्यासकार की टिप्पणी काफी महत्वपूर्ण है—“पर शर्त यह है कि इन क्षमताओं की उपलब्धि के लिए आर्थिक सुधार, सही संरचनाएँ, मुक्त बाजार, खुलापन तथा शिक्षा बेहद जरूरी है। एक तरफ से यह चक्रवृद्धि का कमाल दर्शाता है और सीधी-सीधी भाषा में यह संदेश देता है कि अगर आज तुम गरीब हो तो कल तुम अमीर होंगे, बशर्ते निर्दिष्ट राह पर चलो। वही प्राचीन धर्मशास्त्रों का तरीका।”

आर्थिक जगत अथवा भूमंडलीकरण के क्रूर व आलोकतांत्रिक चेहरे पर प्रोफेसर चन्द्रशेखर और साफ शब्दों में प्रकाश डालते हैं, “...रिपोर्ट का पैमाना, उसकी महिमा, उसका चिकना अहंकार, अभीप्सा और निश्चितता उसे घातक बनाती है, बहस की शर्तें निधारित करती है और प्रतिमान की स्पेस निगल लेती है।” अर्थात् विरोध के लिए इस व्यवस्था में कोई स्पेस नहीं रह जाता। सब कुछ पावर स्ट्रक्चर तय करता है। सारे डिस्कोर्स मार्केट ओरिएंटेड पावर स्ट्रक्चर से जनरेट होते हैं। दरअसल बाजार हमारे सपने पैदा करता है व बेहतर भविष्य का ऐसा झूठ गढ़ता है जिसको प्राप्त करने के लिए यदि हम उसकी कार्य योजना पर अमल करें तो हम ऊपर से नीचे तक एक प्रोजेक्ट में तब्दील हो जाएँ। गाँधी के यहाँ विकास के लिए स्वदेशी स्थानीयता के साथ-साथ स्वावलम्बन व सहकार अनिवार्य था पर आज की व्यवस्था में पी. वी. जैसे लोगों के अर्थशास्त्र में स्वदेशी की जगह ग्लोबल व सहकार की जगह शोषण को लाती है। राजू शर्मा को स्टेट की सत्ता-संरचना को डिकान्स्ट्रक्ट करने में महारत हासिल है। ‘हलफनामे’ में जो संरचना वह हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं ‘विसर्जन’ में वह ज्यादा नग्न और भयवाह रूप में मौजूद है। स्टेट वस्तुतः एक अमूर्त संरचना है जो अपनी प्रकृति में हिंसक है। वह अपने अंगों उपायों के माध्यम से अपनी सत्ता व शक्ति का डैमो करता है। जाहिर तौर पर सत्ता व शक्ति की यह संरचना प्रथमतः भाषा में निर्मित होती है। इसलिए स्टेट के पावर स्ट्रक्चर को समझने व उसे तोड़ने के लिए सर्वप्रथम भाषा का डिकान्स्ट्रक्शन जरूरी हो जाता है। राजू शर्मा ने विसर्जन में नामों के माध्यम से इस स्ट्रक्चर को डिकान्स्ट्रक्ट करने

का प्रयास किया है, 'डिब', 'आदर्श दरबारी', पी. वी. आर. रंगराजन (वी. आर. = भारत रत्न) जैसे नाम न सिर्फ स्टेट की कार्य प्रविधि का मजाक उड़ाते हैं बल्कि उसके पीछे यथार्थ को बयों भी करते हैं। जो आदर्श दरबारी होगा वही इस सत्ता व्यवस्था में प्रमुख पद प्राप्त कर सकता है। आई. बी. की पूरी कार्य प्रविधि कि देश की सर्वाधिक महत्वपूर्ण खुफिया एजेंसी में किस तरह के लोग हैं, और कैसे उसका उपयोग राजनैतिक फायदे के लिए किया जाता है न कि देश की सुरक्षा हेतु, इस पर विसर्जन विस्तृत बहस करता है। आई. बी. की स्थिति बेहद दर्दनाक व हास्यस्पद है क्योंकि ऐसार जैसे ईमानदार अफसर की रिपोर्ट का कोई मतलब वहाँ नहीं है।

भूमण्डलीकरण एक बहुत ही व्यापक अवधारणा है। इस विश्व में एक साथ कई स्तरों पर उसकी सक्रियता देखने को मिलती है। हिन्दी में 'विसर्जन' ऐसा पहला उपन्यास है जो भूमण्डलीकरण के प्लेयर्स को चिन्हित करता है साथ ही इसकी नीतियाँ कहाँ बनती हैं, कहाँ से दार्शनिक आधार पाती हैं, इसको लेकर नेगोशिएशन कहाँ-कहाँ हो रहा है की विस्तृत पड़ताल करता है। केन्द्रीयता टूटने, विचारधारा के अन्त में दावों के बीच भूमण्डलीकरण कैसे खुद केन्द्र बन गया है और कैसे वह एक व्यवस्थित विचारधारा है, राजू इसे परत-दर-परत हमारे सामने उघाड़ते हैं। वे भूमण्डलीकरण के केन्द्र को उसके भीतर घुसकर तोड़ने की सार्थक रचनात्मक कोशिश भी करते हैं। चूँकि भूमण्डलीकरण का पूरा खेल आर्थिक जगत से जुड़ा है, उससे संचालित व नियंत्रित होता है, इसलिए विसर्जन में राजू प्रमुखता से आर्थिक जगत व भूमण्डलीकरण के सम्बन्धों को विखण्डित करते हैं। सर्वप्रथम वह अपने पात्रों के नामों से ही ऐसा करते हैं। चन्द्रशेखर पी. वी. आर. रंगराजन जैसे नाम आर्थिक जगत से जुड़े नाम हैं। इनकी गतिविधियों के माध्यम से भूमण्डलीकरण व आर्थिक जगत की कूट संरचनाओं को राजू डिकोड करते हैं। दरअसल हिन्दी साहित्य में अभी आर्थिक सिद्धान्तों, बाजार व सत्ता, के सम्बन्धोंको सैद्धान्तिक स्तर पर समझकर उसे विखण्डित करने वाले लेखन का ट्रेंड अभी शुरू ही नहीं हुआ है। राजू शर्मा का 'विसर्जन' इस लिहाज से हिन्दी में एक नए ट्रेंड की शुरुआत करता है। हिंदी में शोधपरक उपन्यासों की परम्परा कोई खास समृद्ध नहीं है। जो कुछ शोधपरक उपन्यास है। भी वे किसी व्यक्ति विशेष के जीवन या घटना विशेष से सम्बन्धित हैं। भूमण्डलीकरण जैसे वैश्विक फेनामिना पर व्यापक शोध व सैद्धान्तिक की गहरी समझ तथा राजनीतिक सत्ता के अंतर्सम्बन्धों के हरेक पेचोखम को उसके भीतर घुसकर मुकम्मल समझ के साथ लिखा गया 'विसर्जन' पहला उपन्यास है। दिल्ली के बारे में जो सूचनाएँ किताब लिखने की तैयारी के क्रम में ऐसार पाठकों को देता है। वह यह दिखाता है कि गम्भीर उपन्यास लेखन अथवा विश्वसनीय सजर्नात्मक लेखन के लिए कितने शोध व तैयारी तथा मल्टीडाइमेंशनल समझ की जरूरत होती है। गंभीर उपन्यास सिर्फ चलताऊ जुमलों से नहीं लिखा जा सकता है। राजू ने भूमण्डलीकरण के केन्द्र को विखण्डित किया है। उपन्यास में आया दिल्ली का यथार्थ दरअसल राष्ट्र के केन्द्र के बहाने भूमण्डलीकरण का यथार्थ है। अपनी चमक-दमक के पीछे कितना शातिर बेईमान क्रूर व अमानवीय है यह दिल्ली में रिक्शा चालकों की तदाद, बेघर के आंकड़ों से स्पष्ट होता है। दिल्ली का सच सिर्फ भूमण्डलीकरण का वैश्विक सच है। वह सच्चाई ऐसे बीमार देश व समाज की जहाँ 'विसर्जन' की अन्तरकथा कोई रूपक या गल्प नहीं वरन नंगी सच्चाई है।

राजू शर्मा के इस उपन्यास की कथावस्तु बहुत व्यापक है पर कथा छोटी। औपन्यासिक प्रविधि के तहत राजू ने डिटेक्टिव फिक्शन प्रविधि का इस्तेमाल कर इस गरिष्ठ को रोचक

व पठनीय बनाया है। बाजार से शुरू हुआ यह उपन्यास अंतिम में बाजार के सच को उजागर करता हुआ खत्म होता है। अर्थात् बाजार राष्ट्र व समाज को बीमार बना रहा है। इसीलिए यह उपन्यास ऐसार, रंगराजन या आदर्श दरबारी की कथा नहीं है वरन् पूरे समाज की कथा है। एक ऐसा समाज जहाँ नायक और खलनायक में भेद कर पाना मुश्किल है। रचनात्मक व्यक्तित्व वाले ऐसार की मेहनत और सच्चाई का कोई मूल्य नहीं है। पी. वी. जैसे लोग नायक हैं। देरिदा ने कहा था कि भाषा में बनी बायानरी को उलट देने की जरूरत है मसलन स्त्री—पुरुष, दिन किरात आदि को। बिडम्बना यह है कि यह अवधारणा भूमण्डलीकरण ने इस तरह इस्तेमाल की कि उन पी. वी. जैसे लोगों को न हम निष्कर्ष रूप में बुरा कह सकते हैं न समाज कहता है। जो उसकी बेईमानी के सच को चिन्हित करता है उस सच को समाज नहीं मानता। क्योंकि आज न आप किसी को उस तरह अच्छा कह सकते हैं और न ही बुरा जैसा कि प्रचलित संदर्भों में समझा जाता था। अब सच का सारा मामला दूरबीन के एंगल का है। कोई व्याख्या गलत नहीं है। शायद इसीलिए पी. वी. की व्याख्या गाँधी-सी दिखती है।

विसर्जन / राजू शर्मा / राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली / संस्करण-2010

फरेबी इश्क की दास्तान : चन्दन पांडेय की कहानियाँ

प्रेमशंकर सिंह

चन्दन पांडेय ख्यातिलब्ध युवा कहानीकार हैं। 'भूलना' नाम से एक संग्रह पहले ही प्रकाशित हो चुका है। अभी हाल ही में दूसरा संग्रह 'इश्क फरेब' नाम से प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में कुल तीन कहानियाँ हैं- सिटी पब्लिक स्कूल, शहर की खुदाई में क्या कुछ मिलेगा और रिवाल्वर। कहना न होगा कि इस संग्रह में शामिल कहानियों के द्वारा चन्दन ने यह साबित किया है कि वह सिर्फ सादे शिल्प और और गाँवों के अमानुषीकरण के रचनाकार नहीं हैं।

संग्रह की पहली कहानी 'सिटी पब्लिक स्कूल' है। जैसा कि नाम से ही जाहिर है यह महानगरीय 'कानवेंट कल्चर' पर फोकस कहानी है। आई मीन इसका थीम यही है। माने कि पूरी कहानी हिन्दी में लेकिन आपको लगे कि हिन्दी नहीं देवनागरी पढ़ रहे हैं। कहीं कोई भदेसपना नहीं, न ही कोई देसजपना। आप कह ही नहीं सकते कि यह कहानी उसी बनारस की है जिसमें काशीनाथ सिंह रहते हैं और कहानी भी लिखते हैं। किसी को बुरा लगे तो लगे। और कोई लेखक इसकी परवाह क्यों करे और करे भी तो कितनी?

कहानी केन्द्रित है पब्लिक स्कूल में पढ़ते तीन युवाओं सुजीत, तरुण और निकी ('यानी निकिता शाह') के बीच बनने वाले प्रेम त्रिकोण पर जहां कि नरेटर की भूमिका में सुजीत है। किंतु कहानी में अगर सिर्फ यही होता तो शायद कहानी में कोई उल्लेखनीय बात नहीं होती। दरअसल यह कहानी व्यवस्था के अन्दरूनी कमजोरियों के चलते पैदा होते उस युवावर्ग की त्रासदी का बयान है जो नकली और ओढ़े गए जीवन मूल्यों को ही अपनी हकीकत समझने लगता है। यह कहानी उस परिवेश में पले बढ़े युवाओं की है जो उस शिक्षा व्यवस्था का शिकार हैं, जो बाहर से जितनी तड़क-भड़क वाली है, भीतर से उतनी ही खोखली है और 'बेरोजगारों के बीमार कारखाने' की तरह है। उस बीमार कारखाने से निकला युवा ही इस नई शिक्षण

सम्पर्क : प्रेमशंकर सिंह, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा-282005, मो. : 09415703379

संस्था का अध्यापक है। उसके बारे में उसके विद्यार्थियों की राय कहानी के पहले ही पैराग्राफ में पता चल जाती है जिसके बारे में नरेटर अंजाने ही कुछ महत्वपूर्ण सूचना दे जाता है— ‘अगर मैं फिजिक्स मैम के स्कूल से हट जाने की बात बता दूँ दैन यू विल हैव सम डाटा बेस इंफार्मेशन ओनली। पर फिर कभी आप ये सब नहीं जान पाएँगे कि क्यों मैं जितना भी समझदार हूँ उससे कम समझदार होना चाहता हूँ। मेरे स्कूल के टीचर्स स्टूडेंट्स के सामने इतने लाचार क्यों है। और ये भी कि मैं कौन? निकी कौन? तरुण? गुप? ब्लू फिल्म? अ किस ऑन ग्रेट लिप्स।’

सुजीत निकी के बैग में जो कुछ भी अपनी मोहब्बत के इजहार का सामान रखता रहा हो, लेकिन निकी सुजीत के बजाय तरुण के साथ ज्यादा फ्रेंडली फील करती थी। इस बात को लेकर सुजीत और तरुण, जो कि अन्यथा बहुत अच्छे मित्र थे, के सम्बन्धों में खटास आना शुरू होती है। सुजीत का मानना था कि—‘जब मैं निकी के मामले में तरुण से थोड़ा पिछड़ने लगा तो...। मुझे लगता रहा था, मेरे और तरुण के बीच बाइक्स, बड़ी गाड़ियों और पॉवरफुल फेमिली से ज्यादा डिफरेंस सेल्फ कॉन्फिडेंस पैदा कर रहा था। ऐसा तब, जबकि तरुण का रोल नम्बर, टेंथ क्लास के लिए ठीक मेरे पीछे था ताकि वो पास हो सके। दरअसल प्राइवेट स्कूल्स और गवर्नमेंट स्कूल के तमाम डिफरेंस में एक बेसिक डिफरेंस था जिसमें प्राइवेट स्कूल मैनेजमेंट अपने स्टूडेंट का फार्म ऐसे सीरियल में फिलअप कराता था कि बोर्ड एग्जाम्स में हरेक अच्छे लड़के के पीछे कमजोर लड़के का रोल नम्बर हो ताकि कमजोर लड़का कैन गेट सेटिसफैक्टरी मार्क्स।’

एक मित्र जो दोनों में से किसी की सम्भवित प्रेमिका है, के उपर वर्चस्व और अधिकार के लड़ाई का दिलचस्प मोड़ तब आता है जब एक दिन प्रेम की राह पर बिगड़े हुए ये बच्चे क्लास में ‘उत्तेजना की लिपटी हँसी’ हँस रहे थे और अजीत सर द्वारा रंगे हाथ पकड़ लिए जाते हैं। लेकिन इनका बिगड़ा आत्मविश्वास यह मान कर चलता है कि पच्चीस हजार रुपए फीस देने वाले किसी बच्चे को पच्चीस सौ रुपये पाने वाले अध्यापक के कहने पर नहीं निकाला जा सकता। क्योंकि सुनारी और ठेकेदारी का काम करती आई डाइरेक्टर की फैमिली तो बिजनेस के घाटे को पूरा करने के लिए शेयर मार्केट और स्कूल के बिजनेस में उतर आई है। इसी लिए तो तरुण जो अमीर घर का बिगड़ा शहजादा था, सुजीत को समझाते हुए कहता है कि ‘तुम्हें क्या लगता है, जिसे वो पैसा देते हैं उसके कहने पर वो उसे स्कूल से निकाल देंगे जिससे वो पैसा लेते हैं। गवर्नमेंट स्कूल समझ रखा है क्या।’ माने कि यह जमाने के तमाम गुणा गणित को समझती हुई एक ऐसी पीढ़ी की कथा है जो आने वाले भारत का भविष्य तो है पर अपने भविष्य के प्रति बेपरवाह। लेकिन इन्हें पता है कि श्रद्धा और भक्ति के योग से प्रेम नहीं शून्य बनता है। कहानी की नायिका निकी सुजीत के ‘फेवर’ और तरुण के सह के कारण पैदा हुए ‘अवसर’ में से किसी एक के चुनाव का निर्णय नहीं ले पाती।

दूसरी कहानी ‘शहर की खुदाई में क्या कुछ मिलेगा’ में कॉलेज से निकले, विश्वविद्यालय की दहलीज पर प्रेम कर पाए युवा दिलों की प्रेम कहानी है। यह प्रेम कहानी उस दौर की है जब दूरियाँ किलोमीटर से नहीं घंटों में नापी जाती हैं। जीवन तथा गमे रोजगार की दिक्कतों को झेलते मेधा और विपुल की इस प्रेम कहानी में एक शहर है ओमानी और एक दूसरा शहर भी है—‘एक तो बनारस का मौसम- साला हर वक्त जैसे आत्मा में धूल उड़ती रहती है। चौराहे बेचैन लोगों से भरे रहते हैं।’ प्यार में कैद युवा मन की कई गहरी संवेदना और तमाम उतार-चढ़ाव को पार करती यह कहानी इन शहरों के बाहर भी कई शहरों में (भोपाल, दिल्ली, बंगलौर आदि) अपना रंग रूप ढूँढ़ती है। पर असुरक्षा और अविश्वास इस प्रेम के पहरदार हैं और

गमे रोजगार इनके यार। जिन्हें अपने घर और परिवार की बेड़ियाँ न रोक पाईं उन्हें इस बात की जरूर चिंता है कि 'जीवन में कितना कुछ आपके माफिक नहीं होता।'

कहानीकार ने इस कहानी में आत्मव्यंग्य का अनूठा इस्तेमाल किया है। वह विपुल के जरिए यह साबित करना चाहता है कि यह प्रेम कहानी उसकी है। उसके उदाहरण भी देता है—'जिन दिनों में लेखक (मशहूर) बनने की फिराक में था उन्हीं दिनों में हमारे बीच अनुपम का जिक्र आया। वो मेघा को एम. बी. ए. की कोचिंग में मिला था। मैंने मेघा का सहज ज्ञान दुरुस्त किया- अनुपम हमें विश्वविद्यालय कैंटीन में सबसे पहले दिन मिला था। मेरी याददाश्त की तारीफ मेघा ने सर पीट कर की, पूरे पागल हो। इतने ध्यान से खुद को पढ़ाई में लगाते जरा।' दरअसल नायक कोई कहानी लिखना चाहता भी नहीं है। उसे तो अपनी प्रेम कहानी कहनी है पर मेघा अगर सुनने को तैयार हो तब। कुल मामला इतना है बस। पर यह कोई इतना आसान मामला नहीं है क्योंकि—'दिल से तो हर मुआमला करके चले थे साफ हम, कहने में उनके सामने बात बदल बदल गई।'

इसी हड़बड़ाहट में वह यह लिखता है कि—'मेरा लिखना, लिखने की कोशिश जैसा था। मेरे पैर असंतुलित पैर की तरह बेसम्भाल हो जाते। एक वाक्य सही नहीं पड़ता था। असंतुलन ऐसा था कि पैरों के उठने-गिरने का भी सटीक अन्दाजा मुझे नहीं होता था। बेअन्दाज उँचाइयों से मेरे शब्द गिरते तो उनकी एड़ी में बहुत चोट आती थी। जैसे वहाँ की हड्डी कुचल गई हो। जब मैं कहानी लिखने के ख्याल से उबरा तब तक मेरे पैर ऐसे घायल हो गए थे कि मैं उनका कभी इस्तेमाल ही नहीं कर पाया। मेघा लाख कहती रही।

मैंने लिखना भी क्या चाहा—अपनी ही कहानी। आप हँसेंगे। अपनी ही कहानी का मैं मारा हुआ था। कहानी से चाह कर भी मेघा और विपुल का नाम नहीं हटा पाया। कोई दूसरा नाम रखते ही कहानी भूसा हो जाती थी।' और सचमुच पूरी कहानी लेखक ऐसे घायल पैरों के सहारे लिखता रहा। मेघा ने उसे आत्मनिर्भर बनाने की कई कोशिशों की पर उनका परिणाम सिफर था। यह जरूर है कि मेघा और अपने बीच वह अनुपम, शिव, अभिषेक को भी महसूस करता था जो कई बार तो मेघा को 'मेरी मेघा' भी आखिर बोल ही देते थे।

उसकी हसरत थी कि विश्वविद्यालय से छूटा साथ जिन्दगी के किसी मोड़ पर दुबारा मिले, पर 'अबके हम बिछड़े तो कभी ख्वाबों में मिलें' किसी ने यूँ ही तो नहीं लिखा था। हसरत आखिर हसरत ही रहती है। विपुल का आत्म स्वीकार है कि 'साइकिल से कुचले जाते सूखे पत्तों की चरमाराती आवाज मेरे भितरघात का पार्श्व संगीत तैयार करती थी। सुनसान और झनझनाती दोपहरी में अच्छे खयालों की गुंजाइश नहीं थी।' एक अंतहीन इंतजार के बीच लगातार गहराते इस प्रेम कहानी नायक का चरित्र जहाँ खासी आत्मग्रस्तता का शिकार है वहीं नायिका ज्यादा संजीदा और गम्भीर होने के कारण आकर्षित करती है। लेखक की पिछली कहानियों की अपेक्षा यह एक उल्लेखनीय बात है क्योंकि अधिकतर महिला पात्रों का चरित्र चन्दन की कहानियों में नकारात्मक ही है। लेकिन इस कहानी में नायक अपनी दुविधाग्रस्तता और असुरक्षाबोध के कारण नायिका के बारे में तमाम शंकाएँ अवश्य पालता है पर इससे उसकी मानसिक दुर्बलता का ही पता चलता है। कहानी का शीर्षक इस नाते भी महत्वपूर्ण बन जाता है कि सभ्यता के विकास में अग्रणी शहरों में जीवित ऐसी प्रेम कथाओं का अवशेष किसी खुदाई में तो नहीं मिलेगा क्योंकि वहाँ तो जीवन को सफलता के मुहावरों में देखने की आदी आँखें होती हैं किसी के इंतजार में खुली आँखें नहीं।

संग्रह की आखिरी कहानी 'रिवाल्वर' है। किंचित लम्बी और इसी कारण थोड़ा बोझिल भी। यह कहानी कम से कम बीस पेज न लिखे बगैर भी पूरी हो सकती थी। लेकिन शाबाशी देनी

होगी लेखक को कि छोटी सी कथा वस्तु के भीतर कई आवेगों के सहारे वह इतनी बड़ी कहानी लिख सका। यह सादे शिल्प के भीतर एक चमत्कार पैदा करने की कोशिश का परिणाम है।

अपनी प्रेमिका (नीलू) के प्रेम में मार खाए नायक गौतम का मन है कि उसकी वह हत्या करे। और हत्या के लिए वह भी अपने किसी प्रिय की तो सबसे पहले अपने को समझाना पड़ता है कि आखिर उसकी हत्या वह क्यों करना चाहता है। गौतम यह सब कल्पना की मदद से कर लेता है। अपनी आत्मा में नीलू की मृत्यु तो वह पहले ही कर चुका होता है इस तरह- 'मानो आप आमलेट खा रहे हों, और दारू नहीं पी रहे हों। पर आमलेट का स्वाद स्वायत्त नहीं होता। अगर एक बार आपने उसके साथ दारू पी ली हो तो जन्म भर आमलेट आपको शराब के नशे में सराबोर रखेगा और आप शराब न पीते हुए भी उसकी कल्पना के लिए मजबूर हैं। यहाँ शराब की जगह कभी राहुल, कभी देवब्रत, तो कभी सिद्धार्थ नीच राठी ने ली। एक बार मैं कल्पना के रथ पर सवार हुआ तो पाया कि नीलू में हर वो कमी मौजूद है जिसे मैं ढूँढना चाहता था। ऐसा करते हुए मैं बस इस बात का ख्याल नहीं रख पाया कि कहाँ सच्चाई खत्म हो रही है और कहाँ भ्रम शुरू। रही नीलू की बात, तो उसे अपनी कल्पनाओं में पाने के लिए मुझे इधर-उधर झाँकने की जरूरत नहीं थी।'

लेकिन कथानायक को नीलू से कई शिकायतें थीं। वह प्रेम को लोकतांत्रिक मानने के नुश्खे को खारिज करता है क्योंकि उसके लिए यह नितांत व्यक्तिगत है। उसे यह गुमान भी है कि फैंज जैसा लेखक तो सिर्फ रकीब से सपने में मिला था, सही में तो सिर्फ वह मिला। उसे यह भी शिकायत है कि 'इनसान बनाने की कीमत पर मेरी याददाश्त को तुमने गुनाहगार बनाया- उसका सूद बहुत बढ़ाकर मुझसे वसूल किया और तब भी मैं यह नहीं कह पाया— अगले जनम में।' वैसे इस प्रसंग में कविता के साथ अगर लेखक (शमशेर) का नाम लिया जाता तो कोई हर्ज न होता।

विश्वासघात, घृणा और अपराध की भयानक कशमकश के बीच इस कहानी का विस्तार लगातार एक सस्पेंस बनाए रखता है किंतु किंचित नाटकीयता के साथ। नीलू को लेकर नायक जिस भयानक दुर्भावना से प्रेरित है उसे फैंज जैसे लेखक से प्रमाण पुष्ट करने का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि वहाँ तो उस रकीब को गले लगाने की मंशा है जो अपनी ही (कभी रही) प्रेमिका के हुश्र से बावस्ता है—तूने देखी है वो पेशानी वो रुखसार वो होठ, जिन्दगी जिनके तसव्वुर में लुटा दी हमने, तुझ पे उट्टी है वो खोई हुई साहिर आंखें, तुझको मालूम है क्यों उम्र गवाँ दी हमने। लेकिन यहाँ तो उसे विश्वासघात मानकर कत्ल करने पर उतारू है नायक। नायिका के प्रति किसी सम्मान को तो छोड़िए भयानक घृणा से भरा हुआ है वह। वह भी सिर्फ शक-सुबहे की बुनियाद पर। पहले भी चिन्हित किया गया है कि स्त्रियों के प्रति एक नकारात्मकता चन्दन के यहाँ दिखाई पड़ती है पर यहाँ तो कुछ ज्यादा ही हो गया है..। टू मच। नीलू के बारे में यह तो बार-बार बताया जाता है कि वह अपने गुप्त स्वार्थों के कारण कई प्रेम करती है किंतु कहीं यह जाहिर नहीं हो पाता कि वे गुप्त स्वार्थ क्या हैं और उन्हें अपने देह सम्बन्धों से वह कैसे पूरा करती है?

और वह रिवाल्वर? जिसे नीलू की हत्या के लिए गौतम खरीदता है। चेखव ने एक बार कहा था कि अगर नाटक में मंच पर बन्दूक दिखे तो उसे कहीं न कहीं नाटक के भीतर चलनी जरूर चाहिए। यह कहानी जिस तरह की नाटकीय परिणतियों के सहारे चलती है उससे पाठक को यह उम्मीद रहती है कि शायद कहीं रिवाल्वर चले। लेकिन अंत तक यह सिर्फ 'छुछिया फायर' ही साबित होता है।

स्त्री मुक्ति का पक्ष : इस उस मोड़ पर

समीर कुमार पाठक

स्त्री विमर्श के इस मुखर युग में स्त्री-उत्पीड़न तथा उसके साहित्यिक प्रतिबिम्बन को आर्थिक विषमताओं के अमूर्त दायरे में ही देखा-समझा जाता रहा है और यह माना जाता रहा है कि इन विषमताओं को दूर करके उत्पीड़न को भी समाप्त किया जा सकता है। किंतु ये सवाल इतने सरल न होकर बेहद जटिल और पेंचीदे हैं और हमारे समाज की सांस्कृतिक संरचनाएँ इसके लिए जिम्मेदार हैं। आर्थिक विषमताएँ दूर कर लेने पर भी सांस्कृतिक संरचनाएँ आसानी से नहीं बदलतीं इसलिए स्त्री की सांस्कृतिक मुक्ति का प्रश्न एक बड़ा जटिल प्रश्न है, जिस पर अमूर्त ढंग से नहीं, मूर्त ढंग से विचार होना चाहिए, उसकी गहरी पड़ताल अनिवार्य है। स्त्री की सांस्कृतिक मुक्ति की गहरी पड़ताल और नारीवादी विमर्श की प्रवृत्तियों, समस्याओं और संभावनाओं पर प्रसिद्ध कथाकार-आलोचक चन्द्रकला त्रिपाठी की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'इस उस मोड़ पर' विस्तार से चर्चा का प्रस्ताव करती है : महत्वपूर्ण यह है कि नारी मुक्ति की चेतना से लैस करने वाली चन्द्रकला जी यहाँ कथा-डायरी के माध्यम से एक नया विषय और भाषिक मिजाज लेकर उपस्थित हैं। "बाऊजी नहीं रहे। अंतिम यात्रा के लिए सजा दी गई उनकी देह के चारों ओर एक बड़ा हुजूम था। हिन्दू-मुसलमान, अगड़े-पिछड़े सब वहाँ इकट्ठा और सब रोते हुए"—इस भावुक स्मृति से यह कथा-डायरी प्रारंभ होती है और वास्तविक जीवन के ढेर सारे पात्रों के साथ सुख-दुख, आशा-निराशा, जय-पराजय, विश्वास-अविश्वास तथा हताशा-संघर्ष का यथार्थलोक सृजित करती है। लेखिका के शब्दों में—“लिखा तो मैंने, मगर कैसा, यह आप ही जानें (पृ. 8)। यहाँ लेखिका स्त्री रचनाकार के रूप में सभी प्रश्नों पर सोचती है, यहाँ मेरी सोच अन्तिम है जैसा निष्कर्षपरक विमर्श भी नहीं है बल्कि विमर्श की सम्भावना विवृत है। लेखिका समस्याओं को सही ढंग से बाँधकर अपनी सोच आपके साथ 'शेयर' करना चाहती है और कहना न होगा कि यहाँ फेमिनिज्म के परसेप्शन और कंसेप्शन का भी कोई

सम्पर्क : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, गाँधी फैज-ए-आम कॉलेज, शाहजहाँपुर-242001 (उ.प्र.), मो. : 09453114192

पूर्वग्रह नहीं है इसलिए इसके पीछे सार्थक विमर्श की सम्भावना भी विवृत होती जाती है।

यह कथा डायरी 26 सितम्बर, 2006 से शुरू होती है लेकिन स्मृति में है पुराना बचपन, विशाल बगीचा, ऊँची दीवारें, बेशुमार फलदार वृक्ष और उसके भीतर मन में कहीं खास होने का सपना पैदा होने लगा था। जाहिर है कि स्मृति में जाना क्या पलायनवाद है? ऐसे और भी प्रश्न उठ सकते हैं। लेकिन पूरी संवेदनशीलता और सादगी के साथ स्मृतियों को अविस्मरणीय बना देने की कला में माहिर चन्द्रकला त्रिपाठी की यह कथा-डायरी प्रश्न करने का समय ही नहीं देती क्योंकि चरित्रों को जिस आत्मीयता से यहाँ पुनर्प्रस्तुति मिली है, जैसे चीजें साफ पानी की तरह बहती चली आ रही हैं। आप सहमत हों या असहमत लेकिन इस स्मृति यात्रा का प्रयास देखिए—“पता नहीं, हॉं शायद यह घटना जिसने मुझे बताया कि सुन्दर होना खास होता है, दूसरी वह उन मास्टर साहब की पत्नी का हाल...! महल का पूरा परिसर जैसे अदहन पकते चावल की तरह खदबदा उठा था, सबको बहुत रुचिपूर्वक फुसफुसाते देखा।” (पृ. 13) लेखिका के शब्दों में अन्तर्कथाएँ हम समझ नहीं सकते थे...लेकिन जाहिर है उन दिनों की जिन्दगी के धागों में उलझन शुरू हो गई थी। सच्चाई को सामने के सिर से देखने पकड़ने वाले लोग थे, चारों तरफ और हमारी चेतना पर भी उसी साँचे में आने के दबाव थे। (पृ. 14) ‘अन्तर्कथाएँ समझ न पाने’ और ‘हमारी चेतना पर भी उसी साँचे में आने के दबाव थे’—के भीतर एक सूखी लकड़ी की तरह जलते—कुढ़ते ‘हीरावती’ अपने आत्मसम्मान को बचाए रखने का संघर्ष करती है, यह संघर्ष ही हिरउती की कहानी है। माँ के गीतों के माध्यम से एक सोहर का स्मरण—‘लेई आऊ सोने का सलइया, नयन बीच हारहु हो, जिभियन धरहु अंगार बचन कइसे उपजहि हो!’—यह एक सोहर मात्र का स्मरण नहीं है बल्कि इससे पीछे अभिजनवादी सौन्दर्यबोध गीय मूल्यों को प्रश्नांकित करने की प्रस्थान चेतना है। हिरउती का जो चित्र लेखिका ने खींचा है—‘बहिन की छोटी चमकती आँखों में आँसुओं के पीछे आग लहकती थी। वे इन्हीं आँखों से इन्हें अपनी जन्म देने वाली माँ को देखती, उस माँ को जिसने उन्हें बारह वर्ष की उम्र में ब्याह कर कन्यादान का पुण्य लूटा था। सिर्फ बाईस वर्ष की उम्र तक कोख न हरी होने पर पति ने बाँझ कह कर दूसरा ब्याह कर लिया। ...वे विवाहित थीं, मगर सिंदुर लगाती थीं। बहन की अपनी भाइयों-भौजाइयों के साथ निभी ही नहीं और उन्होंने परिवार की प्रतिष्ठा की दृष्टि से एक और अनर्थ कर दिया। वही गाँव में अपने एक मुँह बोले भाई का घर सँभालने चली गईं। ...वहीं गाँव के ही एक गरीब किस्म के कॉन्वेंट स्कूल में तीन सौ रुपये महीने पर पढ़ाने लगीं। शायद कुछ चैन से उनका जीवन कट रहा था। मगर गाँव में इसे लेकर एक भीतरी तूफान मचा था (पृ. 18-19)। यहाँ महत्वपूर्ण है उपेक्षित हिरउती का मात्र आत्मसम्मान को बचाए रखने का संघर्ष, अपनी ही कमाई में खाने या फाँका करने का संघर्ष लेकिन साथ ही चालीस साल छोटी एक लड़की का हिकारत से मुँह बिचका कर यह बोलना कि—देखा हिरउतिया के, लाज सरम घोरि के पी गइल बा—सेल वैल्यू वाले उत्तर-आधुनिक समय में बेहद मर्मांतक और व्यंग्यगर्भित है। बावजूद इसके बहन में एक आग थी, जिसकी आँच सबको लगती थी लेकिन अन्ततः ‘लावारिस की तरह मरी हिरउती’।

यह कथा डायरी आठ-उपशीर्षकों में विभक्त है लेकिन विभक्त होकर भी यह कहानी स्त्री के भौतिक आत्मिक जीवन का नया संजटिल परिदृश्य निर्मित करती है। ‘इस उस मोड़ पर’—लेखिका का पक्ष-प्रतिपक्ष यह है कि स्त्री की स्मृतियों में निर्मित सामन्ती उत्पीड़न के दंश अभी भी मौजूद हैं और धीमी गति से, गैर क्रांतिकारी ढंग से विकसित जनवादी मूल्यों एवं जुझारू भौतिकवादी तर्कपरकता से रिक्त भारतीय बौने विकलांग पूँजीवादी समाज द्वारा अपना

लिए गए सामन्ती औपनिवेशिक संस्कृति के तत्व एवं उपकरण अभी भी उसके शोषण उत्पीड़न के नानाविध रूपों के पीछे काम कर रहे हैं। कहने-मानने को इसे कथा-डायरी भले कहा—माना जाय लेकिन यहाँ स्त्री प्रश्नों की नई चिन्ताओं, नए सरोकारों, विद्रोह के नए तेवर, नए बोध और अहसास का जो विश्लेषण है, उसमें एक तरफ निर्मम संस्मरण लेखक की सी तटस्थ पारदर्शिता है तो दूसरी तरफ सूक्ष्म समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की वस्तुनिष्ठ वस्तुपरकता भी है।

‘यह पिंजरा वह पिंजरा’ और ‘गुलरी के फुलम बलम’—यह दोनों अध्याय इस कथा संरचना के केन्द्रीय भाग हैं और लोक संस्कारों के साथ जीवन संदर्भों को खोजने की कोशिश करते हैं। हिरउती की कहानी में आत्मसम्मान को बचा न पाने के संघर्ष की दास्तान है तो दुलारी की स्मृति में सामाजिक वर्गभेद की असमानता की स्थायी अमावस्या को चीरकर अनुभवों के पहचान की मुकम्मिल कोशिश है। लेकिन सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण है : ‘अम्मा कुछ नहीं बताती’—के बाद भी सुन्दर कमनीय शरीर वाली हँसमुख स्त्री, नृत्य करतीं, अभिनय करतीं, ढोलक बजाती स्त्री, बाऊजी के समानान्तर अपनी नई दुनिया बनाने वाली स्त्री, ठाकुर जी के रुतबे से बाऊजी के रुतबे को टक्कर देने वाली स्त्री का यह परिवर्तन मानो जहर पचा कर पीने की आदत पड़ गई हो। लम्बी कैद की जिन्दगी की आदत। जाहिर है कि बेहद शालीन संकेतों के माध्यम से क्या अम्मा का कुछ भी अनकहा रह पाता है।

आर्थिक नव-उदारवाद व नव-उपनिवेशवाद के वर्तमान दौर का नारीवाद भी स्त्री पुरुष सम्बन्धों को मात्र विध्वंसक ढंग से तोड़ देना चाहता है और इस तोड़-फोड़ के बाद भी स्त्री उपभोक्ता-वस्तु में बदल जाने का आत्मनिर्वासन झेल रही है। टेलीविजन और खुले बाजार के समय में पुरुष नवकट्टरपंथ अस्तित्व में आया है। तमाम पूँजीवादी सांस्कृतिक घटाटोपों के बावजूद, न केवल सिनेमा में, न केवल पत्रकारिता में, न केवल साहित्य में बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में लिंग भेदी दृष्टिकोण पर प्रश्न चिह्न उठाए जाने की शुरुआत हो चुकी है लेकिन न वहाँ जिजिया मौसी की उपस्थिति मिलेगी, न पिया संग कब जागी कब सोई..’ की दर्दनाक पीड़ा का अहसास होगा। जिजिया मौसी के जीवन की शुरुआत सम्मानपूर्ण सम्बोधित होने के अनोखे अनुभव से होती है लेकिन अन्त का ऐसा निर्मम विषाद भरा रास्ता जिसमें वह बिल्कुल बेसहारा है, अपने दम पर सम्मान पाने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं है। पिता के घर में दिन-रात खटती हुई वह एक बेआवाज मशीन में बदल गई। स्वाभाविक है कि यह बदलाव उसके अन्दर औरतों को इन उपवासों और तिरस्कारों में पीस देने वाली व्यवस्था के प्रति तीव्र उबाल भरता होगा। ‘जिजिया की उम्र के मध्यान्ह तक आते-आते उनसे जुड़े सारे भावनात्मक मामले यथार्थवादी होने लगे थे।’ (पृ. 65) लेकिन लोकाचार और सुनियोजित प्रपंच के तहत मारवाड़ी की रसोईदारिन बनकर न उसकी आँखों में आँसू दिखे, न किसी प्रकार की दया की भीख बल्कि उसे अपने जीने का तर्क मिल गया कि—‘जिसकी देखभाल करना हो, जीते जी करो, मरने के बाद शरीर को चील-कौवों के लिए छोड़ दो तो क्या फर्क पड़ता है?’ (पृ. 69) ‘क्या लिखोगी बच्ची!’—उन्मुखता में हँस रही जिजिया की गहरी रागात्मक संवेदना, लोकधुनों के संस्कार और चित्रात्मक भाषा के साथ न केवल सम्मोहित करते हैं, बल्कि पीढ़ियों से जूझती स्त्री संघर्षचेतना की विविधस्तरीयता को धंसकर पकड़ने और मुक्तिकामी चेतना को भाँपने की कोशिश भी करती है। यह अनायास नहीं है कि दूसरे से सातवें अध्याय तक जिजिया मौसी की छाया—प्रतिच्छाया हर जगह उपस्थित है।

‘जिन्दगी, एक बाँह, रंग हटा’ 14 फरवरी, 2008 और याद आ रहा है आजमगढ़ में रहने के वे दिन...सन् 1967 से आसपास का। ‘ननिहाल के कट्टर पौरौहित्य की भयानक शुद्धता

से निकली मेरी माँ की अन्य बहन थी जिनका छुआछूत का पाखण्ड हास्यास्पद की हद तक था।' (पृ. 73) परिवार के दायरे से बाहर निकलकर अपने आसपास के व्यापक समाज के अन्तर्जातीय सम्बन्धों की पड़ताल करते हुए—'बात हमारे मन के दबे हुए संस्कारों में फँसी सांप्रदायिकता की हो रही थी और मुझे अख्तर याद आए, रफीक याद आए और शमा बाजी याद आई। (पृ. 76) मौलवी साहब का घर, मीलाद के बाद चटाइयों पर ढेरों खुशबूदार खाना, कच्ची छत और इकलौती खिड़की वाली यह शमा बाजी की कोठरी। यहाँ चन्द्रकला जी ने शमा बाजी के प्रति अपने सम्मोहन को जिस खूबसूरती के साथ व्यक्त किया है, वह मानों कोई मार्मिक काव्यात्मक अंश हो। चन्द्रकला त्रिपाठी को नजदीक से जानने वाले जानते हैं कि स्वयं उनके चेहरे पर छाई हुई-सी मद्धिम राजदारी वाली मुस्कान की रोशनी, हल्की-सी हँसी फिर सहज स्वर 'कहिए'? यह आदर सूचकता का समूचा शिल्प उनका अपना भी तो है! सायास या आयास हो सकता है कि "मैंने अपने भी भीतर बाजी से बहुत खास और बहुत अतरंग हो जाने की तीव्र ललक महसूस की थी। (पृ. 80) स्मृतियों से अपने और अपने समय को पहचानने का मूल्यवान आधार तो बनता ही है। शमा बाजी में कुछ चुम्बकीय था? अन्यथा 'आजमगढ़ में हम केवल दो वर्ष रहे। बाजी और उनके परिवार ने मेरी दुनिया मेरा संसार कितना बड़ा किया, इसे क्या आज कहा जा सकता है—मौलवी साहब का परिवार सब, शराफत और करुणा की मिसाल था। आर्थिक जद्दोजहद बेहद थी मगर उसी में जीने की शान बनाए रखने की मासूम कोशिशें...। (पृ. 85) इस डायरी में कथा की सम्बद्धता या संगति या शिल्पगत कलात्मकता की कमी हो सकती है पर स्पष्टकथन वाली वैचारिक, आत्मीयता और निकटता जैसी विशेषताएँ इस परिपक्व और तटस्थ दृष्टि वाली वैचारिक यात्रा को जितना मार्मिक बनाते हैं, उतना ही बेधक भी। 'इस उस मोड़ पर' की इस स्मृति यात्रा को सच ही लेखिका ने 'उस अंत का मर्सिया...' के रूप में समेटने की कोशिश की है। यहाँ अलग-अलग तरह की कहानियाँ तो हैं लेकिन सबका दर्दनाक हृथ एक-सा है। लेखिका की टिप्पणी है, कहानी में, तहें हैं, तहखाने भी। सब कुछ उधेड़कर कहना मेरे लिए जैसे खुद को ही उधेड़ना है। शायद यह औरत की जिन्दगी की खासियत है कि चीजें बहुत पहले से उसके लिए सब कुछ तय करने में लग जाती हैं, या ये कहूँ कि उसके जन्म लेने से पहले उसका मरना तय कर दिया करती है। यह संयोग भर नहीं है कि इन मोड़ों पर मैं ऐसी तमाम मौतों का सामना कर रही हूँ। बेआवाज धूमिल और फिर मिट गए से ये अंत...। इस कृति में लेखिका सामाजिक-सांस्कृतिक, संरचनाओं-संस्थाओं तथा साहित्यिक-कलात्मक अभिव्यक्तियों के माध्यम से पुरुष-आधिपत्य को चुनौती देने से पूर्व उसके नए रूप की पहचान करती है और पुरुष वर्चस्व के चौखटे के दिक्-काल को समझने की कोशिश भी करती है। क्योंकि यदि विमर्श प्रारम्भ हो चुका है, कहीं विध्वंसक प्रतिक्रिया के रूप में तो कहीं अपेक्षतया अधिक सजग मीमांसा के रूप में लेकिन आखिर इस विमर्श में क्या ज्यादा है दर्द या कि अचरज! चन्द्रकला त्रिपाठी मात्र अनुभववाद और स्त्री-जीवन के नग्न-क्रूर यथार्थ के सपाट—एकायामी चित्रण से काम नहीं लेती हैं। वे इस विमर्श को 'डायलेक्टिक' भी बनाती है और 'डायडैक्टिक' भी।

इस उस मोड़ पर / चन्द्रकला त्रिपाठी / अंतिका प्रकाशन, शलीमार गार्डन एक्सटेंशन, गाजियाबाद-201005 / संस्करण-2010

गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद

जय कौशल

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर कृत 'गीतांजलि' एक ऐसी रचना है, जिसने विश्व-साहित्य में भारतीय मेधा को गौरवपूर्ण पहचान दी है। इस कृति की महत्ता का अंदाजा इस बात से ही लगाया जा सकता है कि जिस वर्ष इसे नोबेल पुरस्कार मिला, उस समय टैगोर के प्रतिस्पर्धियों में टामस हार्डी जैसे विश्वविख्यात साहित्यकार भी शामिल थे। 1913 में नोबेल प्राप्ति की घोषणा के साथ ही देशी-विदेशी विभिन्न भाषाओं में इस कृति के अनुवादों का सिलसिला शुरू हो गया था, जो आज भी बदस्तूर जारी है। फ्रांसीसी, जर्मन, इतालवी, डच, चेक, हंगरी, तुर्की, हिब्रू, अरबी, चीनी आदि सैकड़ों विदेशी भाषाओं से लेकर अधिकांश भारतीय भाषाओं में गीतांजलि का अनुवाद किया जा चुका है। हिन्दी में इसका पहला अनुवाद काशीनाथ द्वारा 1915 ईस्वी में किया गया था। अनुवाद की यह परम्परा डॉ. देवेन्द्र कुमार देवेश तक चली आई है। असल में, 'गीतांजलि' सिर्फ वैश्विक स्तर पर अनुवादों तक ही सीमित नहीं रही, विभिन्न भाषाओं में इस पर तुलनात्मक शोध का सिलसिला भी अनवरत चलता आया है। हिन्दी में यह परम्परा शशिप्रकाश चौधरी से शुरू होती है जिन्होंने सन् 1988 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में प्रो. नामवर सिंह के निर्देशन में 'गीतांजलि के हिन्दी अनुवादों का अध्ययन' शीर्षक से एम. फिल. उपाधि हेतु लघु शोध-प्रबंध लिखा था। शोधार्थी द्वारा इस प्रबंध में 'गीतांजलि' के केवल नौ अनुवादों को आधार बनाया गया था, जबकि उस समय तक इसके चौबीस हिन्दी अनुवाद प्रकाश में आ चुके थे। डॉ. देवेन्द्र कुमार देवेश द्वारा लिखित 'गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद' शीर्षक समीक्ष्य पुस्तक भी मूलतः उनका शोध ही है। जो 'गीतांजलि' के माध्यम से तुलनात्मक अनुवाद पद्धति पर भी अपना व्यवस्थित चिंतन प्रस्तुत करती है। इसमें 'गीतांजलि' के कुल अड़तीस अनुवादों को शामिल किया गया है। देवेश की इस पुस्तक में कुल आठ अध्याय हैं।

सम्पर्क : सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, सूर्यमणि नगर-799022 (त्रिपुरा), मोबाइल : 09612091397

जिनमें पहला है—‘गीतांजलि : अध्ययन की पृष्ठभूमि’। इसमें देवेश ने ‘गीतांजलि’ के गद्यात्मक, पद्यात्मक अनुवाद एवं लिप्यंतरों की एक लम्बी सूची दी है। साथ ही, ‘गीतांजलि’ पर अब तक हुए शोधकार्यों की उपलब्धियों एवं सीमाओं पर गौर करते हुए इसके मूल बांग्ला एवं नोबेल से पुरस्कृत अंग्रेजी अनुवाद के गीतों की विशेषताओं तथा उनकी संख्या का जिक्र भी किया है। यथा, बांग्ला में लिखित और 1910 में इंडियन पब्लिकेशन हाउस, कलकत्ता से प्रकाशित मूल ‘गीतांजलि’ में कुल 157 पद्यबद्ध गीत रचनाएँ हैं, जबकि अंग्रेजी ‘गीतांजलि’ (सांग ऑफ रिंग्स) में 103 गद्यात्मक गीत हैं। यह भी कि अंग्रेजी ‘गीतांजलि’ उनकी बांग्ला ‘गीतांजलि’ का अविकल अनुवाद नहीं है, बल्कि उसमें केवल 50 गीत ही बांग्ला ‘गीतांजलि’ से चुने गए हैं, बाकी 53 गीत कवि ने अपने दूसरे संकलनों और कुछ असंकलित गीतों से लिए हैं। ध्यातव्य है कि टैगोर ने अपने बांग्ला गीतों का अंग्रेजी अनुवाद स्वयं किया है। इस क्रम में उन्होंने मूल भाव की रक्षा तो की, पर अपने अनुवाद में काफी छूटें भी ली हैं, जिससे अंग्रेजी ‘गीतांजलि’ शब्द एवं संप्रेषण के स्तर पर एक नई रचना ही बन पड़ी है, इसीलिए अंग्रेजी ‘गीतांजलि’ की ख्याति अनूदित कृति के रूप में न होकर पूरी तरह मौलिक रचना के रूप में बन पड़ी है।

पुस्तक का दूसरा अध्याय ‘कविकृत बांग्ला और अंग्रेजी गीतांजलि’ शीर्षक से है। इसमें चार उप अध्याय हैं। पहले उप अध्याय में ‘गीतांजलि’ के अंग्रेजी अनुवाद सम्बन्धी कुछ विवादों का जिक्र करते हुए उनकी समीक्षा की गई है। सबसे पहला विवाद तो यही कि ‘गीतांजलि’ का अंग्रेजी अनुवाद स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा नहीं किया गया है, क्योंकि इससे पहले उन्होंने अंग्रेजी में कुछ नहीं लिखा था। अगर उन्होंने थोड़ा-बहुत अनुवाद किया भी तो उनके अंग्रेजीदां मित्रों द्वारा उन्हें समुचित नहीं माना गया। कुछ विद्वानों द्वारा यह प्रचारित गया कि इस रचना का अनुवाद प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक डब्ल्यू. बी. येट्स द्वारा किया गया है। चर्चित हिन्दी लेखक मुक्तिबोध भी इस विडंबना से नहीं बच पाए। उन्होंने अपनी प्रतिबंधित कृति ‘भारत : इतिहास और संस्कृति’ में लिखा था, ‘आयरलैण्ड के विश्वविख्यात कवि डब्ल्यू. बी. येट्स ने उनकी (रवीन्द्रनाथ की) ‘गीतांजलि’ का अंग्रेजी में अनुवाद किया।’ इनके अलावा अमृतलाल नागर, वेलेंटाइन चिरोल और त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी ने भी अपने लेखन में इस प्रचार को हवा दी थी। कुछ अन्य विद्वानों का मानना था कि ‘गीतांजलि’ का अनुवाद जरूर रवींद्र ने किया था, पर उसमें पुनर्लेखन की हद तक संशोधन येट्स द्वारा किया गया। तीसरा प्रचार यह किया गया कि टैगोर ने ‘गीतांजलि’ के अंग्रेजी अनुवाद में सी. एफ. एण्ड्रूज से काफी सहायता ली थी। देवेश ने भरपूर प्रमाणों के माध्यम से स्पष्ट किया है कि अंग्रेजी ‘गीतांजलि’ स्वयं विश्वकवि द्वारा रचित (अनूदित) सामग्री है। हाँ, उन्होंने येट्स के संशोधन और भूमिका लेखन को स्वीकार किया है। (स्वयं रवीन्द्र भी यही मानते थे) किन्तु, शब्द गिनकर यह भी बता दिया है कि मुश्किल से पैंतीस-चालीस ऐसे शब्द होंगे, जो येट्स ने संशोधित किए होंगे। येट्स के साथ एण्ड्रूज की सहायता सम्बन्धी विवाद को भी देवेश ने निर्मूल सिद्ध किया है। इसके लिए उन्होंने रवीन्द्रनाथ द्वारा अपनी भतीजी इंदिरा देवी चौधुरानी और भतीजे गगनेन्द्रनाथ ठाकुर के मित्र विलियम रोथेन्स्टाइन को लिखे पत्रों का यथास्थान हवाला दिया है।

गौरतलब है कि दुनिया में अपनी अनूदित कृति के आधार पर ख्याति पाने वाले कविगुरु स्वयं शुरू में नैतिक रूप से अनुवाद-कर्म को उचित नहीं मानते थे। हालाँकि उनकी रचनाओं के अनुवादकों की कमी नहीं थी। रवि दत्त और जगदीश चंद्र बसु से लेकर कई अन्य अंग्रेजीदां मित्र उनकी रचनाओं के अनुवाद करते थे, पर टैगोर उनके अनुवादों से संतुष्ट नहीं हो पाते थे। उन्होंने एक तरफ लिखा है, ‘आमि निजे अनुवाद करते साहस ओ उत्साह हारियेछि।’ तो

दूसरी ओर उनका कहना था, 'आमि देखिलाम निजे ना करिले, अनुवाद कोनोओ- मते सुविधा होय ना।' आखिर उन्होंने स्वयं अनुवाद-कार्य शुरू किए। टैगोर ने एक पत्र में लिखा है, 'मेरी यह अपेक्षा नहीं है कि मेरी कविताएँ अंग्रेजी में अनूदित हों, छंद में तो कतई नहीं। उनका अनुवाद संतुलित और यथायोग्य अनलंकृत गद्य में किया जा सकता है। यदि संभव हुआ तो इंग्लैण्ड पहुँचकर यह कार्य मैं स्वयं करने का प्रयत्न करूँगा।' लेखक ने टैगोर के अनुवाद सम्बन्धी विचारों पर विस्तृत रोशनी डालते हुए स्पष्ट किया है कि 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर अनुवाद को मूल रचना के प्रति अन्याय करार देते हैं, क्योंकि इससे रचना की आत्मा मर जाती है। तथापि एक भिन्न भाषा संसार को अपनी रचानाओं की मूल अभिव्यक्ति से सही-सही परिचित कराने के लिए वे अनुवाद करने-कराने का फैसला (भी) करते हैं।'

डॉ. देवेश ने अपनी पुस्तक में 'गीतांजलि' के अंग्रेजी एवं बांग्ला पाठों की गहरी तुलनात्मक पड़ताल की है। इस क्रम में उन्होंने बांग्ला और अंग्रेजी गीतों में प्रयुक्त शब्दों, पदबंधों, उनकी संरचना एवं व्याकरण का गहन विवेचन किया है। बांग्ला के गीत जहाँ लम्बे-लम्बे हैं। उनकी टेक भी विशिष्ट है। किन्तु टैगोर ने उनका अंग्रेजी उल्था करते समय कई पंक्तियाँ जान-बूझकर अनूदित नहीं कीं। कुछ शब्द भी छोड़ दिए हैं, कुछ नए गढ़ लिए तो कुछ संदर्भानुसार बदल दिए हैं। अनूदित रचनाओं की टेक भी मूल से भिन्न हो गई है। इसीलिए अंग्रेजी के गीत बांग्ला गीतों की तुलना में काफी छोटे, संक्षिप्त एवं मौलिक बन पड़े हैं। अपनी अनुवाद-प्रक्रिया पर विचार करते हुए टैगोर ने इस स्वतंत्रता को स्वीकार भी किया है। डॉ. देवेश उदाहरण देकर बताते हैं कि 'गीतांजलि' का अंग्रेजी अनुवाद करते समय टैगोर ने लक्षित पाठक-समुदाय का पूरा ध्यान रखा है। इसीलिए उन्होंने मास, ऋतु, मौसम, धर्म आदि से जुड़ी शब्दावली को अंग्रेजी में बदले हुए रूप में रखा है। जैसे फागुन के लिए April, श्रावण के लिए Summer, त्रिभुनेश्वर के लिए Lord of all heavens, शतदल के लिए Lotus, अमृत के लिए Divine drink आदि शब्दावलियों का प्रयोग किया है। हालाँकि इससे एकाध जगह विसंगतियाँ भी देखने में आई हैं।

तीसरा अध्याय 'गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद' शीर्षक से ही रखा गया है। इसमें 'गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद सम्बन्धी समस्याएँ' नामक उप-अध्याय काबिले-गौर है। इसमें लेखक ने बांग्ला और अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद के दौरान आने वाली विभिन्न कठिनाइयों का विवेचन किया है। यह विवेचन अनुवाद-कार्य में प्रवृत्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार 'गीतांजलि' के अनुवाद हेतु उत्सुक किसी भी अनुवादक के लिए पहली समस्या तो यही पेश आती है कि वह 'स्रोत पाठ' कौन-सा चुने? बांग्ला या हिन्दी! दूसरी समस्या 'लक्ष्य पाठ' को पद्य या गद्य में रखने की है। तीसरी समस्या 'गीतांजलि' में प्रस्तुत प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष के लिंग-निर्णय की है। डॉ. देवेश ने अपने शोध में रेखांकित किया है कि अनुवादकों ने प्रायः संबोधन कर्ता और संबोध्य दोनों को ही पुल्लिंग मानकर गीतों के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। जबकि बांग्ला और अंग्रेजी क्रियापदों या सर्वनामों से यह पता लगाना मुश्किल है कि वे स्त्री के लिए प्रयुक्त हुए हैं अथवा पुरुष के लिए। चूंकि 'गीतांजलि' के गीत आध्यात्मिक प्रकृति के हैं, जो आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धों का उद्घाटन करते हैं। हमारे यहाँ आमतौर पर परमात्मा को पुरुष और आत्मा को प्रकृति माना जाता है। इस अर्थ में जरूर अनुवादकों का परमात्मा को पुल्लिंग मानकर शब्द-प्रयोग करना उचित माना जा सकता है। लेकिन कई जगह संबोधन कर्ता के लिए भी पुल्लिंग का प्रयोग पाया गया है। जबकि स्वयं रवींद्र आत्मा को स्त्रीरूप मानते थे। हिन्दी में भूतकाल में प्रयुक्त होने वाली 'ने' विभक्ति भी अनुवाद के लिए

एक अलग समस्या है। बांग्ला भाषा के क्रियापद लिंग-निरपेक्ष होने के साथ-साथ वचन-निरपेक्ष भी होते हैं। देवेश के अनुसार बांग्ला से अनुवाद करने वाले किसी भी अनुवादक ने इस समस्या को गंभीरता से नहीं लिया है।

इस अध्याय में भिन्न-भिन्न अनुवादकों की रचनाओं को आमने-सामने रखकर सतर्क और सटीक विवेचन मिलता है। डॉ. देवेश ने अपने अध्ययन के लिए अनुवादों की अग्रलिखित कोटियाँ बनाई हैं : 1) देवनागरी लिप्यंतर, 2) गद्यानुवाद, 3) पद्यानुवाद, और 4) व्याख्यानवाद। प्रत्येक कोटि में शामिल अनुवादों की तुलनात्मक समीक्षा भी की गई है। अर्थात् कौन-सा अनुवाद किसने किया था, कहाँ से प्रकाशित हुआ, उसकी क्या-क्या विशेषताएँ हैं आदि प्रश्नों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत परिच्छेद में मौजूद है। जैसे इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से 1914 ईस्वी में 'गीतांजलि' का पहला देवनागरी लिप्यंतरण प्रकाशित हुआ था। 2010 ईस्वी में इसका दसवाँ तथा नवीनतम संशोधित देवनागरी लिप्यंतर 'गीतांजलि' की शतवार्षिकी के अवसर पर रणजीत साहा द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसके अगले वर्ष सन् 1915 में काशीनाथ जी ने इसका पहला गद्यानुवाद किया। जबकि हिन्दी में पहला छंदोबद्ध पद्यानुवाद द्विवेदी युग के गिरधर शर्मा 'नवरत्न' ने किया। देवेश ने इनकी अद्यतन विश्लेषणात्मक सूची अपनी पुस्तक में दी है। इस प्रबंध-कार्य में उन्होंने कितना परिश्रम किया है, यह समझने के लिए पुस्तक के चौथे और पाँचवें 'गीतांजलि के गद्यानुवादों की तुलना' और 'गीतांजलि के पद्यानुवादों की तुलना' शीर्षक अध्याय ही पर्याप्त हैं। लेखक ने स्रोत और लक्ष्य भाषाओं की प्रकृति को समझाते हुए प्रत्येक पंक्ति का विशद विवेचन किया है। यहाँ तक कि पुस्तक का परिशिष्ट भी बेहद उपयोगी बन पड़ा है। अंतिम परिच्छेद में 'गीतांजलि' के प्रमुख अनुवादकों का संक्षिप्त परिचय देकर उन्होंने अनुवाद-कर्म की शोभा बढ़ा दी है। इस शोधालोचना में उपलब्ध अनुवादों की मीमांसा के दौरान उनकी खूबियों, खामियों और चिंताओं का स्पष्ट उल्लेख तो हुआ ही है, भावी अनुवादकों की चुनौतियाँ भी खुलकर उजागर हुई हैं। वस्तुतः 'गीतांजलि' पर एक साथ इतनी सारी जानकारियाँ उपलब्ध कराने वाली यह अकेली पुस्तक है।

गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद / देवेन्द्र कुमार देवेश / विजया बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 / संस्करण-2011